पारिवारिक प्रबन्ध।

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०

प्रणीत।

प्रथम संस्करण।

श्रीकुमारदेव मुखोपाध्याय द्वारा प्रकाशित।

श्रीयुत गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,
बनारस सिटीमें मुद्रित।

१९१७

मूल्य १) एक रुपया।

पारिवारिक प्रबन्ध ।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ ॥ मनुसंहिता ॥

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०

प्रणीत ।

प्रथम संस्करण ।

श्रीकुमारदेव मुखोपाध्याय द्वारा प्रकाशित ।

1 99 87

मूल्य १) एक रुपया ।

विज्ञापन ।

निम्नलिखित पुस्तकें चूँचुड़ा बङ्गालके विश्वनाथ फण्ड कार्य्यालयमें अथवा असीधाम असीसंगम बनारस शहरमें श्रीकुमारदेव मुखोपाध्यायको लिखनेसे मिलती हैं ।

भूदेव ग्रन्थावली (बङ्गभाषामें तीन खण्डमें प्रकाशित) १०)
पारिवारिक प्रबन्ध (हिन्दी) ... ... १)
आचार प्रबन्ध (हिन्दी) ... ... १)
भूदेव चरितम् (संस्कृत) ... ... १॥)
सदालाप (तीन खण्ड बंगला) प्रतिखण्ड ॥।) ... २।)
नैपाली क्षत्रिय (बंगला) ... ... ॥।)
एकादशी तत्त्वम् १)

विषय-सूची ।

उत्सर्ग ।

मैं कौन हूं, और किस हेतु उत्पन्न हुआ ? जिस प्रकार वृक्षमें पत्ते होते हैं क्या वैसे ही मैं भी तो नहीं हुआ ? मेरा यह 'मैं' पदार्थ कुछ प्राकृतिक शक्तियोंका आवेश तो नहीं है ? तो मेरा रहना ही क्या, और न रहना ही क्या ?

मन कुछ चाहता है परन्तु पाता नहीं–क्या चाहता है यह भी नहीं जानता। जो लोग शैशवमें मुझे गोदमें लिये रहते और अपना कहते थे, उनमेंसे अनेक अब नहीं हैं और जो हैं वे भी न रहेंगे। पृथ्वी श्मशान भूमि है–यहां रहनेसे क्या प्रयोजन ?

मनका यह भाव था, ऐसे समय एक देवीमूर्त्ति मेरे सामने आई–मेरे दोनों नेत्रोंसे नेत्र मिलाये—मेरे हाथोंमें हाथ दिये–बोली 'मैं' तुम्हारी हूं।'

'मेरा' कोई है, तो 'मैं' एक व्यक्ति हूं ! मैं रहूंगा, कार्य करूंगा, बढ़ुंगा और बढ़ाऊंगा। इति स्थिति-विधायिनी।

अन्तर्दृष्टि अतीत कालकी ओर गई और फिर पृथ्वी श्मशानभूमिके समान नहीं जान पड़ी। वर्त्तमान काल देवीकी हास्य-प्रभासे रञ्जित होकर आशाके पटलपर चित्रित भविष्यत्कालके साथ मिल गया। धरातलपर एक रमणीय उद्यान प्रतिष्ठित देखा। यह उद्यान देवीकी क्रीड़ाभूमि है।–इति आश्रम विधायिनी।

क्रीड़ारस अनन्त धाराओंमें प्रवाहित होने लगा। समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड इस उद्यान–वाटिकामें प्रतिभात हो गया। आद्याशक्तिमें आकर्षणीका स्वरूप उपलब्ध हुआ। जड़ जगत्में चिन्मयता देख पड़ी।–इति लीलामयी।

मुखकी हँसी अब मुखमें नहीं समाती ! पद पद पर फूल खिल उठते हैं, प्रति दृष्टिपातपर चन्द्रमाकी किरणें बरस पड़ती हैं।—इति आनन्दमयी।

किसी वस्तुका अभाव नहीं–किसी विषयकी अस्थिरता नहीं। सब कुछ ठीक है। जिसपर दृष्टि पड़ती है वही उछलने लगता है। जिसमें हाथ लगता है वही शोभामय हो जाता है।–इति गृहलक्ष्मी।

देखते ही देखते एक एक करके कई शिशुमूर्त्तियां इस उद्यान वाटिकामें देख पड़ीं। उनके शरीरमें देवीके और अपने दोनोंके अवयव एकत्र सम्मिलित देखें। हृदय ममतासे भर गया। उन सभोंको नितान्त अपना समझा। और समझकर कृतार्थ हो गया।—इति वरप्रदायिनी।

वर पाकर बड़ा ही आनन्द और उत्साह हुआ ! जड़ जगत्को प्रत्यक्ष चिन्मय जगत् देखा । अपनी शक्तिको असीम समझा । बिना भयसे कांपे और बिना रागद्वेषके चित्तरूपी पर्वत इतना उन्नत हुआ मानों आकाश छूने लगा और श्रमशीलता, कार्यतत्परता व परिणामदर्शिता इस पर्वतके शिखरपर दृढ़ होकर जा बैठीं ।—इति सामर्थ्य-विधायिनी ।

ऐ ! यह क्या हुआ ? वह—वह सबसे प्रथम—वह साक्षात् देवतुल्य शक्तिसम्पन्न–कहां चला गया ?–अब यहां न रहूंगा । वृक्ष बाटिकासे बाहर निकलकर वह जहां गया है वहीं जाऊंगा ! बाहर निकलनेको था–इतनेमें हाथ पकड़ लिया–पास ही एक पेड़ था उसकी ओर उङ्गली दिखलाई । पेड़के नीचे बहुतसी कच्ची फलियां पड़ी थीं । नेत्रोंमें आँसू भरकर रूंधे कण्ठसे गद्गद होकर कहा—'जितनी बौर होती है उतने फल नहीं लगते ।' मैं समझ गया । रुक गया ।—इति प्रबोधदायिनी ।

यह क्या हो गया ?—वे कहां हैं ?—जिनको नितान्त अपना समझता था वे भी अब इतने आत्मीय प्रतीत नहीं होते । मानों सभी मुझसे दूर होते जाते हैं ! मैं फिर संसारमें 'अकेला' हो गया ! मेरे लिये पृथ्वी फिर 'श्मशान' बन गई ! ज्यों ही मनमें इस प्रकार सोचने लगा त्यों ही वहांसे अशरीरिणी वाणी निकली–"शोक न करो–अब तुम पहलेके समान 'अकेले' नहीं हो सकते, पृथ्वी अब पहलेकी भांति तुम्हारे लिये 'श्मशान' नहीं हो सकती ।—तुम्हारा हृदय शून्य नहीं है—तुमने जान लिया है कि पृथ्वी कर्म्मक्षेत्र है ।"–इति हृदया-धिष्ठात्री ।

क्या जगत् अब भी मेरा कर्म्मक्षेत्र है ? मैं क्यों और किसके लिये काम करूं ? मेरा हृदय एकदम टूट गया है, मुझमें साहस नहीं । उसी समय हृदयसे वाणी निकली—'जगत् श्मशान नहीं है, आवास-बाटिका भी नहीं है । इस बातकी शिक्षा तुम पा चुके हो कि यह कर्म्मक्षेत्र है । तुममें साहस नहीं तो साहस किसमें है ? यदि साहस नहीं है तो मरनेसे क्यों नहीं डरते ?'—इति यम-भयनिवारिणी ।

जो प्रकृतिशक्ति उल्लिखित दस प्रकारके रूपोंमें मुझे प्रत्यक्षगोचर हुई हैं उनके प्रति उत्सर्ग करके भक्ति और प्रीतिके साथ भारतीय स्त्री पुरुषोंके हाथोंमें यह पुस्तक समर्पण करता हूं । लेखक ।

—o—

सूचना।

आकाशमार्गपर सूर्य चलते हैं, तुम भी देखते हो—मैं भी देखता हूँ। परन्तु सूर्यकी जो विशेष किरण तुम्हारे नेत्रोंपर पड़कर जैसा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है वही किरण मेरे नेत्रोंपर पड़कर वैसा सूर्यदर्शन ज्ञान नहीं उत्पन्न करती। हम दोनों एक ही सूर्यके दो भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब देखते हैं। सबके लिये ऐसा ही है। तुम जो सूर्यको देखते हो तो अपने नेत्रोंकी ज्योतिसे देखते हो, दूसरेके नेत्रोंकी ज्योतिसे नहीं।

मनुष्यके सम्बन्धमें सत्यका ज्ञान भी ठीक इसी प्रकार है। जिस प्रकार सूर्य एक है उसी प्रकार सत्य भी एक है। परन्तु एक व्यक्ति सत्यका जैसा ज्ञान प्राप्त करता है अन्य व्यक्ति ठीक वैसा ही ज्ञान नहीं प्राप्त करता। जिस प्रकारके शरीर और प्रकृतिके साथ मैंने संसारमें जन्म पाया है और जो शिक्षा और साहस प्राप्त किया है वेही मेरे पक्षमें सत्यप्राप्तिके लिये ज्योतिके समान हैं। तुमने पिता मातासे जो देह और स्वभाव पाया है और जिस प्रकार प्रतिपालित और शिक्षित हुए हो वही तुम्हारे सत्यज्ञान पानेका उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिकी जानकारी भिन्न है, अतएव सत्यके पानेका पथ भी भिन्न है।

विभिन्न किरणोंसे उत्पन्न सूर्य्यका विभिन्न प्रतिबिम्ब जैसे साधारणतः एक प्रकारका होता—यहांतक एक, कि उसपर भिन्न भिन्न मनुष्योंका विचार कुछ भी भिन्न जान नहीं पड़ता वैसे ही किसी दो मनुष्यकी समझ चाहे एक प्रकारकी न भी हो तब भी यहांतक एक होती, कि प्रायः सब विषयोंमें ही परस्पर बातचीत और मनोगत भावका काम अनायास चलता है। हमारी समझ में जो सत्य माना गया है तुम्हारी समझ भी उसे ही सत्य समझती है, ऐसी समझ न होती, तो मनुष्य-समाजकी पुष्टि न होती—देशभाषा न होती—आपसमें बातचीत न होती—वादानुवाद न चलता—ग्रन्थ रचना भी न होती।

अपनी जातिकी पारिवारिक अवस्था और व्यवहारके विषयमें हमने जैसा देखा, समझा और किया है, दूसरे और किसी मनुष्यने ठीक वैसा ही न देखा, न समझा और न किया सही; किन्तु जो हमारे द्वारा देखा, समझा और किया गया है, वह दूसरेके देखने, समझने और करनेसे सम्पूर्ण ही भिन्न भी हो

नहीं सकता। ऐसा न समझनेसे हम इन कई एक प्रबन्धोंको लोगोंके आगे प्रचारित न करते ।

अपनी पारिवारिक अवस्था मुझे अच्छी लगी है। जिसलिये व जिस प्रकारसे अच्छी लगी है, उसे प्रकट करनेमें हम प्रवृत्त हुए हैं। यदि प्रबन्धोंमें भी चिन्ताकी बातें ठीक ठीक कही जा सकी होंगी, तो स्वजातीय दूसरे मनुष्यके चित्तमेंभी अपनी अपनी पारिवारिक अवस्था अच्छी जान पड़ेगी और उसके समझनेसे इस पराधीन, हीनबीर्य्य, अवज्ञात जातिके भीतर उन्हें जन्म लेना निरंतर बिड़म्बना जान न पड़ेगी । कारण, उपासना-प्रणाली कहो, धर्म्मप्रणाली कहो, सामाजिक प्रणाली कहो, या शासन प्रणाली ही कहो, एक परिवारिक अवस्था ही सबका निदानभूत है ।

हमलोगोंका पारिवारिक सुख अधिक है—यह कुछ सामान्य नहीं; यदि पारिवारिक सुख अधिक है, तो धर्म्म भी अधिक है और धर्म्मके अधिक होनेसे कभी न कभी अवश्य ही महिमा भी उत्पन्न हो सकती है ।

———

बाल्य-विवाह।

आजकल कितने ही लोग बाल्य-विवाह प्रथाकी निन्दा किया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि वास्तविक विचार पूर्वक न होनेसे बाल्य-विवाहमें कितने ही गुरुतर दोष उत्पन्न हो गये हैं। किन्तु बाल्य-विवाहमें जैसे दोष हैं, वैसे ही गुण भी हैं। जो बाल्य-विवाहकी प्रणालीमें केवल दोष ही देखते हैं, उसका गुण नहीं देखते, उन्हें अङ्गरेजोंका निरवच्छिन्न अनुचिकीर्षुकी गाली देनेमें कोई अन्याय नहीं।

हालमें एक सरलचेता बहुदर्शी अङ्गरेजके साथ बाल्य-विवाहके सम्बन्धमें हमसे बात चीत हुई थी। कुछ देर विचार कर उन्होंने कहा कि, बाल्य-विवाहकी प्रणालीमें जातिगत शान्ति और व्यक्तिगत सुखका आधिक्य तथा अधिक उमरके विवाह की प्रणाली में जातिगत उद्यम और व्यक्तिगत ओजस्विता का आधिक्य दिखाई देता है। यह कह कर उन्होंने फिर कुछ विचार कर कहा कि, दोनो ही प्रणाली में सामञ्जस्यके विधान का कोई पथ दिखाई नहीं देता। हमने कहा—जान पड़ता है कि, हमारे प्राचीन व्यवस्थापकोंने इसी सामञ्जस्यके विधान के उद्देश्यसे स्त्रीका बयस कम और पुरुषका वयस अधिक रखकर विवाह की प्रणाली का नियम संस्थापित किया था। उन लोगों ने कहा था कि तीस बर्षके वयसका पुरुष बारह बर्षकी मनोगत कन्यासे विवाह करें। अङ्गरेजने कहा कि इससे भी नहीं चलता। माताके कच्चे शरीरसे उत्पन्न सन्तान सुस्थ और सबल शरीर नहीं होती। हमने कहा कि आप लोगों की भाषामें पशु पालनके सम्बन्धमें जितनी पुस्तकें प्रचलित हैं उनमें नये और लोगोंके माननीय किसी ग्रन्थमें ऐसी कोई बात नहीं है—पिताके शरीरके यथायोग्य पूर्ण होने पर ही सन्तान सर्वाङ्गपूर्ण और सबलकाय हो सकती है। पशुजनन के लिये यही मत है। अङ्गरेजने कुछ विचार कर कहा कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि का परिपाक थोड़े वयसमें ही हो जाता है, सुतरां पुरुष का वयस अधिक और स्त्री का कम रहने पर ही विवाह करना उचित है इससे सभी कुछ ठीक दिखाई देता है, प्रणय, शान्ति और सुख अधिक होता है और उद्यम, ओजस्विताके उत्पन्न होने का भी अवसर रहता है और सन्तान भी दुर्बल नहीं होती। हमने कहा कि वर्तमान

अवस्थामें भी हिन्दू दम्पतीके पिता माता के कुछ परिणामदर्शी होने पर और उनके स्वयं कुछ तपस्यापरायण होने पर वे सब शुभ फल दिखाई दे सकते हैं।

साधारणतः विचार करनेसे भी अधिक वयसका विवाह अच्छा नहीं दिखता है। १६। २० वर्षकी जो युवती २४। २५ वर्षके किसी पुरुषको प्राप्त करके अपने मा, बाप, भाई, बहन प्रभृति बचपनके समस्त सहचरोंको परित्याग कर सकती है वह कैसी 'लज्जाभयविभूषणा है, इसका अनुभव भी किया जा नहीं सकता। बचपनसे मा बाप जिन दोनोंको मिला देते हैं, वह दोनों एकत्र रहते रहते धीरे धीरे दो नवीन लताओंकी तरह एक दूसरे-से मिलकर एक हो जाते हैं। उनमें जैसे चिरस्थायी प्रणयके उत्पन्न होने-की सम्भावना है, अधिक वयस के विवाहसे वैसा प्रणय कैसे उत्पन्न होगा? उस समय मन पक्का हो जाता है, अभ्यास स्थिर होता है और चरित्र निर्दिष्ट पथका अवलम्बन करता है; फिर क्या वह दोनों आपसमें मिल एकता-सम्पन्न हो सकते हैं? फलतः दम्पतीमें परस्पर प्रणयाधिक्य उत्पन्न करना ही यदि विवाहकी प्रणालीका मुख्यतम साक्षात् उद्देश्य माना जाता है, तो इस विषयमें कुछ भी संशय रह नहीं जाता, कि बाल्यविवाह वयोधिक-विवाहकी अपेक्षा अच्छा है। बचपनका प्रेम ही प्रेम है। मा बापके प्रति, भाई बहनके प्रति, खेलनेवालोंके साथ चित्तका जैसा कोमल भाव बचपनमें रहता है, वयस अधिक होनेपर जिनके साथ परिचय होता है, उनसे प्रायः ही मन वैसा नहीं लगता। बचपनके किसी मित्रके दोषको पकड़नेकी इच्छा नही होती। वह जो करते, वही अच्छा जान पडता; जो कहते हैं वही मधुर जान पडता है। उनमें किसीको भी देखने, याद करने या नाम सुननेसे मन सरल और आर्द्र हो जाता है। बचपनके समय दाम्पत्य प्रणयका बीज न बो जो लोग विलम्ब करते हैं, वह प्रणयपीयूषके सच्चे रसास्वादनसे बिलकुल ही वञ्चित रहते हैं।

एक बात यह भी है, कि वयस अधिक होने और बुद्धिके पकने पर एक दूसरेके स्वभाव और चरित्रको समझ युवक-युवती विवाहसूत्रमें सम्बद्ध हो सकते हैं; किन्तु यह बात केवल कहनेके लिये है। दूसरेके स्वभाव चरित्रकी परीक्षा करना कोई सहज काम नहीं। इस काममें बहुत ही सुविज्ञ बहुदर्शी मनुष्योंको भी पद पदपर भ्रम होता है। १६। २० वर्ष-

की स्त्री और २४।२५ वर्षके पुरुषकी तो बात ही नहीं। उस वयसमें इन्द्रिय-वृत्ति प्रबल, कल्पनाशक्ति तेजस्विनी और अनुराग एकबारगी ही उन्मुख होता है। परस्परके स्वभावकी परीक्षामें जिस विवेक और धैर्यका प्रयोजन है, वह उस समय प्रायः अकर्मण्य होता है। एक सुतीक्ष्ण कटाक्ष, थोड़ा मृदु मधुर हास्य, कुछ अङ्गकी बनावटका वैचित्र्य उस समय एकाएक मनोदुर्गपर अधिकार कर लेता है; स्वभाव, चरित्र, रुचिकी परीक्षाका अवसर नहीं मिलता। इसलिये अधिक वयसका विवाह साधारणतः चिरस्थायी सच्चे प्रेमका उत्पन्न करनेवाला हो नहीं सकता।

देखो, जिस देशमें अधिक वयसमें विवाह करनेका नियम है, उस देशमें ही विवाहके तोड़नेकी व्यवस्था भी प्रचलित है *। यदि अच्छी तरह स्वभाव आदिकी परीक्षा हो सकती तो ऐसा क्यों होता? फलतः अन्ध अनुराग प्रणोदित विवाहके बन्धनमें सच्चे प्रणयके उत्पन्न होनेकी सम्भावना कठिन है। इसलिये दूसरा कारण उत्पन्न होने पर उस बन्धनकी रक्षा और दृढ़ताका संपादन न करनेसे वह आप ही विच्छिन्न और स्खलित हो पड़ता है। अङ्गरेज लोग अधिक वयसमें विवाह करते हैं, उनके देशमें विवाह तोड़नेकी भी व्यवस्था है। आजकल यह व्यवस्था उन लोगोंकी इच्छाके अनुरूप सहज न होनेके कारण वह लोग बड़े ही दुःखी हैं। अमेरिकन लोगोंके देशमें भी अधिक वयसमें विवाह करनेका नियम है। आजकल कितने ही लोग उस देशमें विवाहकी प्रथाके उठा देनेका मत प्रचलित करते हैं। यदि उन सब देशोंमें विवाहका बन्धन सुखका बन्धन होता, तो उस बन्धनको तोड़नेके लिये इतना यत्न और इतना आग्रह क्यों होता? वस्तुतः जहां जितने अधिक वयसमें विवाह करनेकी प्रथा प्रचलित है, वहाँ ही इस प्रकारके कितने ही झमेले खड़े होते हैं। वह अधिक वयसमें विवाहके अवश्यम्भावी फल माने जाते हैं।

स्पेन, इटली, ग्रीस प्रभृति देशकी स्त्रियां भी तो लिखना पढ़ना सीखती हैं, किन्तु इङ्गलेण्ड और अमेरिकाकी तरह उन सब देशोंमें अबतक स्वेच्छा-विवाहकी प्रथा प्रचलित नहीं! हमारे विचारसे उन सब देशोंमें अपेक्षाकृत कम वयसमें विवाह होनेके कारण दम्पतीका परस्पर प्रेम अधिक है।

नोट—* कनेकटिकट प्रदेशमे प्रति दशमें एक और कालिफार्नियामें प्रति सैकड़े एक विवाह विच्छेद होता है।

किसी किसी अङ्गरेज पर्य्यटकने कहा है सही कि स्पेन, इटली प्रभृति जिन सब देशोंमें बाल्यविवाहकी प्रथा प्रचलित है, वहां कार्यतः विवाहका बन्धन बहुत ही शिथिल है। वे लोग कहते हैं, कि उन सब देशोंके स्त्री-पुरुष दोनो ही उच्छृङ्खल और भ्रष्टाचारी हैं। किन्तु वे सब पर्य्यटकगण साध्वी स्त्री जातिकी पवित्र आवास भूमि भारतवर्षके प्रति भी वैसा ही कटाक्ष किया करते हैं। सुतरां उन लोगोंको लघुप्रकृतिक समझ उनकी समस्त बातोंको अश्रद्धेय मानना ही ठीक है।

जिस देशमें अधिक वयसमें विवाह होता है, उस देशमें ही विवाह-बन्धन शिथिल और दम्पती का प्रेम अन्ध अनुरागमूलक होनेके कारण अचिर स्थायी होता है।

२ प्रबन्ध।

दाम्पत्य-प्रेम।

प्रेम कौनसा पदार्थ है? सर्व्वसाधारणकी सम्मतिसे इसका उत्तर बहुत ही कठिन है। प्रेमकी वर्णनामें कितने ही सङ्गीत, काव्य और कहानियां रची गई हैं, फिर वह सब रचनायें सर्व्वसाधारणकी बातचीतमें ऐसी मिल गई हैं, कि प्रायः प्रेमके सम्बन्धमें रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कार वर्ज्जित कोई बात ही सुनाई नहीं देती। 'जगदीश्वर प्रेममय हैं' 'प्रीतिपुष्प ही परमेश्वरका पवित्र उपहार है' 'प्रेम ही जीवनका जीवन और प्राणका प्राण है' 'प्रेमसुख ही स्वर्गसुख है'। 'जिनके शरीरमें प्रेम है, वह जीवन्मुक्त हैं'—जान पड़ता है, कि यह सब बातें पृथिवीके सब देशोंकी सब भाषाओंमें ही प्रचलित हैं। किन्तु विचार कर देखनेसे इन सब बातोंसे साधारण मनुष्य समाजके समझने योग्य किसी प्रकारका भावार्थ नहीं मिलता। 'जगदीश्वर' 'परमेस्वर' 'स्वर्ग' 'मुक्ति' यह सब शब्द अनादि और अनन्त पदार्थोंका लक्ष्य करते हैं। किन्तु मनुष्यकी सीमाबद्ध बुद्धिवृत्ति उन सब असीम पदार्थोंकी समानताके समझनेमें बिलकुल ही अशक्त है। सुतरां इन सब शब्दोंद्वारा प्रकृत प्रस्तावमें किसी पदार्थका सुपरिस्फुट बोध हो नहीं सकता। 'जीवनका जीवन', 'प्राणका प्राण' आदि शब्द भी उस दोषसे दूषित हैं। जीवन और प्राण क्या? हमलोग इसे ही नहीं समझते, तब जीवनका भी जीवन, प्राणका भी प्राण क्या है, वह कैसे समझमें आसकेगा?

अतएव साधारणतः प्रणय शब्दके समझनेकी चेष्टा न कर हमलोग जिस गाढ़े प्रेमको अपनी अपनी आंखों देखते हैं, उसकी ही प्रकृति की आलोचना करनी चाहिये। दाम्पत्य-प्रेम ही संसारी जीवोंके लिये सब प्रेमोंकी अपेक्षा अधिक गहरा है। शास्त्रकार, कवि और उपन्यास रचयिताओंने पवित्र दाम्पत्य-प्रेमको ही प्रेमका सर्व्वोत्कृष्ट आदर्श ठहराया है। परम भागवतगणका ऐसा अभिमत है, कि जीवात्मा और परमात्माका ऐसा कोई सम्बन्ध होनेसे उससे मुक्तिफल मिलता है।

दाम्पत्य-प्रेमका सबसे प्रधान लक्षण दम्पतीके आपसके मनोभावका आकर्षण है। उसी आकर्षणका एक हेतु शरीरी जीवोंका शरीरधर्मविशेष है। यह

आप ही होने वाली वस्तु है—मौलिक पदार्थ है—इसकी अपेक्षा और भी सूक्ष्मतर कोई मूल पाया नहीं जाता।

आकर्षणका दूसरा कारण सौन्दर्य्यका बोध है। पति, पत्नीको और पत्नी पतिको सुन्दर देखें—अन्यान्य सब पुरुषोंकी अपेक्षा और अन्यान्य सब स्त्रियोंकी अपेक्षा सुन्दर देखें; प्रेमका यह उपादान पूर्ण स्वतःसिद्ध मौलिक पदार्थ जान नहीं पड़ता। देखो, पृथिवीके सब देशोंके, सब लोगोंके सौन्दर्य्यका बोध समान नहीं होता। सबका समान होना तो दूरकी बात; जान पड़ता है, कि दो मनुष्योंका सौन्दर्य्य बोध सब प्रकारसे एक नहीं होता। यदि सब स्त्री और सब पुरुष चित्र विद्यामें पारग होते, और सभी अपनी इच्छाके अनुरूप सुन्दर मूर्त्ति खींच कर दिखा सकते, तो कोई दो चित्र ठीक एक ही प्रकारका न होता। सौन्दर्यके बोधके भीतर स्नेह, भक्ति, कृतज्ञता आदि मनोभाव गूढ़ रूपसे भरे हुए हैं। सुतरां सौन्दर्य्यके समझनेकी शक्ति प्राणिमात्रके लिये स्वभावसिद्ध होने पर भी वह शक्ति विभिन्न मनुष्योंमें पृथक् जान पड़ती। समझ लो कि तुम्हारा पाँच वर्षका वयस था, जब तुम्हारी माताने कभी यह कहा था कि किसी पड़ोसन कन्याके साथ वह तुम्हारा विवाह कर देंगी। वह कामिनी तुम्हारी बाल्यक्रीड़ाकी सहचरी थी। तुम दोनों वर-कन्या बन खेला करते थे। तुम उसे चाहते थे। विचार कर देखो, कि उसका वह मुँह, वह आंखें, आज भी तुम्हारे हृदयमें सुन्दर मुख और सुन्दर आंखोंके लिये आदर्श बनी हुई हैं। स्पष्ट यह है कि अवस्था, शिक्षा, संसर्ग आदि के कारण भिन्न भिन्न मनुष्योंके मनमें सौन्दर्य्यका भिन्न भिन्न आदर्श होता है। इस बात की भी एक मूल बात है, कि जगत्में कुछ भी असुन्दर नहीं है। नारायण विश्वव्यापी और लक्ष्मी शोभा-देवी—उनके वक्षःस्थल पर विराजिता हैं। देखनेवालेके अवस्थानके भेदसे शोभादेवीका कोई अङ्ग किसीकी आंखोंको आकर्षित करता और किसीकी आंखोंको आकर्षित नहीं भी करता। कोई उनके सुप्रसन्न कपोल, कोई उनके आनन्दोद्दीपक आयत लोचन, कोई उनके सुगोल दोनों हाथ, कोई उनके चरण पद्मका दर्शन पाकर ही विमुग्ध हो रहे हैं। असुन्दर पदार्थको कोई नहीं चाहता। किन्तु सम्पूर्ण सौन्दर्य्यकी उपलब्धि भी किसीके भाग्यमें नहीं होती है। पूर्ण ज्ञानानन्द और पूर्ण शोभा अभिन्न पदार्थ हैं।

स्त्री पुरुषोंके परस्पर आकर्षणका तीसरा कारण परस्परके गुणकी उपलब्धि है। सौन्दर्य्यके सम्बन्धमें जो कहा गया है, गुणके सम्बन्धमें भी वही सब

बातें ठीक हैं। पृथिवीमें बिलकुल ही गुणहीन कोई नहीं है। तब भी तुम्हारे लिये जो प्रयोजनीय है, उस प्रयोजनको जो पूरा कर सकते हैं,—वही तुम्हारे लिये गुणशाली हैं। तुम उनके गुणको ही देखते हो, उसी गुणके वशीभूत हो। वस्तुतः गुणकी उपलब्धि सौन्दर्य्यकी उपलब्धिकी तरह मनुष्यकी अवस्थाके भेदसे भिन्न होती है और जो अवस्थाके भेदसे भिन्न होता, वह अवश्य ही शिक्षाके सापेक्ष है, सुतरां मनुष्यके यत्नसे मिलता है। यदि ऐसा है, तो दम्पतीके परस्पर प्रणयाकर्षणके तीन हेतुओंका हम इच्छानुरूप प्रयोग कर सकते हैं। हम लोग एक कुमार और एक कुमारीको इस प्रकार रख सकते हैं, जिससे प्रथमतः वह दोनों यथा समय स्वतःसिद्ध शारीर-धर्म्मके प्रभावसे एक दूसरेसे आकृष्ट होगा; द्वितीयतः वह दोनों एक दूसरेके सौन्दर्य्यकी उपलब्धि करेंगे और तृतीयतः वह दोनों एक दूसरेके गुणके उत्कर्षका अनुभव करेंगे।

हम लोगोंमें जो बाल्यविवाह प्रचलित हुआ है, उसमें ही दाम्पत्य-प्रेमके सञ्चारित और सम्बर्द्धित करनेका उपाय हम लोगोंके हाथ है। मा-बाप और सास-ससुर यदि बहुत ही नीचाशय, निर्बोध अथवा दुष्ट प्रकृतिके न हों, तो अनायास ही वह लोग दुज दुजबधू, कन्या दामादमें प्रेमके सञ्चारकी बहुत ही अच्छी व्यवस्था कर सकते हैं। सास-ससुर दामादके प्रति अनुरागबद्ध हो उसके रूप गुणादिकी प्रशंसा करें; मा बाप दुजबधूके प्रति सच्चा स्नेह रख उसके रूप गुणकी व्याख्या करें। अच्छा देखनेकी इच्छासे ही अच्छा दिखाई देता है। इस प्रकार दामाद कन्या और दुज-दुजबधूके मनको परस्पर के रूप गुण देखनेके लिये उन्मुख कर देना चाहिये। उन्मुख होनेसे ही वह देख सकेंगे और देखनेसे ही दोनो आकृष्ट प्रेमरससे अभिषिक्त और सौन्दर्य्यके बन्धनसे बँध जायेंगे। इसलिये हम लोगोंके देशमें दाम्पत्यप्रेम दुष्प्राप्य वन-फल नहीं है। यह बाल्यविवाहके क्षेत्रमें यथोचित कर्षण और सेचनका फल है। इसलिये ही यह इतना सरस और सुमिष्ट है।

'प्रणय हमारा अनायत्त मनोभाव है, यह एकाएक बलपूर्वक आकर्षण कर मनोभाण्डारको लूट लेता है,—'प्रेम स्वाधीनभाव है' इसे कोई इच्छाके वशीभूत कर नहीं सकता,—इन सब बातोंसे कितनी ही उच्छृङ्खलता और अनिष्टाचारकी सृष्टि हुई है, उसका कहना कठिन है। इन सब उपदेशोंके प्रभावसे कितने ही सुखके घर उजड़े, कितनी ही पवित्र आत्मायें कलङ्कित हुईं और

कितनो हीकी सुन्दर बुद्धि विकृत हो गई है! यह सब मत कितने ही दुःख और दुश्चरित्रताका हेतुभूत है।

हमारे विचारसे प्रेम स्त्री-पुरुषोंका शिरोभूषण मुकुट स्वरूप है। वह राह-घाट या जहां-तहां पड़ा हुआ नहीं मिलता। उसे बहुत ही यत्नसे गढ़ कर तय्यार करना पड़ता है। प्रेम खिला हुआ हृदय-कमल है। वह एक बारगी ही खिल नहीं उठता। बहुत ही धीरे धीरे बढ़ता है—पहले नाल, फिर वृन्त, इसके बाद कलीके रूपमें अवस्थित होता है। अन्तमें वायु, जल और तापके संयोगसे धीरे धीरे खिलता है। प्रेमपदार्थ अभीष्ट देवता है। गुरुके मन्त्र देते ही सिद्धि नहीं मिल जाती। जप, तप, ध्यान धारणादि करते-करते क्रमसे मन्त्रमें चैतन्यता और तपकी सिद्धि होती है।

हम लोगोंके लिये सच्चे दाम्पत्य-प्रेमके पानेकी जितनी सुविधा है, उतनी और किसी जातिमें नहीं है। जो लोग भारतभूमिमें जन्म ले इस सुखमय, धर्म्ममय, आनन्दमय, दाम्पत्य-प्रेमके पानेके अधिकारी होकर भी मायाविनी, अनुचिकीर्षा द्वारा छले जाते हैं उनके लिये कैसी विड़म्बना है!

---

३ प्रबन्ध ।

विवाह संस्कार।

हमारे देशमें बिना विवाहके कोई नहीं रहता, उससे देशका जैसा अनिष्ट होता है उसके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना उचित नहीं है। विवाह-संस्कार कैसा संस्कार है अर्थात् कैसे पवित्रता सम्पादक हुआ, उसे ही कुछ झलका देनेकी हमारी इच्छा है।

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। समस्त ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थल अहं बिन्दु है। अपनी आँख खोलनेसे ही सृष्टि और बन्द करनेसे ही प्रलय है। अपना सुख दुःख मनुष्यके मनमें जैसे दृढ़रूपसे बैठता है, दूसरेका सुख दुःख वैसा नहीं जान पड़ता। किसी आत्मीय मनुष्यकी मर्म्मान्तिक यातना देखते हृदय विदीर्ण हो जाता है सही, जगत् शून्यमय दिखाई देता है सही, किन्तु अपनी कानी उँगलीके अगले भागमें दीपशिखा जैसी जलन होनेसे उस समय जैसी ज्वाला जान पड़ती है और उससे जैसा ताप पहुँचता है, या उद्विग्न होना पड़ता है दूसरेके दुःखसे वैसी ज्वाला या वैसा उद्वेग जान नहीं पड़ता। हमने देखा है, कि एक मनुष्य अपने मित्रकी पीड़ाका समाचार पाकर उन्हें देखनेके लिये रेलगाड़ीसे आ रहे थे। आनेके समय उनकी आँखमें कोयलेकी एक किर-किरी पड़ गई। उन्होंने आकर देखा कि उनके मित्रकी मृत्यु हुई है। किन्तु वह अपनी आँखके धोनेमें ही व्यग्र रहे। उस समय मित्रके वियोगकी यातना उन्हें वैसी जान नहीं पड़ी। उनकी आंखोंसे जो आँसू गिरे, उसका कारण बन्धु-वियोग नहीं, कोयलेकी किरकिरी था।

हम यहाँ पौराणिक अथवा ऐतिहासिक बीर पुरुषोंकी बात कह नहीं रहे हैं। जो अपनी इच्छासे जलती हुई आगमें हाथ डाल देते, अथवा अपने सौन्दर्य्यका नमूना दिखानेके लिये अपने हाथ काटे, अपने हाथको भेज देते, या दाँतसे जीभ काट डालते अथवा हँसते हुए अपने शरीरके दो टुकड़े कर देते हैं, उन सब नररूपधारी देवताओंकी बात अलग है। सदा जो स्त्रियाँ और पुरुषगण दिखाई देते हैं, उनका शारीरिक सामान्य क्लेश मानसिक विपुल यन्त्रणासे भी गुरुतर जान पड़ता है। सचमें सर्व्वसाधारणमें स्वार्थपरता ही सबसे अधिक प्रबल है। वह प्राबल्य उचित है या अनुचित, उससे जगत्के अपकारकी अपेक्षा उपकार अधिक होता है या नहीं, उसका विचार करना निष्प्रयोजन है।

किन्तु स्वार्थपरता चाहे कितनी ही बलवती क्यों न हो, कोई मनुष्य पूरी तरहसे उसके वशमें होनेकी इच्छा नहीं करता। वास्तवमें सभी लोग स्वार्थपरताको कष्टकर समझते हैं। लोकसमाजमें जो सब प्रशंसायें फैली हुई हैं, उनमें दो एकका स्मरण कर लेनेसे ही इस विषयमें मनुष्यकी जैसी गति होती है, वह बहुत कुछ समझमें आ जाती है। 'वह आप भोजन न कर दूसरोंको कराता है, वह अपनी ओर नहीं देखता केवल परायेकी हितकी चिन्ता करता है'—इन सब बातोंसे ही जान पड़ता है, कि स्वार्थशून्यता बहुत ही प्रशंसनीय है। किन्तु दूसरी ओर दिखाई देता है, कि स्वार्थपरता बहुत ही प्रबल है।

मनुष्यमें जब ऐसा स्वार्थी भाव विराजमान है, तब मनुष्यका स्वयं सुखी और सन्तुष्ट होना कितना कठिन काम है, उसे वह स्वयं ही समझ सकता है। वह असाध्य ही जान पड़ता है। प्रबल स्वार्थपरता सदा अपनी ओर खींचती है, फिर उस आकर्षणके वशीभूत होनेसे ही आत्मग्लानि आकर लाञ्छित करती है। दोनों ही ओर संकट है।

विवाह-प्रणाली सबसे सहज उपाय द्वारा मनुष्यको उस विषय सङ्कटसे पार उतार देती है। स्त्री पुरुष दोनों ही प्रेममें बंध जानेपर एक दूसरेको सन्तुष्ट करनेके लिये बहुत ही उत्सुक होते हैं और उस उत्सुकताको काममें लानेके लिये वह लोग जिन जिन कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, उनसे ही अपनी स्वार्थ सिद्धि हो जाती है। अच्छी तरह खाने पीनेकी सबकी ही इच्छा है सही, किन्तु केवल अपने सुखके लिये उस इच्छाको पूरी करनेसे उसे 'सूअरका पेट भरना' कहते हैं। किन्तु तुम अच्छी तरह खाते हो, यह देखकर और एक आदमीकी आत्मा सन्तुष्ट होगी, ऐसे खानेको 'सूअरका पेट भरना' नहीं–देव-सेवा कहते हैं। इस नश्वर क्षणभरमें विनाश होनेवाली देहके शृङ्गारमें समय बितानेमें किस सहृदय मनुष्यको लज्जा जान नहीं पड़ती? किन्तु तुम प्रियतमके आनन्दको बढ़ानेके लिये अपनी देहका यत्न कर रहे हो, ऐसा विचार आनेसे फिर लज्जा जान न पड़ेगी। इससे यही जान पड़ता है, कि इस देहका जो सौन्दर्य्य है, उसकी अपेक्षा कोटि गुण अधिक न होनेसे उन जीवितेश्वरके चरण कमल युगलमें समर्पण करनेके योग्य न होगा। चटक मटकदार बाबू बननेमें किस गम्भीर प्रकृति मनुष्यका मन लगेगा? किन्तु मेरा हृदय उस आनंदमयीके विहारकी भूमि है, यह शरीर उसका ही पीठस्थल है, ऐसी याद आनेसे फिर अपरिच्छन्न या अशुचि रहनेका ठिकाना नहीं रहता। धनके व्यय में

जितना सुख है धनके रखनेमें उतना सुख नहीं है। व्यय करना आरम्भ करनेसे ही दूसरेका दुःखमोचन दिखाई देता है, लोग यश फैलाने लगते हैं, धर्म्म-कार्य्य करनेके कारण आत्मप्रसाद का लाभ होता है। धन रखनेसे मांगनेवाले-की प्रार्थना हटानी पड़ती है, लोग कन्जूसके नामसे निन्दा करते हैं और दान-धर्मके अनुयायी काम न करनेके कारण मनमें ग्लानि उत्पन्न होती है। किन्तु पुत्रकलत्र परिवारवाले मनुष्य इस भयसे व्ययमें सङ्कोच करते हैं, कि कहीं उनके बच्चोंको कष्ट न हो, तब भी वह आत्मग्लानिके भाजन नहीं बनते।

आप खायेंगे और सुख दूसरेको होगा; आप पहनेंगे और तुष्टि दूसरेको होगी; आप धन जमा करेंगे और दूसरेका भावी हितसाधन भी होगा; यह सब भाव विवाह-प्रणालीसे बहुत ही सहजमें और साधारणतः उत्पन्न हुआ करता है। स्वार्थ और परार्थको मिला देना विवाह-संस्कारका ही काम है। विवाह द्वारा ही स्वार्थकी बुद्धि संशोधित हो परार्थके साथ एक हो जाती है—इसलिये ही विवाह बहुत ही प्रधान संस्कार है।

---

४ प्रबन्ध।

स्त्री-शिक्षा।

इस प्रबन्धके शीर्षस्थानमें 'स्त्री-शिक्षा' शब्द रहनेके कारण लोग समझ सकते हैं, कि कदाचित् हम बालिका-विद्यालयके समर्थनमें कोई बात कहेंगे। किन्तु वास्तविक हमारा वह अभिप्राय नहीं है। लोग अपनी परिणीता भार्याको कैसी शिक्षा देनेकी चेष्टा करें, उसी सम्बन्धमें हम कई एक बातें कहेंगे।

हमारे मतसे पौराणिक दो उपमाओंका तात्पर्य्य स्त्रियोंकी प्रथम शिक्षाका विषय है। प्रजापति दक्षराजकी कन्या सती और गिरिराज हिमालयकी कन्या उमा, भिखारी महादेव द्वारा परिणीता हो पिताके ऐश्वर्य-सम्पद्के रहते भी स्वयं भिखारिणी बनी थीं। दूसरी ओर दानवनन्दिनी पौलोमी देवराज इन्द्रकी गृहिणी बन जिस समय सातों स्वर्गकी अर्धाश्वरी बनी थीं, उसी समय उनके माता-पिता, भाई-बहन सभी रसातलमें भी निर्व्विघ्न रह नहीं सके। इन दो उपमाओंसे स्त्रियोंको यही सीखना चाहिये, कि मा, बाप, बहन, इनका सम्पद् या असम्पद् उन्हें स्पर्श न करे। स्वामीका सम्पद् ही उनका सम्पद् है, स्वामीका असम्पद् ही उनका असम्पद् है। अतएव बापका घर कुछ नहीं—ससुरका घर ही घर है।

विशेष मन लगाकर यह शिक्षायें देनी चाहियें। स्त्रियोंको उनके बापके घरकी अपेक्षा अधिक सम्मानसे रखना चाहिये। विलक्षण समादर और यत्न करना चाहिये। उनके प्रति यथोचित गौरव दिखाना चाहिये। विशेषतः, दूसरे के आगे उनकी त्रुटिकी कोई बात कहनी न चाहिये। कोई त्रुटि देख बहुत ही मीठी बातोंसे उन्हें समझा देना चाहिये। बापके घर यत्न और समादरका मिलना सहज है, किन्तु वहां सम्मान पाना सहज नहीं है। अतएव यत्न और समादरके साथ सम्मान और गौरव प्रदान करना ही नई बहूका ससुरके घर मन लगानेका सबसे अच्छा उपाय है।

स्त्रीकी दूसरी शिक्षा भी शास्त्रमूलक है। मनोभूमिके जलनेपर उसमें धर्म्माङ्कुर उग नहीं सकता। धर्म्मकार्य्य पवित्र प्रीति बीजका ही शुभमय अङ्कुर है। इसीलिये स्त्री स्वामीके किये धर्म्मकार्य्यके आधे फलकी भागिनी होती है—इसीसे शास्त्रकी यह विधि है, 'सस्त्रीको धर्म्ममाचरेत्'। अतएव सचमुच ही स्त्रीको अपने कामकी फलभागिनी बनानेकी चेष्टा करो। उससे मन खोल परा-

मर्श लेना आरम्भ करो। यौवनावस्थामें तो मनही मन नाना प्रकारके बड़े बड़े कर्मोंकी कल्पना किया करते हो। स्त्रीसे भी उन सब विषयोंकी बातें कहो। वह अशिक्षिता बालिका है—वह उन सब बातों का कुछ भी समझ न सकेगी, ऐसा कभी भूलसे भी न समझना। जो मनमें आवे, वही कहो, जितने ताने मारना चाहो, मारो। ग्रीस, रोम, इङ्गलेण्ड, अमरिकाका इतिहास पढ़ तुमने जितनी वीरता और उदारताका उदाहरण संग्रह किया है, वह सभी कहो; देखोगे, कि वह अशिक्षिता बालिका तुम्हारे सब विवरणोंका मर्म्म ग्रहण करनेमें समर्थ होगी। वीरोंके काममें भी दो, एक भूल दिखा देगी। फिर तुम्हारा मन क्या चाहता है, किस ओर तुम्हारा विशेष अनुराग है, उसे भी निश्चय समझ वह अपने मनको तुम्हारे मनके अनुरूप बनानेकी चेष्टा करेगी। ऐसा होनेसे स्त्री तुम्हारे लिखने, पढ़ने वा कामकाजमें व्याघात न पहुंचावेगी। वरञ्च तुम्हारे मनके अनुसार अनुष्ठानकी उत्तेजिका और सहायिका बन सच्ची सहधर्मिणीके पदपर बैठेगी।

किन्तु उल्लिखित दोनों शिक्षायें केवल प्राथमिक शिक्षा है। महागुरु स्वामी स्त्री को जो उपदेश दे, वह उसका मूल मंत्र नहीं। मूल मंत्र यह है, कि लड़के, लड़की, बहू, दामाद, मकान, बाग, धन, जब सभी तुम्हारा है—मैं भी तुम्हारा हूँ—वह सब तुम्हारा होकर ही मेरा है। प्राथमिक शिक्षाके साथ इस शिक्षाका बहुत मेल है। तब भी इस मन्त्रका अभ्यास करानेके लिये बहुत यत्न करना पड़ता है। यह केवल बार बार बातों की आवृत्ति करनेसे ही नहीं होता भूल होनेसे ही सुधार करना पड़ता है। विशेष विशेष अनुष्ठानों द्वारा भी इस मन्त्रमें चैतन्यता कर लेनी पड़ती है, किन्तु मन्त्रके एक बार हृदयमें जम जानेपर हृदयपद्म उसी समय खिल आता है—उस कमलमें एक देवमूर्ति प्रतिष्ठित हो जाती है और शिष्य उसी देवता की ध्यान पूजा में मन लगा तपकी सिद्धि चाहता है। शिष्य, गुरु और देवता की यथार्थ अभिन्नता देख सकता है।

किन्तु हम फिर कहते हैं, कि यह मन्त्र सामान्य नहीं है। यह पौराणिक अथवा वैदिक मन्त्र नहीं—यह सजीव तान्त्रिक दीक्षाका मन्त्र है। "मैं तुम्हारा हूँ, वह सब तुम्हारा होनेके कारण ही मेरा है'" जो यह मन्त्र दें, उन्हें स्वयं सिद्ध होना चाहिये। उन्हें सचमुच ही इस मन्त्रका उच्चारण करना पड़ेगा। अनृतवादी, शठतासम्पन्न गुरुका मन्त्र और मन्त्र है। उसके द्वारा दीक्षाका फल नहीं होता। इसीसे कर्त्ता भजा सम्प्रदाय कहते हैं, कि मनुष्य

धरनेके लिये मरना पड़ता है। यदि तुम किसीको पकड़ना चाहो, अर्थात् अपना बनाना चाहो, तो पहले आप ही मरो, अर्थात्, आप ही अपने में न रहो, एक बार ही उसके हो जाओ।

---

५ प्रबन्ध ।

सतीका धर्म्म ।

"कविगण कल्पनाशक्तिके प्रभावसे नई घटना, नये पदार्थ और नये पात्रकी सृष्टि किया करते हैं। कविकल्पित ऐसे अनेक काम, विषय और व्यक्ति हैं, जो विधाताकी सृष्टिमें कहीं नहीं हैं।" यह सब बहुत ही मोटी बातें हैं। जिन्होंने कुछ मन लगाकर कविगणकी सृष्टिकी आलोचना की है, वह यही कहेंगे, कि काव्यमें सचमुच कोई नई सृष्टि नहीं है। विधाताकी सृष्टिमें जो है, उसका ही संयोग-वियोग कर समस्त काव्य संसारमें रचे गये हैं। पक्षिराज घोड़ा कविकी सृष्टि है, ब्रह्माकी सृष्टि नहीं। किन्तु क्या वह नवीन पदार्थ है? विधाताके बनाये घोड़ेके शरीरमें विधाताके बनाये पक्षीका पर लगा कवि ने पक्षिराज घोड़ा बना दिया। ऐसा ही सर्व्वत्र है। प्रत्यक्षकी कन्या स्मृति और स्मृति ही कल्पनाका एकमात्र उपजीव्य है। अतएव कविकी कल्पना कभी मूलशून्य अलीक हो नहीं सकती। उसमें सच्ची वस्तुओंका ही बीज डाला गया है। अर्थात् काव्यशास्त्र, परम्परा सम्बन्धसे प्रकृत इतिवृत्त-मूलक ही होता है और इसीसे किसी काव्यके पढ़नेसे—जिस समय और जिस देशमें वह काव्य रचा गया है, उस समय और उस देशकी प्रकृति समझमें आती है।

हमारे देशके सभी समयके काव्योंमें साध्वीके चरित्रकी पूर्णावस्था वर्णित है। सावित्री, सती, सीता, दमयन्ती प्रभृति जैसी बालिकायें संस्कृत काव्यमें पाई जाती हैं, भूमण्डलके और किसी देशके काव्यमें वैसी स्त्रियोंका उल्लेख दिखाई नहीं देता। राजस्थानकी वीरपत्नी और वीरमाताओंके सतीत्वका गीत अन्यान्य देशोंके लिये बहुत ही अद्भुत है। बङ्गदेशके काव्यमें वर्णित रम्भा, खुल्लना, बहुला प्रभृति कामिनियां सतीधर्म्मके लिये आदर्श हैं। इस देशके ऐसे काव्यको देख क्या समझना चाहिये? अवश्य यही

समझना चाहिये, कि यह देश पृथिवीके अन्यान्य सब देशोंकी अपेक्षा सतीकुल-की पवित्र निवास भूमि है। प्राचीन देशाचार भी उसका एक प्रमाण दे रहा है। अन्य किसी देशकी स्त्रियां क्या कभी पतिका अनुसरण करती हैं? अनु-सरण करना तो दूर रहा, क्या कभी अनुसरण करने की बात भी मनमें विचार सकी हैं? किसी अङ्गरेजने एक सहमरणको अपनी आँखों देख कहा था,—"परलोकका विश्वास इन हिन्दुओंमें ही है, हम लोगोंमें नहीं।"

हमने सतीधर्म्मके निरूपण करनेका विचार कर यही सिद्धान्त किया है कि, अनन्यदेशसाधारण 'पति-प्राण' शब्दमें ही साध्वीका प्रकृत लक्षण मिलता है। इस शब्दके अर्थमें ही सतीधर्म्मका मूल संस्थापित है। सतीके चित्तमें यह शङ्का सदा विराजती है, कि उनके जानेके बाद मुझे जीवित रहना पड़ेगा'। ऐसी ही भयव्याकुला किसी स्त्रीने बहुत ही अधीरा हो एक दिन स्वामीसे कहा, —'मेरी बहन विधवा, मेरी मा विधवा, सुना, कि मेरी दादी भी विधवा हो जीविता थी— मेरे कपालमें न जाने क्या है!' उस स्त्रीके उस समयका मलिन मुखचन्द्र स्वामीके हृदयाकाशमें सदाके लिये खिला रहा होगा। वह मलिनता ही साध्वीका लक्षण है। 'शान्त हो, तुम्हारे लिये वह भय नहीं। देखो, हमारे वंशमें ठीक उससे विपरीत घटना हुई है। मेरी दादी आगे मरीं—दादा जीते रहे,—मा आगे मरीं,—पिता पीछे मरे—इस वंशके पुरुष बहुत दिनों जीवित रहते हैं, तू ही पहले जायगी, मुझे जीवित रहना पड़ेगा।' स्वामीकी ऐसी बात सुन साध्वीकी भयव्याकुलता दूर हुई, मुखमण्डलकी मलिनता हटी— प्रफुल्लता आई। वह प्रफुल्लता भी साध्वीका लक्षण है।

सतीधर्म्मके मूलमें स्वामीके जीवनके सम्बन्धमें जो गूढ़ शङ्का है, उसे इस देशके सूक्ष्मदर्शी शास्त्रकारगण अच्छी तरह समझते थे। भगवान वेद-व्यासने महाभारतके अश्वमेध पर्व्वमें वर्णन किया है,—अर्ज्जुनने नागकन्या उलू-पीका पाणिग्रहण करनेके उपरान्त जब विदा मांगी, तब उलूपीने अर्ज्जुनसे और कोई प्रार्थना न कर निःसन्देह रूपसे अर्ज्जुनकी भलाई बुराईसे रहनेकी अवस्था जाननेके लिये कोई उपाय मांगा। अर्ज्जुनने उस प्रतिप्राणाके घरके आँगनमें एक अनारका वृक्ष लगाकर कहा,— प्रिये! जब तक यह वृक्ष सजीव रहेगा, तबतक मैं भी कुशलसे रहूँगा।" उलूपी नित्य उस अनारके वृक्षको जलसे सींचती और सदा उसे देख धैर्य्य रखती थी। यही सतीका लक्षण है।

स्वामी जीवित हैं, अच्छे हैं, सुखसे हैं, या स्वामी जीवित रहेंगे, अच्छे

रहेंगे, ऐसा प्रबोध पाने से ही सतीको प्रफुल्लता होती है । कदाचित् स्वामी जीवित न रहें, अच्छे न रहें, सुखी न रहें, इसी भयसे सतीको मलिनता होती है । स्वामीकी चिन्ताके अतिरिक्त सतीके मनमें और कोई चिन्ता व्यापनेके लिये स्थान नहीं पाती । हम जहांतक समझ सके हैं, सतीधर्म्मका मूल यही प्रगाढ़ चिन्ता है और चिन्ता मूलमें होनेके कारण ही सती धर्म्ममें एक चिर-स्थायी गाम्भीर्य्य भाव रहता है। साध्वीके आमोदमें भी बहुत तरलता प्रकट नहीं होती—उनकी प्रसन्नता उमड़ नहीं पड़ती—वह खिलखिलाके हँस नहीं पड़ती—होंठोंकी हँसी होंठोंमें ही समा जाती है, यह गाम्भीर्य्य भाव भी साध्वी का एक लक्षण है ।

सतीधर्म्मके मूलीभूत उस चिन्तासे एक बहुत ही अद्भुत काण्डकी सृष्टि होती है। उसका नाम सदा स्वामीके दर्शनकी लालसा है। वह सतीके हृदयमें सदा बसता है । सतीके मनमें यही इच्छा रहती, कि सदा स्वामी का दर्शन करें । स्वामीके आँखकी आड़में होते ही जगत् उनके लिये शून्य होजाता है । ऐसा क्यों होता है ? सतीधर्म्मके मूलीभूत स्वामीके अनिष्टकी शङ्का ही उसका सच्चा कारण है । 'वे जैसे थे, वैसे ही तो हैं' ? इस चिन्तासे ही सतीके हृदयमें स्वामीके दर्शनकी कामना प्रबल भावको धारण करती है । सतीधर्म्म यथार्थमें निष्काम धर्म्म है । उसके किसी स्थानमें किसी प्रकारके स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं रहता । स्वामी घरके बाहर काममें लगे हुए हैं, उनको पता नहीं है कि उनकी पतिप्राणा पत्नी वायुद्वार अथवा केवाड़ोंके छेदसे कितनी दफे उन्हें देखने जाती हैं। स्वामी मन लगाकर काम करते अथवा आग्रहके साथ पांच आदमियोंसे बातें करते हैं इससे उन्हें क्लान्ति हो रही है। इस क्लान्तिका वह स्वयं अनुभव नहीं करते; किन्तु उनकी पत्नी अलक्ष्य स्थानसे उन्हें देख अपने हृदयमें बैठी मूर्त्तिके साथ उनकी उस समयकी मूर्त्तिका थोड़ासा भी प्रभेद समझ सकती हैं और उसे समझ उद्विग्न होती हैं । तब उनकी इच्छा होती है कि, काम समाप्त हो । बात चीत बन्द हो । जो मनुष्य शक्ति रहते भी उस कामसे अलग नहीं होता, उस बात चीतको बन्द नहीं करता, वह निष्ठुर है ।

पहले ही कहा गया है, कि सतीके धर्म्मका मूल स्वामीके अनिष्टकी शङ्का है । उसका काण्ड, सदा स्वामीके देखनेकी लालसा है । इस कल्पतरुरूप सतीधर्म्मकी शाखा प्रशाखा असंख्य हैं । यद्यपि स्वामीके अनिष्टकी आशङ्का

इसका मूल है सही, तथापि वह मूल अन्यान्य वृक्षोंकी भांति छिपा रहता है। वह सतीके हृदयकी कन्दरामें छिपा हुआ है। कभी उसमें थोड़ा भी झटका चढ़नेसे उसका हृदय थर थर कांप उठता है। किन्तु सामान्यतः उस मूलको कोई देख नहीं सकता। स्वामी स्वयं विशेष सूक्ष्मदर्शी और अनुसन्धित्सु न होनेसे भी उसे देख नहीं सकते। वे केवल दर्शनवासना-काण्डको देख सकते हैं। और कदाचित् काण्डकी सच्चीमूर्त्ति केवल उन्हें ही दिखाई देती है। किन्तु स्वामीकी सत्यहानिका भय, महिमा हानिका भय, अर्थहानिका भय आदि सतीधर्म्मकी शाखा प्रशाखायें सतीके चित्त-क्षेत्रमें फैली रहती हैं। उसे और लोग भी देख सकते हैं। किसी साध्वीने अपने पुत्रको यह कह समझाया,—" बच्चे ! तुम जो कहते, वह सही है, ऐसा करनेसे क्षति हुई; किन्तु जब उन्होंने कहा है, तो करना ही पड़ेगा। उनकी बात मिथ्या न जानी चाहिये।" सतीका पुत्र माताके हृदयमें स्थित सत्यहा-निके भयस्वरूप धर्म्मशाखाको देख सका। इसी प्रकार अन्यान्य शाखायें भी समय समय पर लोगोंको दिखाई देती हैं।

यह धर्म्मवृक्ष सिरसे पैरतक बहुत ही मनोहर भावसे पल्लवित है। सतीके क्रियाकलाप ही उसके पल्लव हैं,—वे असंख्य हैं, कितने ही प्रकारके हैं; किन्तु हैं एक ही वर्णके। पतिके अतिरिक्त सतीके लिये और कोई देवता नहीं हैं। उस देवताकी विधिविहित पूजाके लिये ही उसकी सब क्रियायें हैं। घरके काममें लगना, अपने हाथ रसोई बनाना, स्वयं परोसना, शरीर पर अल-ङ्कारका भार धारण करना, उसके लिये ही सब कुछ है। जिस काममें स्वामीकी पूजा नहीं, वह काम सतीके मनमें भी नहीं आता। मेघदूतके अन्तमें कालिदासने विरहव्याकुला यक्षपत्नीका जो भाव वर्णित किया है, वह कविकी कल्पना नहीं है। जो हो, सतीधर्म्मका मूल, काण्ड, शाखा, पल्लव, सभी देखा गया, किन्तु उसका पुष्प कहां है ? यदि यह पूछना चाहते हो, तो समीप जाओ। जिस घरमें साध्वी स्त्रीका आविर्भाव है वहांके दास दासी परिजनवर्ग सभी प्रसन्न चित्त, कलहपरिशून्य, नम्र और कर्तव्यपरायण हैं। यह उस पुष्पका सौरभ है। और भी समीप जाओ, लड़कोंके साथ बात करो, उन सबकी चित्तवृत्तिकी परीक्षा कर देखो, उन सबको सरलचित्त, औदार्य्यगुण-सपन्न और परस्पर ईर्षा विहीन पाओगे। सतीके सन्तानगण मानो उस पवित्र कुक्षिवास वश उस कुसुम सौरभसे सुरभित होते रहते हैं। क्या और भी समीप जा सकते हो ?

अधिकार हो तो आओ। मनमें भक्तिका उदय होगा, कुछ भय भी उत्पन्न होगा—रुक रुकके बातें करोगे, किन्तु इच्छा होगी कि अपने और अपना कहनेके लिये जो जहां हैं, सबका ही वहां स्थिर निवास हो जाय। लौट आओ, अब बिचार कर देखो कि, तुममें कोई परिवर्त्तन हुआ है या नहीं। संसार असार पदार्थ नहीं है, धर्म्म कल्पित व्यापार नहीं है, तुम्हारे हृदयमें ऐसा ही ज्ञान दृढ़ हुआ है या नहीं? तुम भी उस पुष्पके सौरभसे वासित हो गये।

६ प्रबन्ध ।

सौभाग्य गर्व्व ।

एक बार समझ लो, कि विधाता तुम्हारे बशमें हैं। तुम जो चाहते, वही उनसे करा लेते हो। तुम्हारा मन कैसा होता है? विधाता सब जानते हैं सब कर सकते हैं और उनकी इच्छा भी मंगलमयी है। तुम उनसे क्या करा सकते हो? क्या अपने हृदयको उनके हृदयके साथ अभिन्न रख सकते हो? पूरी तरह तादात्म्यको प्राप्त हो सकते हो? ऐसा होगा ही, किन्तु धीरे धीरे। जब तक निर्व्वाण न हो तब तक चीनी होनेके विचारसे तृप्त हो न सकोगे। अवश्य ही चीनी खानेकी इच्छा होगी। विधातासे यदि दो एक फरमाइश पूरी कराने की इच्छा न हो तो तुम मनुष्य ही नहीं। जब तक अहं बुद्धिका लेशमात्र भी रहेगा, तब तक फरमाइश चलाना चाहिये।

शास्त्रकारोंने प्रेमको दो प्रकार का बताया है। एक त्वदीयता और दूसरा मदीयता। 'मैं तुम्हारा हूं' यह भाव त्वदीयता है; 'तुम मेरे हो' यह भाव मदीयता है। प्रकृतिके भेदसे किसीकी त्वदीयता और किसीकी मदीयता का भाव प्रबल दिखाई देता है। वास्तविक विशुद्ध त्वदीयता या विशुद्ध मदीयता कहीं भी हो नहीं सकती। पतिप्राणा 'पतिदेवता' साध्वी स्त्रीके हृदयमें त्वदीयताका भाव प्रबल है सही, किन्तु सूक्ष्म रूपसे देखनेसे उसके हृदयमें मदीयताका भाव भी दिखाई देता है। वह भी विधातापर फरमाइश चलाना चाहती है। जो देवता उसकी तपस्यासे बश हुए हैं उनकी परीक्षा लेने और औरोंको भी अपने तपकी सिद्धि दिखानेके लिये उनकी भी इच्छा होती है।

त्वदीयताभावके अन्तर्भूत इस मदीयता भावका नाम सौभाग्य गर्व्व है। कुत्सित गर्व्व शब्दको सुन कांप न उठना। यह गर्व्व अच्छा गर्व्व है। जो इसे

खर्व करना चाहते हैं वे स्त्रीहत्याके पातकी होते हैं। जिस स्त्रीमें सौभाग्य गर्व्व नहीं है, उस स्त्रीका जन्म ही वृथा है। उसका रूप और गुण कुछ भी कुछ नहीं है। वह अपनेको बिलकुल ही अपदार्थ समझती है। जिस धर्म्मशीलामें सौभाग्य गर्व्व उत्पन्न हो नहीं सकता जगदीश्वरने उसे वृथा ही बनाया है। वह जीवन्मृता है। ऐसी स्त्रियोंका जीवनवृत्त ही इसका पूरा उदाहरण है कि पुण्य करनेसे ही इहलोकमें सुख भोग नहीं होता। जिस पतिपरायणामें सौभाग्य गर्व्व नहीं है उसकी तपस्या सिद्ध नहीं होती उसके जीवनवृक्षमें फल नहीं लगता—वह यथार्थमें वन्ध्या है।

अतएव सौभाग्य गर्व्वको उत्पन्न होने दो। विधाता फरमाइशका भी स्वीकार करें। इसे स्वीकार करनेसे उनके काममें कोई क्षति न होगी। जो विधातासे फरमाइश पूरी कराना चाहता है वह विधाताकी इच्छाके अनुकूल के सिवाय कभी प्रतिकूल फरमाइश कर नहीं सकता। जो उनके स्वयं मनके अनुसार है, उसपर ही उनके प्रति अनुज्ञा होगी, जो उनके मनके अनुसार नहीं है, उस पर अनुज्ञा न होगी।

साध्वी स्त्रियोंका सौभाग्य गर्व्व बड़ा ही अपूर्व्व पदार्थ है। उनकी मदीयताके भीतर बहुत ही प्रबलतर त्वदीयताका भाव विद्यमान है। "उनके मनको मैं यहाँ तक समझ सकी हूं, कि उनके अपने मनकी बात कहते न कहते ही मैं उनके मनकी बात कह सकती हूँ। उनके मनकी बात मेरे मुँहसे निकलने पर हमें जैसा सुख होता, वैसा सुख और किसी प्रकारसे नहीं मिलता"। फलतः विधातापर फरमाइश होना विधाताकी इच्छाके अनुकूल होनेसे उस इच्छाके प्रतिकूल हो नहीं सकता। यदि कुछ भी प्रतिकूल होनेका सन्देह हो, तो फिर क्षोभकी परिसीमा नहीं रहती। अब भी उनके मनको समझ न सकी, तो फिर क्या किया? क्या हुआ?

किसी पतिपरायणाने अपने स्वामीसे कहा,— 'तुम सांसारिक सभी विषय मुझसे पूछते हो और जो मैं कहती, प्रायः वही करते हो, वैसा न करनेसे मुझे दुःख होता है, क्या इसीसे तुम ऐसा करते हो?" "यदि ऐसा ही है, तो उसमें क्षति क्या है? यह तो अच्छी बात है"। "अच्छा है सही, किन्तु उसकी चिन्ता करनेसे मेरे मनको सुख नहीं मिलता। मेरी बात पर चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें करना पड़ता है। ऐसा सोचनेसे इच्छा होती है, कि मेरा न रहना ही अच्छा है।" बड़ी कठिन बात हुई। इस बात पर स्वामीने कुछ सादा कागज ले एक

कापी बना डाली । फिर स्त्रीसे कोई बात पूछनेसे पहले वह उस कापीमें अपनी राय लिख रखने लगे । पूछने पर स्त्री जब अपना अभिमत प्रकट करती, तो स्वामी वह कापी दिखाते कि इसमें क्या क्या लिखा है । कई महीने ऐसे ही बीते । स्वामीने घरके कितने ही कामोंसे एक बार अवसर पाया । विधाता सृष्टि के पालनका भार किसी पर समर्पण कर निश्चिन्त रह नहीं सकते । किन्तु सुभगा स्त्रीके पति संसारका बहुत कुछ भार पत्नीपर समर्पण कर निश्चिन्त रह सकते हैं । बिधाताको किसीके वश न होनेके कारणही यह दुःख है । सुभगा स्त्रीके पति विधाताकी अपेक्षा भी सुखी हो सकते हैं ।

सौभाग्य गर्व्वके भीतर और एक प्रकारसे त्वदीयताके भावका सम्बन्ध दिखाई देता है । "मैं यह बिचारकर सुखी हूं, कि वे मुझे चाहते हैं; इसे समझ उन्हें सन्तोष होगा अतएव मैं उनसे प्रकट करूँगी ।" यह भी एक विचित्र मनोभाव है । किसी स्त्रीने अपने स्वामीसे कहा,—"आज उनके घर विवाह है,—बहुत ही दबावमें पड़ मुझे उनके घर जाना पड़ेगा ।" "इसमें दबाव कैसा? जाने की इच्छा न हो, तो न जाओ ।" "न जानेसे उनकी मा दुःखी होंगी, वह मेरे अतिरिक्त और किसीके हाथ हलदी चढ़वाना नहीं चाहतीं ।" इसका तात्पर्य्य क्या ? स्त्रियाँ सुभगाके हाथ हलदी चढ़वाती हैं । उसने स्वामीसे यह भाव प्रकट किया, कि उसे लोग सुभगा समझते हैं और इससे उसे बहुत ही सुख मिलता है । फिर किसी समय उसी स्त्रीने अपने स्वामीसे कहा,—"आज मैंने घाट किनारे फलाने की माको देखा, उनका रूप एकबारगी कोयला हो गया है। मेरे यह पूछनेपर उन्होंने कहा, 'अबतो बहन ! थोड़ी पावोंकी धूल भी नहीं दी !" "ऐसी बात क्यों कही, इसका तात्पर्य्य क्या ?" "कुछ न पूछो, उसका स्वामी बड़ा दोषी है, तभी तो उसने ऐसी बात कही ।" इसका तात्पर्य्य यह है, कि तुम्हारे आदरसे ही मेरा इतना गौरव है ।

फलतः साध्वी स्त्रियोंका सौभाग्य गर्व्व बढ़ानेमें डरो मत । इससे कोई हानि नहीं, कितने ही लाभ हैं और इसे कोई रोक भी नहीं सकता । त्वदीयता और मदीयताका भाव कपड़ेकी बिनावटकी तरह ऐसा आपसमें लिपटा हुआ है, कि उसका अलग कर लेना बहुत ही असाध्य है । त्वदीयताके भीतर मदीयता और मदीयताके भीतर त्वदीयता दिखाई देती है । अन्तमें उस त्वदीयता के भीतर भी मदीयता और उस मदीयताके भीतर भी त्वदीयता दिखाई दे सकती है । विशुद्धचित्त स्त्री पुरुषोंके दो हृदय दो निर्मल दर्पणकी तरह एक

दूसरेके सामने अवस्थित है—वह उसके और वह उसके हृदयके भावोंको ग्रहणकर सदा अपनी झलक दिखाया करते हैं।

———o———

७ प्रबन्ध ।

दम्पती-कलह ।

इसमें सन्देह नहीं है कि उपन्यास, कहानी और पुराणादि पढ़नेसे यथेष्ट शिक्षा मिलती है। किन्तु इस प्रकार का कोई ग्रन्थ ले पढ़ने के समय कई बार हमारा ऐसा विचार हुआ है कि यदि उन सब ग्रन्थोंमें रोगादि कष्टकर व्यापारोंका सामान्य वर्णन भी होता तो वे सब ग्रन्थ हमलोगोंके अधिक उपकारमें आते। काव्य, उपन्यासादिके नायक और नायिका यहाँतक कि ऐसे ग्रन्थोंके अप्रधान पात्रोंका भी मानो सदासे नीरोग शरीर जान पड़ता है। किसी देशके किसी काव्यमें काष्टर आयल पीने का हाल दिखाई नहीं देता। किन्तु सचमें पृथिवीके कितने मनुष्य उस नरकयातनाका भोग नहीं भोगते? ऐसे ही कितने कारणोंसे काव्योल्लिखित मनुष्योंकी अवस्था, साधारण मनुष्योंकी प्रकृतिसे भिन्न भाव धारण किया करती है। यह ग्रन्थकारका मनःकल्पित बनावटी विषय जान पड़ता है और हमलोगोंके कार्य्यकलापके प्रति उसके दृष्टान्तका प्रभाव बहुत स्वल्पतर हो जाता है।

गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें वैसे मनःकल्पित बनावटी पदार्थोंका वर्णन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इसलिये इस प्रबन्धमें हम गृहस्थाश्रमके एक साधारण कष्टकर कामका हाल लिखेंगे। स्त्री पुरुषोंमें झगड़ा हुआ करता है। दोनों हीके लिये वह कलह विलक्षण कष्टकर है। किन्तु चाहे जितना कष्टकर हो उसका सङ्कुटित होना बिलकुल असाधारण काम नहीं है। वरंच वह बहुत ही साधारण व्यापार जान पड़ता है। हमारे विचारसे मनुष्य दम्पतीमें कलह होता ही होगा।

जिनमें परस्पर बहुत ही प्रेम और घनिष्ठता होती है उनमें भी बिना विवाद हुए नहीं रहता, इसका कारण क्या है? उसका कारण उस प्रेम और घनिष्ठताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। परस्पर प्रीतिसम्पन्न दम्पती सब तरहसे अभिन्नहृदय हो रहनेकी इच्छा करते हैं। किन्तु इहलोकमें पूरी तरहसे अभिन्नहृदयता साधित नहीं होती और उसके न होनेके कारण ही अभिमान

और उद्वेगका उदय हो कलहका सूत्रपात होता है। "इस विषयमें हमारा ऐसा अभिमत है। किन्तु इसप्रकार यदि इस विषयमें ही उनसे मतभेद हुआ, तो अमुक विषयमें मतभेद होगा ही ? फिर ऐसा होनेसे उस अमुक विषयमें मत-भेद क्यों न होगा ? इसीसे हमारे मनकी गतिसे उनके मनकी गति भिन्न है। तब प्रेम कहाँ रहा ? यदि प्रेम ही नहीं तो जीवनमें रक्खा ही क्या है ?" दम्पती कलहके भीतर ऐसी ही एक अपूर्व्व विचारप्रणाली सदा रहती है।

इस विचारप्रणालीमें कल्पना वायुके प्रभावसे ऐसी दुरभिसन्धि और गूढ़ाभिसन्धिकी विचित्र लहरें उठती हैं जिसके देखनेसे दर्शकोंको बड़ा ही आमोद होता है। दम्पतीका कलह और लोगोंके लिये चित्तरञ्जक होता है। इतना चित्तरञ्जक होता है, कि कोई कोई कौशलसे कलह खड़ाकर तमाशा देखनेकी इच्छा करते हैं। किन्तु और लोग चाहें उसे हँसी ही समझें, दम्पतीका कलह दम्पतीके लिये बड़ा ही कष्टकर व्यापार है। जबतक विवाद रहता, तब तक उन दोनोंके हृदयमें अपना अपना जीवन इतना तुच्छ जान पड़ता है, कि उस समय आत्महत्या कर लेना भी कुछ असम्भव बात नहीं है। रक्षा इसीमें है, कि दम्पतीका कलह बहुत ही कम ठहरता है। सृष्टिनाशक वज्राग्नि चकाचौंध डालकर ही छिप जाती है। यदि यह अग्नि स्थायी होती, तो विश्वसंसार जल जाता।

हमारे विचारसे उस आगके जलनेमें कोई दोष नहीं। कारण, उसके जलनेका प्रयोजन है। जैसे परस्पर सटे हुए दो मेघमें तड़ित इतर विशेष रहनेसे ही बिजलीकी आग निकलती है, और वह निकलकर दोनों मेघके ताड़ितसामञ्जस्यको विधान करती है। स्त्री-पुरुषोंमें उसी प्रकार मतिका कुछ अनैक्य रहनेसे ही कलहाग्नि निकल पड़ती है और उसके द्वारा उनके मनकी एकता सम्पादित होती है। तुम और हम अब भी भिन्नहृदय क्यों हैं ? अब भी एकचित्त क्यों न हुए ? अवश्य ही एकात्मताको प्राप्त होना ही पड़ेगा। ऐसा ही भाव दम्पतीके कलहमें भरा हुआ है। सुतरां दम्पतीकलह भी दम्पती प्रेमका परिचायक और उस प्रणयको दृढ़ करनेवाला है।

इसलिये स्त्री-पुरुषमें विवाद उपस्थित होनेपर उनमें प्रायः यही देखा जाता है, कि कोई चुप नहीं रहते। जबतक विवाद चलता है तबतक बातोंकी काटछांट चलती है। यदि एक चुप हो रहे अथवा दूसरे स्थानमें जानेकी चेष्टा करे, तो दूसरेका क्रोध शान्त न होकर सौगुना बढ़ता है। किन्तु विवादकी

बातें शायद बड़ोंके आगे प्रकट हो जायं इसलिये इस समय बातोंके काटछांट की आवश्यकता नहीं; ऐसा भाव प्रकाश कर एक के चुप हो जाने या वहांसे हट जानेपर उतना अधिक दोष नहीं होता है। किन्तु यथा समय फिर पहलेकी बात उठाई जाये,—एकबारगी ही छोड़ना ठीक नहीं। अधिक स्थलमें ऐसा होता है, कि पहले की बात उठाते ही जो दोषी ठहरते हैं उन्हें लज्जा जान पड़ती है। लज्जा दिखाई देनेपर फिर नहीं बढ़ाना चाहिये। उन दोनों झगड़ालुओंमें जो चुप होते हैं, अथवा वहांसे हट जाते हैं, दूसरेके विचारसे वे अपने मनका द्वार बन्द कर लेते हैं, वे अभिन्नहृदय होनेके लिये यथोचित यत्न नहीं करते। वे केवल अपने मतको ठीक रखनेके लिये ही विवाद करते हैं, वे स्वैराचारी, स्वार्थपर, निष्ठुर हैं। उनके मनमें यथार्थ प्रेम नहीं है।

इसलिये और सब विवादोंमें यदि एक मनुष्य चुप हो जाय, तो अच्छी बात है, कारण उससे विवादकी समाप्तिका उपक्रम होता है; किन्तु दम्पती कलहमें मौनावलम्बन ठीक नहीं है। इससे कलहाग्नि जल उठती अथवा बाहर रुककर भीतर ही भीतर जल चित्तभूमिको जलाने लगती है। और सब विवादोंमें ही एक मनुष्यका हट जाना ठीक है। दम्पती कलहमें हट जाना बहुत ही अपमानजनक माना जाता है। जिन जिन स्थलोंमें दम्पतीकलह आत्म-हत्यामें परिणत हुआ है, उन उन स्थानोंमें एक मनुष्यका हट जाना ही अगुआ बना है।

युद्धक्षेत्रमें स्थिर रह सम्मुख संग्राम करना ही यहांकी विधि है। यदि सम्मुख संग्राममें मरो, तो देख सकोगे कि शास्त्रकारोंने झूठी बातें नहीं कहीं। समरमें प्राणत्याग करनेसे साक्षात् स्वर्ग मिलता है। विवाद मिट जानेपर, अभिन्नहृदयताके साधित होनेसे—काल वैशाखीके मेघ, आंधी, पानीके बरसनेसे, तड़ितका सामञ्जस्यविधान हो जानेसे—कैसी सुविमल शोभा, कैसी अनिर्व्वच-नीय प्रसन्नता उत्पन्न होती है। दम्पती कलहका यह चरम फल बहुत ही मधुर है।

सुबोध, शान्त स्वभाव मनुष्योंको चाहिये कि वह ऐसा यत्न करें, जिससे वह चरम फल शीघ्र उत्पन्न हो। विवाद हो, तो हो, उससे कोई क्षति नहीं। किन्तु विवाद शीघ्र मिट जाय—किसी प्रकार कुछ दिनों तक स्थायी रह न सके। प्रेमरूपी क्षीर-सागरके मन्थनसे उत्पन्न कलहरूपी कालकूटको महादेव ही पी सकते हैं, शीघ्र पीओ, नहीं तो सिन्धु ही सूख जायगा।

कोई कोई मनुष्य विवाद समाप्त करनेके लिये बनावटी क्रोध प्रकट करते हैं। उससे कभी कभी काम पूरा हो जाता है, आगकी बड़ी लपट छोटी चिनगारी को ढाक देती है। किन्तु, हमारे विचारमें यह प्रणाली ठीक नहीं है। इससे दम्पतीकलहका सच्चा प्रयोजन जो अभिन्नहृदयता है, वह कुछ भी साधित नहीं होती। कोई कोई मनुष्य भोजन छोड़ देते हैं, या सिर तोड़ लेते हैं, या और किसी प्रकारसे अपने शरीरको क्लेश देते हैं। इन उपायोंसे भी कलह की शान्ति होती है। किन्तु यह भी विशुद्ध उपाय नहीं है। यह आसुरिक औषधके सेवन होनेकी तरह शीघ्र ही फल देता है, किन्तु यह भीतरी तेजकी हानिका कारण है। ऐसे दुष्ट उपायोंका बार बार अवलम्बन करनेपर अभिन्नहृदयताके साधित होने की बात तो दूर रही, मूलप्रेमकी गाँठ भी शिथिल हो जाती है। महादेवने रुद्रमूर्त्तिसे कालकूट नहीं पिया, शिवमूर्त्तिमें ही पिया था।

हमारे विचारसे दम्पती-कलहके सच्चे शुभफलके पानेकी इच्छा करने पर निम्नलिखित नियमोंको रखना ठीक है:—

(१) अपना दोनोंका मतभेद स्वतः प्रवृत्त हो किसीके आगे प्रकट न करो।

(२) अपना दोनोंका विवाद मिटानेके लिये दूसरे किसीको भी मध्यस्थ न बनाओ।

(३) यदि कोई मध्यस्थता करने आवे, तो उसे कभी अमलमें न लाओ।

(४) हार माननेमें लज्जा न करना। दम्पती कलहमें जो हार मानता है, वही जीतता है।

(५) जबतक विवाद न मिटे, उससे उपेक्षा करना न चाहिये। संसार उजड़ जाय, सृष्टि बह जाय; जबतक विवाद टूट न जाय, तबतक कोई काम किया जा नहीं सकता, किसीके साथ बात भी की जा नहीं सकती, भोजन नहीं किया जा सकता, नींद नहीं आ सकती—विशेषतः नींद तो किसी प्रकार नहीं आ सकती।

ये ही पांचो नियम बहुत गुरुतर हैं, विशेषतः पाँचवाँ नियम उसकी अन्तिम बात है—यह सब नियमोंका सार नियम है। ऐसे नियमका पालन कर चलनेसे दम्पतीमें कलह बहुत कम होता है; जब होता है, तो बहुत थोड़े समय तक ठहरता और समाप्त होनेपर हृदय सरल हो सुखमें डुबकी लगाता है। दम्पती कलहकी समाप्तिमें जो आंसुओंकी धारा बहती है, वह हृदयकी सर-

लताका लक्षण है,—दो-चारबार बिजली चमकनेके बाद ही वृष्टि है—इससे जगत् शीतल होता है ।

---

८ प्रबन्ध ।

लज्जाशीलता ।

लज्जाशीलता बड़ी ही मधुर वस्तु है । इससे सुन्दरीका सौन्दर्य्य सौगुना बढ़ता और असुन्दरीका असौन्दर्य्य सहस्र मात्रासे घटता है । लज्जाशीलता मनुष्यका धर्म्म है; पशुका धर्म्म नहीं । हमारे विचारसे मनुष्यकी प्रकृतिमें पशुधर्म्मके अस्तित्वका अनुभव होनेसे ही लज्जा उत्पन्न होती है । यदि हम किसीको हड़प हड़प खाते देखें तो मनमें कुछ लज्जाका उद्रेक होता है । जो उस प्रकार खाते हैं, वह भी उसे समझ कर स्वयं लज्जित होते हैं । यदि किसी स्त्री-पुरुषकी आँखोंसे इन्द्रियलोभका लक्षण दिखाई दे, तो शुद्धात्माके चित्तमें लज्जाका आविर्भाव होता है । यदि कोई अण्टाचित हो घों घों नाक बुलाते सो रहे हों, तो उन्हें देख दूसरेको कुछ सलज्ज हँसी होती है, फिर निद्रासे जागने पर यदि उनसे कहा चाहो, कि तुम्हारी नाक खूब बोल रही थी, तो वे भी बहुत लज्जित होंगे ।

इन सब उदाहरणोंसे दिखाई देता है, कि पाशवधर्म्मके प्रति मनुष्यकी जो घृणा है, वही लज्जाका मूल कारण है । जो मनुष्यसमाज जितना दिव्यभाव-सम्पन्न और सुशील तथा सभ्य बननेके लिये यत्न करता है, उस समाजमें लज्जाका उतना ही आधिक्य दिखाई देता है । बनैली दशावाले मनुष्य नङ्गे हो रहने, कुत्ते और सियार की तरह बड़े बड़े टुकड़े खाने, सांड़की तरह फुफकार कर सोने और पशु जैसे काम करनेमें सङ्कोच नहीं करते । युरोपकी छोटी जातियां भी बहुत पशुधर्म्मप्रवण हैं । फलतः लोग कैसे विषयोंकी बातपर आमोद करते हैं, कैसे अश्लील शब्दोंका असङ्कोच व्यवहार करते हैं, इसके देखनेसे ही उनमें दिव्यभाव या पशुभावका आधिक्य हुआ है, यह स्पष्ट ही समझमें आता है ।

निसर्गतः स्त्रियोंके मनमें पशुभावकी अपेक्षा दिव्यभावका आधिक्य है । इसलिये स्त्रियां पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक लज्जाका अनुभव करती हैं । शरीरका कुछ वस्त्र हट जानेसे, भोजनके समय किसी औरको देखनेसे, भोजनपात्रके बिगड़नेसे, भोजनके लिये किसीसे कुछ माँगनेसे, आपसमें किसीके खब मुँह फैला कर

निकालनेसे, बातचीतमें थोड़ा भी कदर्य्य भाव आनेसे, हँसीका कहकहा लगनेसे, वे सब लज्जित, क्षुभित और सङ्कुचित हो जाती हैं। उनमें यदि कोई उन सब कामोंसे विरक्त या लज्जायुक्त न हों, उसके बदले विपरीत आचरण करें, तो इससे उनकी दिव्य प्रकृतिकी विकृति और अधःपातकी सूचना होती है। जिस समाजमें स्त्रीपुरुषोंका एकत्र समावेश है, सब समय ही एक जगह बैठ बातचीत, एकत्र खाना पीना, एक साथ घूमना फिरना होता है, उस समाजमें स्त्रियोंका चरित्र कुछ अकोमल, कुछ दिव्यभाव वर्जित और अधिकतर पशु भावसे सश्लिष्ट होता है। इसलिये ऐसे समाजकी रीति हमें पूरी तरहसे निर्दोष जान नहीं पाती। कोई कोई कहते हैं सही, कि ऐसे समाजमें स्त्रियोंके घनिष्ठ साथके कारण पुरुषोंका स्वभाव कुछ कोमल और पवित्र होता है; हम स्वीकार करते हैं। किन्तु स्त्रियोंके विकृत और अकोमल होनेमें जितना दोष है, पुरुषोंके कोमल होनेमें उतना गुण कहाँ? किन्तु चाहे जो कहा जाय, विचारा जाय या सावधान बनाजाय, मनुष्य किसी देशमें किसी समय पूरी तरहसे दिव्यभावसम्पन्न और पूरी तरहसे पशुभाववर्जित हो नहीं सकता। प्रकृतिकी सृष्टि, कारीगरके अट्टालिका बनानेकी तरह मञ्जिल दरमञ्जिल है। नीचे जो वस्तु बनाई गई है, उसीपर सम्पूर्ण निर्भरकर ऊपरकी वस्तु बनाई जाती है। खनिज द्रव्योंमें जो सब गुण हैं, उन सब गुणोंके परिमाणसे ही उद्भिद, उद्भिदमें जो गुण हैं, उसके ही परिमाणसे प्राणी और अन्यान्य प्राणियोंमें जो जो धर्म्म हैं, उन सब धर्म्मोंके प्रकृष्ट परिपाकसे ही मनुष्य-धर्म्म है। इसलिये मनुष्य सर्व-भावसे पशुधर्म्मसे परिशून्य हो रह नहीं सकता। भोजन, निद्रा, अन्तर्मल त्याग, सन्तानोत्पादन आदि काम न करनेसे जीवनकी रक्षा और वंशकी रक्षा नहीं होती। परन्तु वे सब काम पशुधर्म्मके हैं, उन्नत दिव्यभावसे विरुद्ध हैं और इसीसे लज्जाप्रद हैं।

मनुष्यके मनमें ऐसे भाववैपरीत्यसे जिस कष्टका अनुभव होता है उसके निवारणके लिये विभिन्न समाजमें भिन्न भिन्न उपायोंका अवलम्बन होता है। हमलोगोंके सनातनसमाजके बांधनेवाले जैसे अत्युन्नत और महद्भाव-सम्पन्न थे, उसीके अनुसार व्यवस्थाका विधान कर हमलोगोंके लिये वे दिव्यभावकी तेजस्विता, पशु भावका दौर्ब्बल्य और लज्जादुःखके दूर करनेका उपाय बता गये हैं। सब कामोंके भीतर जो एक बहुत ही उदार महान् भाव है, उनलोगोंकी पवित्र आत्मा उसी ब्रह्मभावसे ही अच्छी तरह परिषिक्त थी। वे

प्राणिमात्रके भोजन, नींद और सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओंमें जगदीश्वरका साक्षात् अधिष्ठान देखते थे और चित्तक्षेत्रमें वैसे ही ईश्वराधिष्ठानको स्थापित कर उन सब अवश्य होने वाले कामोंका निर्वाह करनेके लिये उपदेश देगये हैं। विचारकर देखो तो सही, भोजनादि क्रियाओंमें कैसे विचित्र अनुष्ठानोंको तुम नित्य चलाया करते हो? तुम भात, दाल, रोटी, तरकारी खाते हो, यह तुम्हारे शरीरमें बल, बुद्धि, चैतन्यके रूपमें परिणत होती है। 'अन्नं ब्रह्म, अन्नो वै प्रजापतिः'। तुम शय्यापर सोते हो, तुम्हें कुछ भी बाहरी ज्ञान नहीं रहता; किन्तु जब तुम नींदसे उठे, तब बिलकुल चैतन्यमय हो और 'सुखमहमस्वापसम्' आत्मासे साक्षात् करके ही उठे हो। सन्तानोत्पत्तिमें तुमने स्वयं 'प्राजापत्य' शक्तिका अनुभव किया, 'विष्णु' का तुमने स्मरण किया, तुम्हारी जो सन्तान होगी, उसके चरित्रके बहुत ही पवित्र और उदार होनेके उपायका विधान किया, पत्नीको भी तुमने साक्षात् प्रकृतिस्वरूपा जीव-जननी रूपसे जान लिया।

हमारे शास्त्रकारोंने ऐसे ही पशुधर्म्मके अन्तर्गूढ़ ब्रह्मभावका आविष्कार कर पाशव कार्य्योंका पशुत्व दूर कर दिया है। युरोपखण्डमें ऐसा नहीं हुआ। वहांके लोगोंकी धर्म्मचर्य्या और जीवनचर्य्या परस्पर अलग है। वे लोग धर्म्म भावके अधीन हो सब काम करना नहीं चाहते। ऐसे कामोंको यह लोग याजकतन्त्रताके नामसे घृणित समझते हैं। किन्तु उन लोगोंने भी मनुष्यके स्वभाव सिद्ध पशुधर्म्मपर एक परदा डालनेकी चेष्टाकी है। उन लोगोंने भोजनकी क्रियाको केवल जठरकी ज्वाला मिटानेका उपायस्वरूप न बना उसे आलाप, परिचय, आमोद और सामाजिकताके उपयोगी बना रक्खा है। उन लोगोंने पान-भोजनके साथ स्त्री-पुरुषकी एकत्र बातचीत और नाच-गान आदि आमोद मिला भोजन क्षेत्रको कैसा रमणीय बना लिया है। परन्तु शयन आदि कार्य्योंमेंसे पशुभावके घटानेका उन लोगोंने इतना प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि सोने जानेसे पहले इन लोगोंमें कितनेहीके कुछ कुछ तीव्र मदिराके पीनेका अभ्यास रहनेसे उस समय पाशवधर्म्मकी बहुत ही वृद्धि होने पर उनकी लज्जा दूर भागती है।

तात्पर्य यह है, कि आर्य्यप्रणालीमें धर्म्मभावका आधिक्य और युरोपीय प्रणालीमें भोगसुखका आधिक्य है। आर्य्यप्रणालीमें स्त्री देवी है। युरोपीय प्रणालीमें स्त्री, सखी और सहचरी है। "आजके निमन्त्रणमें जो स्त्रियां आई

थीं, उनमें एकका शब्द अनेक वार घरके बाहरतक सुनाई देताथा"। * * "कहो तो, वह कौन थी।" * * "क्या जाने"। "ठीक! वह वही 'सुकुमारी' है जिसके चलनेसे पैरका शब्द भी होता न था, जो मुँह खोल बात भी करना न जानती थी, जिसके मुँहकी हँसी मुँहमें ही रह जाती थी, वह वही सुकुमारी है, किन्तु उस बेचारीका क्या दोष! उसका स्वामी उससे अङ्गरेजोंसे बातें कराता है, उनके सामने गीत गवाता है, अपने साथ मद्य भी पिलाता है. अभी क्या उसकी लज्जा बाकी है? इसीसे तो उसका इतना गला हुआ है, रूप रङ्ग सब बदल गया है!"

९ प्रबन्ध।

गृहिणीपन।

गृहिणीपन दो प्रकारका है। एक, कर्त्तृत्वविहीन—दूसरा, कर्त्तृत्व समन्वित। जो गृहिणी कर्त्ताकी अनुमति ले घरका काम चलाती हैं, उन्हें कर्त्तृत्वविहीन गृहिणी कहते हैं और जो कर्त्ताके भावको समझ आप ही विचारपूर्वक घरका काम करती हैं, वह कर्त्तृत्वसमन्वित गृहिणी कहलाती हैं। हमलोग स्वयं करने वाली गृहिणीको ही विशेष समादरसे देखते हैं। और प्रकारके गृहिणीपनमें वैसा कोई गौरव नहीं; वह केवल आज्ञाका पालन मात्र है।

हमारे मित्रोंने हमें गृहकार्य्यमें उदासीन देखा है और उन्होंने जो देखा, वही बात कही भी है, इसीसे हम मन ही मन अभिमान करते हैं, कि हमारा संसारका कर्त्तृत्व बहुत बुरा नहीं है। हमारी पत्नी घरके सब काम करने वाली थीं। उन्हींके हाथ सब रहता था, हमारे हाथ कभी एक पैसा कौड़ी भी नहीं। किन्तु उसपर भी वह स्वयं हमें घरके कामोंमें बिलकुल ही उदासीन समझती न थीं। वह कहा करतीं, कि घरके कामोंका मूलसूत्र उन्होंने हमसे ही सीखा है। ऐसा ही सही, किन्तु इसमें संशय नहीं, कि वह सूत्रका वृत्तिविरचन और सूत्रानुयायी सब पदसाधन आप ही कर लेती थीं। उनका गृहिणीपन सब प्रकारसे सकर्त्तृत्व गृहिणीपन ही था।

हमारे विचारसे जो लोग संसाराश्रममें रह ज्ञान और धर्म्मकी वृद्धिको उपयोगी बनानेके सम्बन्धमें चिन्ता नहीं करते, वह लोग दोषके भागी हैं। फिर हम यह भी समझते हैं, कि जो लोग उन्नतबुद्धि और उच्चाभिलाषी होकर भी केवल संसारकी छोटी मोटी चिन्तामें ही उस बुद्धि और अभिलाषकी समाप्ति करते हैं, वह भी दोषके भागी हैं। स्त्री या बहन हैं, वह घरके सब कामोंको चलायेगी, मैं अच्छा खाऊँगा, अच्छा खिलाऊँगा, सुखसे किताबें पढ़ूँगा और मित्रके साथ आमोद-प्रमोद करूँगा, संसारका कुछ भी न देखूंगा। न विचार ही करूँगा; अभाव पड़नेसे रुपये उधार ले आऊँगा—जो इस प्रकार विचार कर चलते हैं उन्हें भी हमने देखा है। फिर घर तय्यार हो रहा है, स्वयं आकर उसकी छत पिटवाते और दीवार उठवाते हैं; कङ्कड़ पत्थर पड़े देख आप ही हटा भी देते और कितने ही अपने हाथ काम भी कर लेते हैं,

ऐसे मनुष्य भी दिखाई देते हैं। हमारे विचारसे इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें कोई संसाराश्रमके सच्चे पथके अनुवर्त्ती नहीं—सच्चा पथ इन दोनोंके मध्यवर्त्ती है—जिसमें पूरी अनवधान्ता भी नहीं, पूरा अनौदार्य्य भी नहीं। मनुष्यकी आंख मनुष्यके ही कामके उपयुक्त हैं। उसके दूरवीक्षण होनेमें भी दोष और अनुवीक्षण होनेमें भी दोष है। गृहस्थ मनुष्य गृहिणीका कर्त्तव्य दिखा दें, उद्देश्य स्थिर कर दें, और कुछ न करें। औदार्य्यकी रक्षाके लिये सतर्कता न छोड़नी चाहिये, सतर्कताके लिये नीच भी न बनना चाहिये।

किन्तु हम यह भी कहेंगे, कि वरं कुछ असावधान होना अच्छा, परन्तु बिलकुल नीचाशय बन अपने हाथ सब छोटे मोटे काम करना ठीक नहीं। विचार कर देखो कि, यदि तुमने ही संसारके विषयमें सब काम देखे और उनकी चिन्ता की, तो तुम्हारी स्त्री क्या करेंगी? क्या वह केवल खा-खेलकर समय वितावेगी? इससे तो उनकी बुद्धि ही न फैलेगी। इससे निजचित्तज्ञता और परचित्तज्ञता उत्पन्न न होगी, मन ही न बढ़ेगा। वह केवल स्वार्थकी, आदरकी क्रीड़ा सामग्री होगी। कामसे बुद्धि खुलती है, बुद्धि स्वयं पहलेसे ही कामका ग्रहण नहीं करती। अतएव पत्नीके हाथ घरका जितना काम दिया जा सकता है, उतना ही देना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम स्वयं बहुत अवसर पा सकोगे और उन्हें भी मनुष्य बना सकोगे।

किन्तु घरका काम स्त्रीके हाथ समर्पण कर स्वयं एक बारगी उदासीन होनेसे उस व्यवस्थाका शुभ फल नहीं होता। बिलकुल ही उदासीनता, उनके प्रति अनादर करना है। ऐसा नहीं, कि केवल अनादर जान पड़ता वरं समयपर वह सच्चे अनादरके रूपमें बदल जाता है। उनका चित्त गृहकार्य्यमें लगा। वह पृथिवीमें पैर रख मट्टीको दबा धीरे धीरे चलने लगी। तुम जगत्‌के हितकी चिन्ता अथवा पृथिवीके धर्मसंस्करण, ऐसे ही किसी प्रकारके व्योमयत्नके सहारे आकाशमार्गमें विचरण करने लगे। तब तुमलोगोंमें आपसमें मिलनेका भी उपाय न रहा। अतएव घरका काम स्त्रीपर छोड़ दो, किन्तु बीच बीचमें उनके साथ घरके कामोंकी बातचीत करो। ऐसा करनेसे तुम देखोगे, कि सामान्य घरके कामोंमें भी बहुत ही प्रशस्त भाव विदित हैं। ऐसा नहीं, कि केवल व्योमयानमें उड़नेसे ही जगत्‌का चमत्कारित्व दिखाई देता है। जिस नियमके प्रबल बलसे ब्रह्माण्डका गोलत्वसाधन हुआ है, शिशिरबिन्दुके गोलत्वसाधनमें भी उसी नियमका समग्र बल लगा

है। व्यास, वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, होमर, सक्सपियर, कारट, कपिल और कोमत्, प्रभृति जीवनयात्रामें जिन सब महत् सूत्रोंका आविष्कार कर गये हैं, वह सब तुम घरके काममें गृहिणीके मुखसे सुन सकोगे। यदि न सुन सको तो तुमने उन दार्शनिक और कविगणका नाममात्र सुना है। अथवा उनके ग्रन्थोंके पेज ही उलटे हैं। भावार्थको पा नही सके। वह लोग तुम्हारे शरीरमें आविर्भूत नहीं हुए।

---

१० प्रबन्ध।

गहना गढ़ाना।

गहनेपर किसी किसीका बहुत ही प्रेम दिखाई देता है। गहनेमें रुपया बँध जाता है, रुपयेका बाँध रखना अर्थशास्त्रकी विधि नहीं है। गहनेसे रुपयोंका नुकसान होता है, रुपया नष्ट करना गृहस्थधर्मके विरुद्ध व्यवहार है। गहनेकी ओर मन लगानेसे अपनी सजावटमें ही सारा दिन बीत जाता है। घरके कामोंमें विशृङ्खलता पड़ती है। गहना पहननेका नशा चढ़नेसे प्रकृतिमें लघुता आनेकी सम्भावना होती है। गहनेके सम्बन्धमें ऐसी कितनी ही युक्तियाँ दिखाई देती हैं।

अलङ्कारनिवारिणी सभाके किसी सभ्यमहाशयके मुखसे ऐसी ही बातें सुन उनसे कहा, कि आपकी बातें बहुत ही ठीक ठीक हैं; किन्तु आक्षेप इतना ही है, कि कोई भी उस युक्तिके अनुसार काम नहीं करता। देखिये, ऐसे जो "सर्व्वगुणादर्श" अङ्गरेज हैं, उनमें भी अर्थशास्त्रके नियमोंकी रक्षा नहीं होती किसी किसी इङ्गलेण्ड-वासी जमीदार और महाजनके घर १०।१२ मन चाँदीका प्लेट रहता है। युरोपीय बीबियोंमें भी आजकल गहने पहननेका शौक विलक्षण-रूपसे बढ़ गया है। विशेषतः, वह सब जैसे गहने पहननेकी इच्छा करती हैं, उससे रुपयेका अधिक नुकसान होता है। उनके गहनेमें सोने-रूपेकी अपेक्षा हीरा मोती ही अधिक होता है। सोने-रूपेके जितने गहने गढ़ाये जाते, वह, चार आने भरी देकर बेचे भी जा सकते हैं। हीरा-मोतीके गहने बेचनेके समय कभी कभी आधे रुपयेसे भी अधिक नुकसान पड़ता है। आप कहते हैं, कि गहनेकी सजावटमें अधिक समय बीतता है, किन्तु कईएक सोने-रूपेके गहने पहननेमें हमारे परिजनवर्गका जो समय बीतता है, बीवियोंको रङ्गीन कपड़े, पाउ-

इर, प्रभृति सजाते उससे सौगुना अधिक समय लगता है । और जो आपने कहा, कि गहनेके नशेसे प्रकृतिकी लघुता होती है, वह गहनेका दोष नहीं, उसके नशेका दोष है । गहना जिस उद्देश्यसे पहना जाता, प्रकृतिकी लघुता या उदारता उसी उद्देश्यपर निर्भर है । ऐसा विचार पण्डिताभिमानी कोई कोई महामूर्ख ही किया करते हैं, कि स्त्रियोंके गहना पहननेसे ही उनकी प्रकृति लघु होती है ।

अलङ्कारनिवारिणी सभाके सभ्य महाशय निरुत्तर हो चुप हो रहे । हम समझते हैं, कि उन्हें यह समझ आ गई, कि उनकी सभाने जिस काममें हाथ लगाया है, उस कामका पूरा करना बहुत सहज नहीं । देशमें अङ्गरेजी विद्याकी विमल ज्योति फैलनेपर भी उस सभाका उद्देश्य पूरा न होगा । वह अवश्य ही मन ही मन मान गये होंगे, कि अशिक्षिता भारतकी स्त्रियाँ ही अलङ्कारप्रिय नहीं । कालक्रमसे उनके बीवी बननेपर अलङ्कारनिवारिणी सभाका काम बढ़ जायका, घटेगा नहीं ।

हम सामान्य गृहस्थ आदमी हैं । पहली अवस्थामें हमारी मासिक आमदनी डेढ़ सौ रुपयेसे अधिक न थी । यह भी समझ नहीं थी, कि यह कभी बढ़ेगी भी । हमने उसी समयसे यह स्थिर किया, कि अपने परिवारमें कम खर्च न करनेसे हमारी भलाई नहीं होगी । ऐसा ही विचार हम स्त्रीके हाथ मासिक वेतनके रुपये दे कहता, "मैं जो उपार्ज्जन करता, वह सब तुम्हारा ही है । जिससे हम अच्छे रह सकें, वैसा ही आहार, आवास, और पहननेके कपड़े तुम हमें देना, असमयके लिये कुछ जमा भी कर रखना । तुम्हारे पास गहने नहीं हैं, वह भी दो चार बनवाना चाहिये ।" * * * । "नहीं नहीं, ऐसा नहीं हमारे कितने ही सम्बन्धी बड़े आदमी हैं । उनके घर निमन्त्रण आदिमें जाना आवश्यकीय है । नितान्त दुःखिनीकी भाँति जानेसे मुझे सुख न होगा । अतएव दो-चार गहने बनवाने पड़ेंगे ।"

इसके बाद कुछ दिन बीत गये । हमलोगोंको खाने-पहननेका कोई कष्ट न हुआ । जातिभाई हमारे घर आ भोजनादि कर कहते,—"तुम्हारे घर रसोईमें बड़ा स्वाद है, भोजन करनेसे ऐसी तृप्ति और कहीं नहीं होती ।" लड़कोंके बीमार पड़नेपर हम अङ्गरेज डाक्टरोंको बुला दवा कराते । प्रायः हर महीने कुछ न कुछ सेविंग्स बैंकमें भी जमा होता । हमारे घर जैसा सामान और किसी घरमें होता दिखाई न देता । दूसरेके घर निमन्त्रित होने पर हम देखते,

कि द्रव्यादि अधिक नष्ट होता या बच जाता था। हमारे घर भोजमें कुछ भी नष्ट न होता, प्रायः कुछ बचता भी न था, ठीक ठीक उतरता। दूसरे घर बीमारी आनेसे यह बात सुनाई देती, कि इतनी फीस दे कैसे डाक्टर बुलावें। किन्तु हमारे घर कभी ऐसी बात सुनाई न देती। सुनाई देना तो दूरकी बात, हम जातिभाईके बीमार होनेपर उनकी सेवाके लिये उन्हें अपने घर लानेका अनुरोध सुनते। पहले चार वर्षमें उन्होंने कुछ गहने भी बनवा लिये।

हमारे विचारसे उन गहनोंमें जो रुपये बँध गये, उनके खर्च होनेसे हमारा जितना उपकार होता, उसकी अपेक्षा सौगुना अधिक उपकार हुआ। एक अच्छी रसोईदारन, एक पङ्खाकुली या एक विश्वस्त नोकर रखनेसे हमारा जितना खर्च पड़ता, इन गहनोंमें उसकी अपेक्षा अधिक न लगा। वरं यह लाभ हुआ, कि स्त्रीने सिहाब-किताब सीखा, द्रव्यसामग्रीका दर-दाम सीखा, ब्राह्मण और प्रीति-भोजकी फिहरिस्त बनाना सीखा और सब कामोंमें ही उन्हें भविष्यत्का विचारकर काम चलानेका अभ्यास हुआ। और यह लाभ हुआ, कि हमें पारिवारिक कितनी ही चिन्ताओंसे अवसर मिला। इससे हम पहले लड़केके पढ़ाने-लिखानेमें चित्त लगा सके। हमने उस समय कई पुस्तक लिखी थीं। उन किताबोंकी विक्रीसे जितने रुपये पाये, उसका हिसाब करनेसे जान पड़ा, कि हमारी स्त्रीने जितने गहने गढ़ाये थे, उससे दशगुना और अधिक हो सकता है।

हमारी आय पहलेकी अपेक्षा बढ़ी। गहने भी बन गये। नये प्रकारके अच्छे गहने देखनेसे वैसे ही गढ़ाये जाने लगे। कुछ दिन ऐसे ही चलनेसे गहना गढ़ानेकी तृप्ति हुई। अब रहनेका मकान सुन्दर होना चाहिये, घरकी सजावट अच्छी होनी चाहिये, घरके सामानोंमें अधिकता और विचित्रता होनी चाहिये। क्रमसे यह भी होने लगा। गहनेका गढ़ाना प्रायः बन्द हुआ। अपनी अलङ्कारप्रियता साधारण सौन्दर्य्यप्रियतामें बदलने लगी। कदाचित् हमारी तरह अनेक गृहस्थोंके घर इतना अधिक और इतने प्रकारका गृहोपकरण नहीं।

इस अवस्थामें भी गहनेका गढ़ाना चला। कुछ अपने लिये नहीं, दूसरेके गहना गढ़ा पहनानेमें बड़ा आमोद है। सुखका सरोवर भरकर आस-पास बहने लगा।'। "वह तुम्हारा आत्मीय है, उसकी आमदनी भी इतनी है, उस दिन उसकी स्त्रीको देखा, कि उसके पास अमुक गहना था, अमुक नहीं। वह

उसे बनवा देना चाहिये। पहले इतने रुपये लगेंगे, वह हम दे देंगे। वह महीने महीने इतना देगी, तो इतने महीनेमें रुपये मिल जायँगे।" "उसे ऋणग्रस्त करनेसे लाभ क्या?" "हमारा कुछ लाभ नहीं, उसीका लाभ है। हमारा रुपया उसे देना ही पड़ेगा, सुतरां वह समझके खर्च करेगी। उसकी जितनी आमदनी उतना खर्च, कुछ भी नहीं बचता।" * * * "उसपर तुम्हारा प्रेम है, वह भी तुम्हारे बाध्य है। किन्तु उसकी सास बहुओंसे जलती है, गहने ओहने कुछ नहीं बनवाती। हमने एक चिन्ता की है, बहूके लिये गहने बनवा दिये हैं, हमारे देनेसे उसकी सास कुछ कह न सकेगी। वह महीने महीने हमारे रुपये चुकाती जायगी।" * * * "अमुकके सब काम अच्छे हैं; किन्तु शराब पीना छोड़नेसे और अच्छा होता। बहूको गहने बनवा देना चाहिये, कर्ज देनेमें उसके रुपये खर्च हो जायेंगे, फिर वह शराब पी न सकेगा।"

प्राय हम ऐसी ही बातें सुनते थे। एक दिन ऐसी ही बात हुई, ऐसे समय सुरापान-निवारिणी सभाके एक सभ्य महाशयको देख उनसे हमने, अलङ्कार-निवारिणी सभाका उद्देश्य प्रकट किया। यह भी प्रकट किया, कि हमारी स्त्री गहने गढ़ा किस प्रकार मद्यपान छुड़ाना चाहती है। सुरापान-निवारिणीके सभ्यने कहा, कि इस समय जैसा काल उपस्थित है, उससे स्त्रियोंकी अलङ्कार प्रियताके बढ़ानेमें ही मङ्गल है।

हमारे विचारसे गहना गढ़ाना इतना दुष्कर काम नहीं, कि उसका निवारण करना पड़े। उससे उपकार नहीं, तो अपकार होनेकी भी सम्भावना नहीं। हमारे विचारसे गहनेके लिये किचकिच करना बड़ा भारी दोष है। यह नहीं, कि स्त्री स्वयं अपनी इच्छासे गहना गढ़ायें। उनके गहना पहननेसे तुम सुखी होगे, वह इसीसे गहना गढ़ाती हैं। इस प्रकार गहने गढ़ाने से मितव्ययिता, घरके काममें दक्षता, शोभाप्रियता, परायेके हितकी चिन्ता, गृहलक्ष्मीका होना, तथा अर्थशास्त्रका सच्चा फल दिखाई देगा।

हमने देखा है, कि गहना गढ़ानेके सम्बन्धमें किसी किसी विलक्षण मनुष्यका भी ऐसाही रूप है। हमारे एक मित्र एक अच्छी नोकरी करते थे। उन्होंने वह नोकरी छोड़ दी। इसके उपरान्त उन्होंने जो मूलधन सञ्चय किया था उसका कुछ अंश खर्च अपनी स्त्रीके लिये गहने गढ़ा दिये। उस समय उन्होंने ऐसा क्यों किया? पूछने पर उन्होंने कहा,—"मैंने नोकरी छोड़ी सही, किन्तु स्त्रीका जो अंश है, वह तो उसे मिलनाही चाहिये।"

हमने कुछ न कहा, किन्तु मनही मन हमने प्रश्नकर उनसे पूछा,—"जब नोकरी छोड़ी तो स्त्रीकी रायसे क्यों न छोड़ी ? गहना स्त्रीका अवश्य प्राप्य कैसे हुआ ? उन्हें गहना बनवाना ही क्यों पड़ेगा ? " उन्होंने किस प्रकार अपनी पत्नीके मनका भाव समझ लिया था, या उसके प्रति किस प्रकारके भावका आरोप किया था ?—" तुम्हारी नोकरी गई, मेरी तो गई नहीं–ऐसा भाव न समझनेसे ऐसी बात और ऐसा काम न होता "।

---

११ प्रबन्ध ।

कुटुम्बता ।

हम लोगोंकी कुटुम्बताका काम बड़ा ही जटिल है। विशेष विचार पूर्व्वक न चलनेसे उस जटिलताके कारण अनेक कष्ट उठाना पड़ता है। कुटुम्बता-के बहुत ही जटिल होनेके कारण आजकल कितने ही लोग कुटुम्बताके व्यवहारमें शिथिलता दिखा रहे हैं। किन्तु हमारे मतसे कुटुम्बताका व्यवहार अनादरके योग्य नहीं है। बाहरी लोगोंके साथ गृहस्थका जो सम्बन्ध है उसमें कुटुम्बता सर्वप्रधान है। बाहरी लोग तुम्हें किन आँखोंसे देखते हैं उसके जाननेका उत्कृष्ट उपाय कुटुम्बवर्ग हैं। कारण, बाहरी लोग तुम्हें जिन आंखोंसे देखते हैं प्रायः तुम्हारे कुटुम्बगण भी तुम्हें उन्हीं आंखोंसे देखते हैं।

कुटुम्बगण यदि और किसी विषयमें तुम्हारे समहृदय हों या न हों, तब भी एक विषयमें उनकी समहृदयता होगी ही। कुटुम्बीगण कुटुम्बका गौरव ढूँढते हैं। दामाद, बहनोई, ससुर, साले, यह लोग बड़े आदमी हैं, चार आदमी उन्हें जानते पहचानते हैं, ऐसा कहने और समझनेसे सब लोग सुख मानते हैं। कुटुम्बके उज्ज्वल होनेसे ही मुख उज्ज्वल होता है। कुटुम्बको छोटा आदमी समझनेसे दुःख होता है।

कुटुम्बियोंको सन्तुष्ट करनेका उपाय सम्भवके अनुसार उन्हें अपनी ख्याति, प्रतिपत्ति और गौरवका अंशभागी बनाना है। तुम जो बड़ा काम करो, उसे अकेले न करो। उसमें अपने कुटुम्बियोंकी सहायता और परामर्शकी प्रार्थना करो। ब्राह्मण पण्डितको बिदा करना हो, कुलीन ब्राह्मणको कुछ देना हो, दुर्गोत्सव या शिवप्रतिष्ठा करना हो तो कुटुम्बवर्गके साथ पहले परामर्श कर इन सब कामोंमें प्रवृत्त हो। जिससे ख्याति और महिमाका अर्ज्जन हो, वैसे कामोंको कुटुम्बियोंसे निरपेक्ष हो न करना। संसारके सामान्य कामोंके

लिये कुटुम्बियोंको बुलाना बिलकुल ही अकिञ्चित्कर है। कुटुम्बियोंकी आंखमें छोटा आदमी जँचनेसे तुम्हारे कुटुम्बी सचमुच ही कष्ट पाते हैं।

यह जो एक प्रवाद है, कि कुटुम्बीगण बड़े बड़े उपहार चाहते हैं, वह प्रवाद अमूलक नहीं है। किन्तु बड़े बड़े उपहार चाहनेके लिये कुटुम्बियोंको अर्थ लोभ नहीं है, तुम्हारे ही गौरवके प्रति उनकी ममता है। उपहारका द्रव्यादि आने पर क्या उसे वह स्वयं अपने पेटमें रखते या प्रतिवेशियोंके घर घर बंटवा देते हैं? बाँटनेके समय क्या वह किसीसे कुछ न कह कभी कभी अपने व्ययसे द्रव्यादिका परिमाण बढ़ाते नहीं? क्या ये सब काम लोभके हैं?

फलतः कुटुम्बियोंको लालची समझना नीचाशयताका चिह्न है। कुटुम्बीगण तुम्हारी ख्याति और गौरवकी वृद्धिका लोभ करते हैं सही, किन्तु तुम्हारे धनके प्रति उन लोगोंका लोभ नहीं है। भारतके कितने ही अंशके कितने ही लोग उपहार देने और उपहार लेनेके प्रति बहुत ही विरक्त होते हैं। उनमें कितने ही उपहारके द्रव्यादिको बाजारमें बेचा करते हैं। वे लोग कुटुम्बताके यथार्थ भावको नहीं समझते। फिर कोई कोई ग्रामवासी कुटुम्बी द्रव्यादिके बदले उसका मूल्य रख रुपये भेज दिया करते हैं। वे लोग भी कुटुम्बताकी यथार्थ प्रकृतिको नहीं समझते।

जो लोग कुटुम्बताका सुख भोगना और उस सम्बन्धमें शिक्षा लाभ करना चाहते हैं, उनके लिये हम एक सामान्य परामर्श देते हैं। यदि तुम्हारा अर्थ संस्थान अधिक न हो और मितव्ययिताकी रक्षाका नितान्त प्रयोजन हो, तो बारह महीनेमें तेरह उपहार देनेकी जो प्रथा है, उसे छोड़ दो। वर्षमें जितनी बार तुम्हारी सुविधा हो, केवल उतने ही बार उपहार दो। किन्तु जब करना तब अच्छी तरह। इस प्रणालीका अवलम्बन कर चलनेसे तुम देख सकोगे, कि तुम्हारे कुटुम्बी सन्तुष्ट रहेंगे। फिर कहते हैं,—सौ बार कहते हैं—कुटुम्बियोंको अर्थलोभी न समझना। वे तुम्हारे गौरवसे स्वयं गौरवान्वित होना चाहते हैं। ऐसा ही समझ कर तुम अपना काम करो। यह कुटुम्बका दोष है या गुण? जो दोष समझते हैं वे बहुत ही कृपण हैं,—वे रुपयेकी पोटली गलेमें बांधकर मरेंगे। जो गुण समझते हैं, वे कुटुम्बता कर बाहरी संसारके साथ सम्पर्क रखना और सुसामाजिक होना सीखें।

कुटुम्बतासे अहङ्कार शून्य विनीत सामाजिक व्यवहारकी शिक्षा मिलती है। जो कुटुम्बताकी मूल प्रकृतिको नहीं समझते, वह कुटुम्बियोंके प्रति साहङ्कार

व्यवहार करते हैं। देखो, हमने तुमने जिस वस्तु पर सम्मिलित अधिकार किया है, उसे कभी एक दूसरेके दिखानेका प्रयोजन नहीं होता—जो संमिलित अधिकारका नहीं है, ऐसे विषयको दूसरेको दिखानेका प्रयोजन हो सकता है। सुतरां प्रकारान्तरसे किसीको कुछ दिखानेके समय यह बात कही जाती है, कि यह सम्मिलित अधिकारका नहीं है। अतएव यदि कुटुम्बियोंके प्रति साहङ्कार व्यवहार दिखाया गया अर्थात् अपना धन, गौरव, ख्याति, महिमा कुटुम्बको दिखाया गया तो मानो उनसे एक प्रकारसे कहा गया, कि जो हम तुम्हे दिखा रहे हैं उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं—वह स्वयं मेरा है। ऐसा करनेसे ही कुटुम्बीको अपने अधिकारसे भ्रष्ट किया गया और वह उनके विरागका कारण उत्पन्न हुआ। कुटुम्बी तुम्हारे गौरवके अंशभागी हैं—उन्हें अपने अंशसे वञ्चित न करना चाहिये।

अतएव देखा जाता है कि जैसे एक ओर कुटुम्बीके आगे नीचा न देखना चाहिये, वैसे ही दूसरी ओर कुटुम्बीके आगे अहङ्कार न करना चाहिये। इस प्रकार दोनों ओर ठीक चलनेके लिये कुटुम्बताके व्यवहारको यत्न पूर्व्वक सीखना चाहिये। कुटुम्बीलोग ही सुसामाजिक होना सिखाते हैं। अपने परिवारसे वह शिक्षा नहीं मिलती। प्रणयास्पद मित्रोंसे भी वह शिक्षा नहीं मिलती। कुटुम्बीगण इतने प्रयोजनीय होनेके कारण ही इतने समादर और गौरवके वस्तु हैं।

कोई कोई अशिक्षित दुर्व्वलमनवाले मनुष्य कुटुम्बताकी यथार्थ प्रकृतिको समझकर भी कुटुम्बताके व्यवहारमें सच्ची राहका अनुसरण कर नहीं सकते। वे लोग कुटुम्बियोंमें मन ही मन दो दल बना लेते हैं। उन दो दलोंमें वह एक दलके प्रति साहङ्कार व्यवहार करते और दूसरे दलके आगे विनीत और विनम्र रहते हैं। इनमें कन्या सम्प्रदाता कुटुम्बियोंका एक दल और कन्यागृहीता कुटुम्बियोंका दूसरा दल होता है। वे लोग प्रथम दलको पीड़ित करते और दूसरे दलकी खुशामद करते हैं। ऐसा करनेसे सामाजिकताकी उन्हें कोई शिक्षा नहीं मिलती, वरं स्वार्थपरता और दो चार दुष्प्रवृत्तिका ही प्राबल्य होता है, ऐसे व्यवहारसे घरमें भी विषम फल होता है—बहू और कन्याओंमें परस्पर प्रबलतर ईर्ष्याका सूत्रपात हो जाता है।

गृहकर्त्री यदि सुशीला और बुद्धिमती हो तो, वह कुटुम्बियोंमें इस प्रकारका दल भेद और कन्या-बहूमें परस्पर विद्वेषको दूर करती है। वह जैसा

कन्याके ससुरका समादर करती वैसा ही उसके ससुरका भी करती है। समझ लो, कि किसी गृहस्थकी तीन कन्या और एक पुत्रका विवाह हुआ है, गृहकर्त्री सुबोध हैं, उन्होंने अपने चारो सम्बन्धियोंका ऐसा नाम रक्खा। बड़ी लड़कीके ससुरको बड़े समधी, मझली लड़कीके ससुरको मझले समधी। किन्तु पुत्रवधूकी उम्र उनकी तीसरी कन्यासे अधिक थी अतएव पुत्रवधूको तृतीय स्थानीय बना, उन्होंने बहूके पिताका नाम तृतीय समधी रक्खा। छोटी कन्याका ससुर छोटा समधी बना। यह छोटासा उपाय बड़े ही कामका हुआ। पुत्रवधूके पिता कन्याओंके ससुर सम्प्रदायमें ही गिने गये; वे अलग किये नहीं गये। वह गृहकर्त्री जब कुटुम्बियोंके घर सौगात भेजती तब कन्याओंके घर जैसा पुत्रवधूके घर भी ठीक वैसा ही भेजती। त्योहारपर वह कन्याओंकी सासके लिये जैसे कपड़े देती पुत्रवधूकी माताको भी वैसा ही देती। वह बहूका बाप या बहूकी मा कभी कहती न थी। उनका नाम लेने के समय वह उन्हें तृतीय समधी और तृतीय समधिन ही कहा करती थी।

ऐसे ही छोटे छोटे विषयोंसे गृहस्थोंका संसार धर्म है। ऐसे छोटे छोटे कामोंमें ही गार्हस्थकर्म्मोंकी शिक्षा है। हमने जिस छोटेसे कामका उल्लेख किया उसके भीतर कितना विचार, कितनी उदारता है, उसका विचार कर देखनेसे मुग्ध होना पड़ता है।

---

१२ प्रबन्ध।

ज्ञातित्व।

ज्ञाति शब्द इस समय अनेक स्थानोंमें शत्रुबोधक हो पड़ा है। उसने मेरे साथ ज्ञातित्वका व्यवहार किया। ऐसा कहनेसे यह समझा जाता है कि, उसने मेरे साथ शत्रुका व्यवहार किया। कोई कोई हँसीमें उदाहरण देते हुए भी कहते हैं, कि "देखो, छोटा भाई सहोदर सबकी अपेक्षा निकटका ज्ञाति भाई है। किन्तु उसके काम कैसे कैसे हैं। वह गर्भमें आते ही बड़े भाईको श्रीभ्रष्ट करता, उत्पन्न होते ही माताके स्तन और गोदको छीन लेता है। इसके बाद पिताके स्नेहका हिस्सा भी लेता और अन्तमें पैतृक सम्पत्तिके अर्द्धांशसे वञ्चित करता है; ऐसा परमशत्रु और कौन है?"

किन्तु ज्ञाति शब्द हर समय ऐसा भावार्थ प्रकाश नहीं करता। जब समाजने बृहदाकार धारण नहीं किया था, राजतन्त्रता पूरी तरहसे संस्थापित नहीं थी, मनुष्य अपने अपने गोत्रस्वामीके अधीन होकर ही रहते थे ऐसे समय ज्ञातिभाईके अतिरिक्त और कोई पूरा विश्वासभाजन और मित्रताका पात्र हो नहीं सकता था। तब ज्ञातित्वके सम्बन्धमें केवल जन्म-सम्बन्ध ही माना नहीं जाता था। उसमें प्रकृत मित्रता और ममता ही मानी जाती थी।

विचारकर देखनेसे ज्ञातिभाई परममित्र ही हो सकते हैं। ज्ञातिभाइयोंमें परस्पर समहृदयताका यथेष्ट कारण वर्त्तमान है। वंश-मर्य्यादाकी रक्षा और उसी मर्य्यादाका सम्वर्द्धन ज्ञातिभाईमात्रकी इच्छा है। जैसे तुम अपने जिन पूर्व्व पुरुषोंका सम्मान करते, जिनके गौरवको बढ़ाना चाहते जिनके नामसे अपना परिचय देते वैसे ही तुम्हारे ज्ञातिभाई भी पूर्व पुरुषोंका सम्मान करते और सम्भ्रम-वृद्धि करना चाहते तथा उनके ही नामसे अपना परिचय देते हैं।

जब ज्ञातिभाइयोंमें समहृदयताका ऐसा दैदीप्यमान कारण है तब उनके साथ सुख-स्वच्छन्दसे बिताना बहुत कठिन काम जान नहीं पड़ता। स्वयं कुछ अभिमानशून्य होना चाहिये। पूर्वपुरुषोंके प्रति श्रद्धासम्पन्न होना चाहिये और ज्ञातिभाइयोंसे व्यवहारके समय पूर्वपुरुषोंका नाम लेते हुए काम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ज्ञातिभाइयोंके हृदयमें प्रतियोगिताका भाव उत्पन्न नहीं होता है। तुम्हारे साथ उनके जिस प्रधान विषयकी एकता है वह सदा याद रहता और तुम अनायास ही उनकी और सहायता पा सकते हो। तुम जातिभाइयोंसे बातचीतके समय प्रसङ्गवश पूर्वपुरुषोंके चरित्रकी पर्यालोचना करो और अपने क्रिया कलापमें उन्हें अपना साथी बना उन पूर्व-पुरुषोंकी ही पूजा किया करो।

कालभेदसे रीति--नीति आचार-व्यवहार पूर्व पुरुषोंकी रीति-नीति आचार-व्यवहारसे भिन्न हो जानेपर भी पूर्वपुरुषोंकी याद न करना यथेष्ट अनिष्टका हेतु है। स्वर्गीय पितृपितामहादिका स्मरण करनेसे चाहे और कोई फल मिले या न मिले, किन्तु मनमें इस भावका उदय होगा ही होगा, कि इस पृथिवीमें चिर-कालके लिये कोई रहने नहीं आया। फिर इसमें संशय ही क्या है, कि ऐसा होनेसे कितने ही स्थलोंमें दुष्प्रवृत्तिका बल घटेगा ही। इतिहास कहता है

कि प्राचीन मिश्रवासी लोग अमिताचार और अत्याचारको दूर करनेके लिये भोजन-घरमें एक एक मनुष्य-कङ्काल संस्थापित कर रखते थे। जिन्हें सदा पूर्व पुरुषोंके स्मरणका अभ्यास है, उनके मनोमन्दिरमें मानो वैसे ही कङ्काल संस्थापित रहते हैं; सुतरां रिपुदमन अवश्य ही इन सबके अभ्यासी होते हैं। ऐसा ही नहीं कि पूर्व पुरुषोंका स्मरण करनेसे संसारकी अनित्यता और जीवनकी क्षणभंगुरता प्रकट होती है। पूर्व पुरुषगण भक्ति, श्रद्धा और प्रीति-पात्रके रूपमें ही सबके हृदयमें विराजमान हैं। पूर्व पुरुषगण ही मूर्त्तिमान देवता हैं। दूसरोंकी आँखोंमें चाहें वह जैसे मनुष्य हों अपने वंशधरोंकी दृष्टिमें कदाचित कोई खराब देखे नहीं जाते। हम एक उदाहरण द्वारा इस बातको सप्रमाणित करते हैं।

ठगोंका उपद्रव दूर करनेवाले सुप्रसिद्ध कर्नल श्लिमन साहबने जब्बलपुर नगरमें एक शिल्प विद्यालय संस्थापित कर उसमें कितने ही ठग और उनके बच्चोंकी शिक्षाका उपाय ठीक कर दिया था। एक ठग और उसका पुत्र—दोनों ही उस विद्यालयमें शिक्षा पा विलक्षण सच्चरित्र और कार्य्यक्षम हो गये थे। कुछ दिनके बाद उस ठगकी मृत्यु होनेपर उसका पुत्र पितृवियोगसे अधीर हुआ। विद्यालयके सम्पादक कप्तान ब्रोण साहबने उसे धैर्य्य देनेके लिये या किसी और कारणसे उससे कहा,—"तुम्हारा पिता ठग था, उसके नरहत्या करनेकी गिनती नहीं, उसकी मृत्युके लिये इतना शोक करना अनुचित है।" पुत्रने उत्तर दिया,—"मेरे पिता ठग थे, उन्होंने नरहत्या भी की थी सही, किन्तु जिस समय ठग होने और नरहत्या करनेको वे बुरा काम नहीं समझते थे, उस समय उन्होंने यह सब किया। वे जानते थे कि उन सब कामोंमें देवीकी आज्ञा है। कम्पनी बहादुरके यकबाल (शुभादृष्ट) ने उस समय देवीको परास्त किया न था। किन्तु उनमें साहस, वीरता, धीरता और अध्यवसाय जैसा था, उसे तो आप जानते ही हैं।" ठगने भी मर कर अपने पुत्रके हृदयमें देवमूर्त्ति धारण की थी। जो मरता वही स्वर्गीय होता है। अतएव जो लोग पूर्वपुरुषका स्मरण करते, देवताओंके साथ घनिष्ठता होनेके कारण उनका मन भी पवित्र हुआ करता है।

ज्ञातिवर्गका संसर्ग पूर्व पुरुषरूप देवताओंकी पूजाका उत्तेजक है। अतएव जब उनमें किसीसे भी साक्षात् हो, तभी उनकी पूजामें प्रवृत्त होना चाहिये। पूजाके समय अहङ्कार, ईर्षा, विद्वेषादि दुष्ट भावोंसे अवश्य अलग

रहना चाहिये। पूजाके अन्तमें पूजाका शुभ फल आनन्द और प्रीति लाभ अवश्य होगा।

किन्तु ऐसे परम धर्मका साधक—मानस-पूजाका प्रवर्त्तक—जो ज्ञाति संसर्ग है: वह कितने ही स्थलोंमें हमारे विचारके दोषसे पारमार्थिक शुभका साधक हो नहीं सकता। ज्ञातिभाइयोंके साथ हम लोगोंका ऐहलौकिक स्वार्थ सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको पहलेहीसे छुड़ा रखना चाहिये। पहले ही न छुड़ानेसे वह स्वार्थ धीरे धीरे बहुत ही प्रबलरूप धारण करता है। ऐसा होनेहीसे ज्ञातिविरोध भबक उठता है और वह समस्त पारमार्थिक प्रवृत्तियोंको जला डालता है। तुम और तुम्हारे भाई, दोनों ही एक पितृ-मातृ-रूप देव-देवीके उपासक हो। दोनों मनुष्य एकान्तमें बैठ मा-बापकी बातें करो कैसी पवित्रता होगी। कैसा आनन्दाश्रु विगलित होगा! उनकी ऐहलौकिक लीलाओंको याद करनेसे तुम्हारा चरित्र कैसा अपूर्व निर्मलभाव धारण करेगा। परन्तु अभीतक कोई दोष नहीं दिखने में आता है कि तुम लोगोंकी पैतृक सम्पत्तिका कोई बंटवारा नहीं हुआ है। दोनों भाइयोंमें खूब मेल है—मानो हरिहर आत्मा हैं। किन्तु थोड़े ही दिनमें देखोगे कि उस ऐहलौकिक स्वार्थके कारण तुम दोनोंके पारमार्थिकके सम्बन्धमें व्याघात पड़ेगा—पहले माता-पिताकी पूजासे मन हटेगा, इसके बाद कोई किसीसे अपने मनकी बात कह न सकेगा—अन्तमें दोनों हीको राजद्वारमें उपस्थित होना पड़ेगा।

अतएव ज्ञातिभाइयोंके साथ कभी पैतृक अर्थका लगाव न रखना। अभी दोनों भाई मिल पैतृकविषयका बंटवारा कर लो। इस प्रकार नाता तोड़ देशाचारके विरुद्ध है सही, किन्तु पैतृक सम्पत्तिका विभाग करनेके लिये शास्त्रमें स्पष्ट उपदेश है। दायभाग बनाने वालोंने ऐसे विभागकी यथेष्ट प्रशंसा भी की है। अतएव शास्त्रकी रक्षा करो—परिणामदर्शी बनो—पूर्व्वपुरुष पूजारूप महत् धर्मकी राहमें कांटे न बोओ। आँखकी लज्जा छोड़ो—ज्ञाति-भाइयोंके शुभफलके आकांक्षी बनो।

ज्ञातिभाईके साथ पैतृक अर्थके सम्बन्धमें शून्य होना पड़ेगा। किन्तु ज्ञातिभाईके प्रतिपालनमें किसी प्रकार मुँह फेरना न चाहिये। ज्ञातिभाइयोंमें जो सबकी अपेक्षा अधिक क्षमताशाली हैं वे अपनेको गोत्रस्वामी समझें। गोत्रस्वामी गोत्रके राजा हैं—कर लेने वाले राजा नहीं, प्रजापालक

राजा हैं। वह गोत्रके सब लोगोंका सुख-स्वच्छन्द बढ़ानेका यत्न करें। वह यह देखें कि किसे किस कारण कष्ट है और सामर्थ्यके अनुसार उसके दूर करनेकी चेष्टा करें। गोत्रमें किसी मनुष्यके नीच, अपमानित या अक्षम होनेसे उसका दोष गोत्रस्वामीको लगता है। ज्ञातिमें जो प्रधान मनुष्य हैं उन ज्ञातिभाइयोंका ऐसा दोष उन्हें लगना आवश्यकीय है।

एक धर्मावलम्बी मनुष्य सब देशोंमें ही सब समय परस्पर सहायता और उपकार करनेकी चेष्टा करते हैं। खृष्टान लोग खृष्टानके, मुसलमान मुसलमानके और जैनी जैनीके उपकारमें समधिक रत रहते हैं। यदि इस प्रकार एक धर्मावलम्बन एक दूसरेके उपकारका हेतु होता है तो एक पूर्व्व पुरुषके उपासक ज्ञातिभाई कैसे एक दूसरेके लिये उपकारके पात्र हो नहीं सकते।

यह जो प्रवाद है, कि ज्ञाति-विरोध स्त्रियोंकी कुमन्त्रणासे उत्पन्न होता है वह ठीक ही है। स्त्रियाँ जैसा अपने सर्वान्तःकरणसे स्वामी और पुत्रके मंगलकी कामना करती हैं वैसा अपने देवर, देवरपुत्र आदिके मंगलकी कामना सर्वान्तःकरणसे कर नहीं सकतीं। सुतरां यदि ससुर अथवा स्वामी ज्ञातिभाइयोंसे अपना स्वार्थ अलग न कर सबको मिलाये रक्खें तो स्त्रियोंके मुखसे असन्तोष और विरक्ति प्रकट होती है। किन्तु ज्ञातिभाइयोंसे पैतृक अर्थका सम्बन्ध तोड़ देनेपर, तुम देखोगे कि तुम्हारी सहधर्मिणी कभी ज्ञातिभाइयोंके पालन या ज्ञातिभाइयोंके समादरसे मुँह न मोड़ेगी।

१३ प्रबन्ध।

नकली स्वजनता।

स्वजनका अर्थ निजका मनुष्य है। निजके मनुष्य नाना प्रकारके होते हैं। कोई ज्ञातिभाई, कोई कुटुम्बी और कोई मित्र। ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंमें प्रभेदका नियम है,—जैसे कोई निकटका ज्ञातिभाई, कोई दूरका ज्ञातिभाई, कोई निकटका सम्बन्धी और कोई दूरका सम्बन्धी। अशौच अथवा पिण्डके सम्बन्धमें ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंका नैकट्य या दूरत्व समझा जाता है। यह सब बातें शास्त्रकारगण दिखा गये हैं। उस सम्बन्धमें हमें कोई बात

नहीं कहना है। ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंमें निकट तथा दूरत्वके जाननेका बहुत सहज उपाय है। जो तुम्हारे साथ सम्बन्धाधीन हो रूढ नाम प्राप्त हैं, वह तुम्हारे निकटके ज्ञातिभाई या सम्बन्धी हैं, जिनकी योगरूढ़की आख्या होती है वह उनकी अपेक्षा दूरके और जिनकी स्वतन्त्र आख्या नहीं होती है वह सबकी अपेक्षा दूरके ज्ञातिभाई या सम्बन्धी हैं। भाई, बहन, चाचा, मामा इत्यादि तुम्हारे निकटके ज्ञाति हैं। भतीजा, भतीजी, चचेरा भाई, इन लोगोंकी आख्या योगरूढ़ है, यह लोग तुम्हारे दूरके ज्ञाति हैं। दामाद, साले, ससुर प्रभृति मनुष्य तुम्हारे निकटके कुटुम्बी हैं। इनकी भिन्न भिन्न रूढ़ी आख्या तुम्हारे सम्बन्धसे उत्पन्न है। बेहाई पुत्र श्यालक जाया प्रभृति योगरूढ़ शब्द दूरके कुटुम्बी वाचक हैं। हम जब ज्ञातिभाई या कुटुम्बीकी बात लिखें, तो निकटके कुटुम्बी ही समझना चाहिये।

इस प्रबन्धमें हम कुटुम्ब प्रभृति स्वजनके सम्बन्धमें कोई बात न कहेंगे। एक प्रकार जो कृत्रिम या बनावटी स्वजनता हैं हमने उनके ही विषयमें इसमें कुछ कहने का विचार किया है।

स्त्रियाँ सम्बन्ध बनानेमें विशेष चतुरा जान पड़ती हैं। सखी, मकर, गंगाजल, गोलापफुल आदि अनेक विचित्र सम्बन्ध बनानेके नाम इसमें प्रमाण हैं। स्त्रियोंमें यौवनावस्थामें सम्बन्ध जोड़नेकी अधिक प्रवृत्ति होती है। उम्र अधिक होनेपर भी यह प्रवृत्ति पूर्णरूपसे नहीं घटती। तब माँ, बेटी, बहू, बेटाका सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध जोड़नेके लिये खूब आना-जाना, निमन्त्रण, आमन्त्रण और सौगात का लेन-देन चलता है। इससे घरका काम बहुत ही सुविस्तृत हो पड़ता है।

बराबर देखा जाता है, कि यह काम पुरुषोंके लिये अश्रद्धेय है। वह लोग इसकी ओर अवज्ञा दिखाते और कभी कभी विरक्ति प्रकाश किया करते हैं। किन्तु लगावका सम्बन्ध किस लिये इतना अश्रद्धेय और विरक्तिकर है यह पूछनेपर कोई उसका सदुत्तर दे नहीं सकते।

वास्तवमें लगावके सम्बन्धमें विरक्त होनेका कोई प्रकृत कारण नहीं है। पृथिवीमें कोई सदा रहने नहीं आया। कुछ दिनके लिये यहाँके आमोद प्रमोद हैं और वह आमोद-प्रमोद भी अन्यान्य चार आदमियोंके साथ हुआ करता है। आप ही खाने पहननेसे सुख नहीं होता, चार आदमियोंको खिलाने-पहनानेमें सुख है। जब हमलोग ऐसी अवस्थामें अवस्थित हैं, तब चाहे जिस प्रणालीसे

हो संसारमें रह जितने अधिक आदमियोंसे सम्बन्ध हो, उतना ही उसे अच्छा कहना पड़ेगा। अनुदार और छोटे चित्तके मनुष्य ही अपने और परायेका बहुत विचारकर चलते हैं। उनका मन धीरे धीरे सङ्कुचित हो अपनेके अतिरिक्त और किसीको अपना देखना नहीं चाहता। परायेको अपना बनाना ही सच्चा काम है; विचारकर देखनेसे ' नाहं " को " अहं " करनेके अतिरिक्त पृथिवीमें और कुछ काम नहीं है। कुछ देखो, कुछ सुनो, कुछ समझो, कुछ कहो, कुछ करो, चाहे जो कहो, जो तुम्हारा निजका नहीं, उसे अपना बना लेना ही इसका तात्पर्य्य है। ज्ञाति-कुटुम्बी तो अपने हैं ही, जिनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उनको अपना बनानेके लिये ही सम्बन्ध जोड़नेकी व्यवस्था है।

पुरुषगण जिस कारणसे प्रणोदित हो जिस प्रणालीसे परस्पर मित्रता करते हैं, स्त्रियाँ भी ठीक उसी कारणसे उत्तेजित हो उसी प्रणालीसे सम्बन्ध जोड़ा करती हैं। विशेषता यह है कि, पुरुषोंकी मित्रतामें विशेष विशेष नामकरणोंका उतना आधिक्य नहीं होता जो स्त्रियोंमें होता है। उसकी मीमांसा करनेके लिये पहले यह जानना चाहिये कि कुछ दिन पहले इस देशके पुरुषोंमें भी मित्रताके ऐसे ही नामकरण होते थे। अब भी दूरवर्त्ती गांवोंमें पश्चिमोत्तर वासियोंके किसी किसी सम्प्रदायमें यह प्रथा लोप नहीं हुई है। लेखकके पितृपर्य्यायस्थ लोगोंमें 'मित्र' 'सङ्गी' 'बन्धु' 'भाई' नाम जोड़नेकी प्रथा अच्छी तरह प्रचलित थी। राजस्थान प्रदेशमें राखीबन्ध भाई सहोदर भाईकी अपेक्षा भी समधिक समादरके योग्य हैं। जैनमतावलम्बी ओसवाल लोग ' भाई ' नाम रख कितने ही अज्ञात कुलशील निरन्न मनुष्योंका प्रतिपालन किया करते हैं। प्राचीनकालमें सब देशोंमें ही सम्बन्ध जोड़नेकी व्यवस्था स्त्री पुरुष दोनोंमें ही समान थी। वैवाहिक आचार उसका स्पष्ट प्रमाण देता है। हम लोगोंके वैवाहिक व्यवहारमें जो 'मितवर' (सहबाल) और 'मितकन्या' (सहेली) का समावेश दिखाई देता है, वह वरके मित्र और कन्याकी सहेलीके रूपमें जाने जाते हैं। अङ्गरेजोंमें भी 'ब्राइडस् मेन' और 'ब्राइड्स्मेड्' वर-कन्याके स्वजन-स्वजनीके स्थानमें होते हैं। फलतः सम्बन्ध जोड़नेका काम मनुष्यस्वभावके सुलभ प्रणयकी प्रवृत्तिका स्वतःसिद्ध कार्य्य है। यह उदारता साधनका प्रथम सोपान और इच्छाशक्तिकी स्वाधीनताका परिचायक है।

तब ऐसा क्यों हुआ कि, यह प्रथा कभी सबल कभी दुर्बल, पुरुषोंमें कम स्त्रियोंमें अधिक, किसी देशमें प्रचलित कहीं लुप्त हो रही है? इस प्रश्नके

उत्तरमें हम और एक प्रश्न करेंगे। धर्म्म प्रवृत्तिका मूल जो पूर्णावस्थाकी प्राप्तिकी इच्छा है वह मनुष्यजातिके लिये साधारण है, तब देशभेद, समयभेद, जातिभेदसे धर्मज्ञानका इतर विशेष क्यों होता है? जड़ोपासना, पौत्तलिकता, आत्मोपासना प्रभृति उपासनाओंमें भेद क्यों उत्पन्न होता है? धर्म्म और प्रणय की प्रणाली गङ्गा यमुनाकी तरह एक ही मूलसे उत्पन्न हो, एक ही ओर एक उद्देश्यसे प्रधावित और परिणाममें एकही ओर चलती है। धर्म्मोन्नतिके सोपानमें जैसे पौत्तलिकताकी अवस्था है, वैसे ही प्रणयोन्नतिके सोपानमें सम्बन्ध जोड़ने की अवस्था है।

सामाजिक उन्नतिके साथ भी धर्म्म और प्रणयोन्नतिका एक गूढ़ सम्बन्ध है। जबतक मनुष्य-समाज एक एक गोत्र अर्थात् मिलित परिवारका आकार धारण करता है, तबतक धर्म्म सम्बन्धमें जड़ पदार्थ विशेषकी उपासना प्रबल होती है और प्रणय-प्रणालीका जाति-सम्बन्धियोंसे ही सम्बन्ध रहता है। इसके बाद समाजमें बहुतेरे गोत्रोंके बढ़नेपर धर्म्मप्रणाली पौत्तलिकताका आकार ग्रहण करती है। प्रणयकी प्रवृत्ति कृत्रिम स्वजनताके संगठनमें नियुक्त होती है। अन्तमें समाजकी जटिलता और विपुलताके समुद्भूत होने पर धर्म्म नाम हीन एकेश्वरवादरूपमें प्रतीयमान और प्रणयवृत्ति आख्यानशून्य बन्धुतामें चरिचार्थ होती है। मनुष्य समाजके और भी जटिल और रूपान्तरको प्राप्त होनेपर, पृथ्वीमय साधारणतन्त्रता और प्रजातन्त्रताके प्रचलित होनेपर, राजव्यवस्था राजाकी मध्यवर्त्तिताके विना कार्य्यकारिणी होनेपर, इसे मनही मन समझना चाहिये कि, प्रणयप्रवृत्ति फिर किस प्रकार चरितार्थ होनेकी चेष्टा करेगी; यह बातोंसे प्रकट करने योग्य नहीं है।

इस देशमें स्त्रियोंका समाज अब भी छोटा है। इतना छोटा कि कितनी ही जगह वह स्वसम्पृक्तके अतिरिक्त और किसीका मुख भी देखने नहीं पातीं। जहां उनके समाजने उस अवस्थाका अतिक्रम किया है वहां अन्यान्य परिवारोंके साथ उनका सन्दर्शन और साहचर्य्य उत्पन्न हुआ है। वहां ही कृत्रिम स्वजनताका भी उद्यम हुआ है। किन्तु सम्बन्ध जोड़ना प्रणयोन्नतिका लक्षण है—प्रणयोन्नतिका चरम फल नहीं। इसी प्रकार पौत्तलिकता भी धर्म्मोन्नतिका लक्षण है—उसका चरम फल नहीं। किसी अवस्थाकी तुलनामें पौत्तलिकता अपकृष्ट है, फिर किसी अवस्थाकी तुलनासे वह उत्कृष्ट है। सम्बन्ध जोड़नेका व्यापार भी वैसा ही है—किसी

अवस्थामें अपकृष्ट और किसी अवस्थामें उत्कृष्ट। एक एकके लिये आदरणीय और दूसरेके लिये अवज्ञेय है।

किन्तु कृत्रिम-स्वजनता श्रद्धेय हो या अवज्ञेय इसमें सन्देह नहीं, कि उसके अवलम्बनसे संसाराश्रमी मनुष्यको एक अच्छी शिक्षा मिल सकती है। यदि तुम्हारे परिवारमें उसका सूत्रपात हो, तो निश्चय समझ लो कि, वह तुम्हारे लिये अश्रद्धाका विषय हो नहीं सकता। तब तुम्हें इस विषयमें यत्नवान होना चाहिये, जिससे उस व्यापारमें शुभ फल फलें। ऐसा उपाय करो, जिससे प्रणय बलवान हो। अपनी स्त्रीकी 'सङ्गिन्' 'दोस्तिन' को अपनी सङ्गिन दोस्तिन प्रभृति यथायोग्य नामसे सम्बोधन करो; सामर्थ्यके अनुसार उनके सुख दुःखके अभिभावक बनो। उनकी सन्तान सन्ततिकी पीड़ासे कातरताका अनुभव करो। समय समयपर स्त्रीके कहनेसे पहले उनकी सङ्गिनोंको सौगात भेजने कहो। कृत्रिम स्वजनगणको सौगात भेजना बहुत ही सहज काम है। उनके साथ प्रणयका सम्बन्ध, मान-सम्भ्रम, वंश मर्य्यादाका सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, जैसी सुविधा हो, वैसा ही सौगात भेजो। यह लोग तुम्हारे स्थानमें केवल स्मरणके प्रार्थी हैं। अतएव एक झांपी तरकारी भेजनेसे भी उनके लिये सौगात हो सकता है। सौगातकी सामग्रीको वह किसीको दिखानेके अधिकारी नहीं। वह आप ही उसका भोग कर सकते हैं और ऐसा ही करते हैं। कृत्रिम स्वजनवर्गको क्रियाकाण्डके समय बुलावा न देनेसे भी कोई क्षति नहीं। यदि बुलाओ भी, तो उनके हाथ किसी कामका भार न दो। कामका भार देनेसे प्रायः ही जाति भाइयों और कुटुम्बियोंके साथ उनका मनोमालिन्य और मतान्तर हो कष्टका कारण बन जाता है। किन्तु प्रीतिभोजमें कृत्रिम स्वजनगणको अवश्य बुलाना चाहिये, ऐसे स्थलमें वही सर्व्वमय कर्त्ता हैं।

कृत्रिम स्वजनगणमें किसी किसीको भोजनादिका उपलक्ष्य न होनेपर भी निमन्त्रण दे बुलाना असङ्गत नहीं। असङ्गत तो क्या, वही अच्छा है। तुम स्वयं जो तरकारी और अन्न खाते हो, वही अन्न उन्हें खिलानेमें कोई मानापमान नहीं। केवल एकत्र भोजन, एकत्र रहना ही प्रीतिपात्रोंके लिये यथेष्ट है। कृत्रिम स्वजनतामें कुटुम्बताका व्यवहार बिलकुल परिवर्ज्जनीय है। ऐसी जगह कुटुम्बता बरतनेसे ही दोष होता है; स्वजनताका शुभ फलजो प्रणय-

वृद्धि है यह न हो ईर्षा, प्रतियोगिता, अभिमानादि समुत्पन्न होता और घरके कामोंमें बहुत ही असुविधा होती है ।

स्त्रियों द्वारा ही कृत्रिम स्वजनता अधिक बढ़ती है । किन्तु उनमें कितनी ही स्त्रियां इस सम्बन्धके सच्चे मतलबको न समझ प्रायः कुटुम्बताके साथ उसे एक कर डालती हैं । ऐसे स्थलमें पुरुषोंका यह कर्त्तव्य है कि, वह अश्रद्धा या औदासीन्यका अवलम्बन न कर अपनी अपनी गृहिणीको अच्छी तरह दिखा दें । यह काम बहुत कठिन नहीं । तुम्हारे बन्धु हैं ? एकदिन प्रातः काल तुम एकायक कहो, कि आज उनके साथ तुम एकत्र भोजन करोगे । भोजनके लिये किसी विशेष उद्योगको भी बन्द करो । फिर किसी दिन तुम्हारे मित्र तुमसे मिलने आये हैं, भोजनका समय उपस्थित होने पर उन्हें साथ ले भोजन करने बैठो । "उद्योग कुछ भी नहीं हुआ ।" "नहीं हुआ है तो क्या ?" विचारपूर्वक तुम्हारे ऐसा व्यवहार करनेपर तुम्हारी स्त्री भी अपनी सङ्गिन दोस्तिनके साथ वैसा ही व्यवहार करना सीखेंगी । " क्या तुमने अपनी बहनको बुलानेके लिये आदमी भेजा ? किन्तु अपनी सङ्गिनको न बुलवाया ? " * * *

"लड़केके विवाह, यज्ञोपवीत, अन्नप्राशन दादी-दादाके श्राद्धादिमें मैं सङ्गिनको बुलाना ठीक नहीं समझती । उस महीने जब तुम छुट्टीपर आओगे तब मैंने विचार किया है कि साथिनको बुला दस दिन अपने घर रखूँगी" । जिस स्त्रीने यह उत्तर दिया वह कृत्रिम-स्वजनताके सम्बन्धमें जो समझना चाहिये वही समझती है ।

---

१४ प्रबन्ध ।

अतिथि-सेवा ।

"एक कौड़ी पास न रखकर भी भारतवर्षमें ग्राम ग्राममें घूमा फिरा जा सकता है ।" इस कहावतपर मैं पूरा विश्वास करता था—करनेका कारण यह था, कि पहले इस देशमें अतिथि-सत्कारकी प्रथा जैसी बलवती थी, इस समय वह क्रमशः उसकी अपेक्षा हीनबल हो गई है । पहले किसी गृहस्थके घर एक अतिथिके आने पर अतिथि लौटाया तो जाता ही न था—मकानमें मानो हड़कम मच जाता था । घरके स्वामी नम्रता और धीरताका अवलम्बन कर आग-

न्तुकसे परिचय और बात करते, पूछते कि घरमें तय्यार अन्न ग्रहण करेंगे या अपने हाथ बनायेंगे, यह सब प्रश्न वे बड़े ही सङ्कोचके साथ करते थे। घरके अन्नादि ग्रहण करनेका विचार सुन वे कृतार्थ होते और अपने हाथ बनानेका विचार सुन अच्छी तरह शुचि हो सब तय्यारी करनेके लिये किसी मनुष्यको आज्ञा देते थे। किसी किसीके घर अतिथिका भोजन समाप्त या कमसे कम भोजनके लिये बैठ जाने तक कोई जलग्रहण करते न थे।

अब आजकल वैसा व्यवहार दिखाई नहीं देता। आजकल अपना ही बनाया भोजन करने वाले अतिथि शहरकी बात तो दूर रही ग्रामोंमें भी पूरी तरह आदर नहीं पाते। जो गृहस्थके घरका बना अन्न आदि ग्रहण करने पर सम्मत हैं वे भी असमय आनेसे गृहस्थके लिये विरक्तिकर हो जाते हैं। जान पड़ता है, कि ऐसे स्थलमें गृहस्थ सतर्क नहीं होते। किसी किसी जगह तो बहाने बहाने यह भी कहा जाता है, कि दुकान समीप ही है। सराय है, सदावर्त्त और होटल भी है। इसके फलसे भले आदमी प्रायः कभी अतिथि बन किसी गृहस्थके द्वार जाने पर राजी नहीं होते। यहाँके अतिथि-गणमें अधिकांश मनुष्य संन्यासी या साधु हैं। यह लोग प्रायः सदावर्त्तसे पेट भर गांजा पीते फिरते हैं। तात्पर्य्य यह है कि कालक्रमसे सच्चे अतिथिसत्कारके उठ जानेका आयोजन हो रहा है। जबतक एकान्नवर्त्तिता रहेगी जबतक उदर और स्वाच्छन्द्यकी चिन्ताके उद्वेगमें इस देशके लोग यूरोपीय मनुष्योंकी तरह उद्वेजित हो न उठेंगे तबतक आतिथ्यका व्यापार बिलकुल ही लोप न होगा। किन्तु यूरोपीय प्रणालीकी सभ्यता बढ़नेके साथ जितना इस देशके लोग स्वातन्त्र्यका अवलम्बन करेंगे तथा आपसके या आये हुए अन्य जातिकी प्रतियोगितासे बिलकुल ही उद्विग्न हो सांस खींचनेका अवसर न पायेंगे उतना ही यूरोपकी तरह इस देशमें भी आतिथ्य धर्म्मका ह्रास होगा।

किन्तु अभी वह दिन नहीं आया। अब भी अतिथिका सत्कार करना गृहस्थ मनुष्योंके कर्त्तव्यकर्म्ममें गिना जाता है। अब भी हम अपने इस धर्म्म-पालनके फल भागी हो सकते हैं।

हम यहां जिस प्रकारके अतिथिसत्कारकी बातपर विचार करते हैं वैसे अतिथि सदा नहीं मिलते। वह कोई परिचित या क्रियाके उपलक्षमें निमन्त्रित मनुष्य नहीं। वह कोई भले आदमी हैं,—कार्य्यगतिसे असमय तुम्हारे घर आ उपस्थित हुए हैं। समझ लो, दोपहरका समय बीत गया है,

उनका स्नान, भोजन नहीं हुआ तुम कैसे उनका समादर या अभ्यर्थना करोगे? हमारे विचारसे तुम्हें यह करना चाहिये कि, शीघ्रतापूर्वक तुम उनके स्नान, भोजनका प्रबन्ध कर दो। अच्छी तरह पांच प्रकारका व्यञ्जन खिलानेमें विलम्ब न करो। स्वयं अपने हाथ उनके लिये कुछ प्रबन्ध करो। सभी काम नोकर, चाकरपर छोड़ निश्चिन्त न हो जाओ। दूधके बच्चेको छोड़ घरके सब लोगोंके लिये जितना दूध रहता है, उसमेंसे थोड़ा थोड़ा ले अतिथिको भी दो; अर्थात् जिनकी समझने योग्य उम्र है, वह समझ सकें, कि अतिथिके लिये उन लोगोंकी सामग्रीसे कुछ कुछ घट गया है। अतिथिके आगे अपने ऐश्वर्य्य या अभिमान दिखानेका आड़म्बर न करना किन्तु जिस दिन घरमें अतिथि आये हैं उस दिन घरमें ऐसी चेष्टा करना चाहिये, जिससे और सबकी अपेक्षा अतिथिका भोजन अच्छीतरह हो। यदि अतिथिसत्कारमें घरकर्त्ता गृहिणी और वयःप्राप्त सन्तानोंके उपभोगमें कुछ त्रुटि न हो, तो अतिथिसत्कारका समग्र फल नहीं होता; किन्तु जिसके घर किसीके उपभोगमें त्रुटि न हो अतिथिका पूरी तरहसे सत्कार होता, उस घरमें मितव्ययिताके नियम भी यथारूपसे प्रतिपालित नहीं होते ऐसा कहा जा सकता है।

अतिथिके साथ बातचीतके समय उनका विशेष परिचय न पूछो। यदि तुम कुछ विदेश पर्य्यटन कर चुके हो, तो उसीके सम्बन्धमें बात करना अच्छा है। विशेषतः यदि तुमने भी कभी अतिथि हो अच्छा सत्कार पाया हो, तो वही बातें कहो; वह अतिथिके लिये अच्छी तरहसे हृदयग्राहिणी होगी।

कभी कभी ऐसे मनुष्योंको अतिथि होना पड़ता है जो केवल स्थान और किसी द्रव्यके प्रार्थी होते हैं। हम लोगोंकी प्राचीन रीतिके सच्चे तात्पर्य्यको समझनेमें असमर्थ कोई कोई मनुष्य ऐसे अतिथिके प्रति यथोचित व्यवहार कर नहीं सकते। वह लोग कहते कि यदि वह हमारा द्रव्य ही न खायेंगे, तो हम केवल जगह क्यों दे? अथवा यदि सीधा ही न लेंगे, तो थोड़ासा दूध या तरकारी देनेसे क्या होगा? ये सब मनुष्य शास्त्रके कहनेके अनुसार अतिथिसेवासे जो पुण्य लाभ होता है उस पुण्यके ही लोभी हैं। किन्तु लोभ महापाप है। अतएव ऐसा पुण्यका लोभ भी छोड़ना चाहिये। जिसे जिसकी आवश्यकता हो, उसे वही देना चाहिये। तुम्हारे

घर बैठे अतिथि अपना द्रव्य खायेंगे इसमें लज्जा करना राजस प्रकृतिका लक्षण है, विशुद्ध सात्विक स्वभावका लक्षण नहीं।

इसमें भी एक बात है. ऐसे अतिथिके पास स्वयं बातचीत करनेकी आवश्यकता नहीं। उनके लिये अपने हाथ कुछ जुटा देनेका भी प्रयोजन नहीं। उनकी सेवाके लिये दास दासियोंको लगा शीघ्र अतिथिकी आज्ञापालनके निमित्त आज्ञा दे देना ही यथेष्ट है।

गृहस्थके लिये अवश्य प्रतिपाल्य दानधर्मके सम्बन्धमें और भी दो एक बातें करना अप्रासङ्गिक नहीं। मुष्टिभिक्षा देनेको हम सत्कार्य्य ही समझते हैं। भिखारीका शरीर सबल और कर्म्मक्षम है, अतः उसे भिक्षा लेना उचित नहीं उसे मेहनत करके खाना ही अच्छा है। यह सब विचार गृहस्थोंको करना न चाहिये, यह समाजके विचारका विषय है। तुम्हारे द्वार जो भिखारी आवे तुम उससे घृणा या अवज्ञा न कर. नोकर-नोकरानियोंसे भी कटुवचन न कहला उसे मुट्ठीभर भिक्षा दो। वह आशीर्वाद दे चला जायगा। भिक्षा देनेका काम लड़कोंके हाथ कराना ही अच्छा है। मुष्टिभिक्षाके अतिरिक्त और भी कितने ही प्रकारके चन्देमें गृहस्थोंको अन्नदान करना पड़ता है। विद्यालयके लिये, पुस्तकालयके लिये, डाक्तरखानेके लिये, बाप-मांके श्राद्धके लिये, दुर्भिक्ष पीड़ाके निवारणके लिये इस प्रकार गृहस्थको प्रायः हर महीने कुछ न कुछ दान देना पड़ता है। हमारे विचारसे इन सब प्रार्थियोंको लौटाना न चाहिये। सबको कुछ न कुछ दान देनेकी चेष्टा करना चाहिये। इसमें एक बात हैः—देंगे कह कर न देना, न देनेसे भी अधिक दोषावह है। वरं आखोंकी लज्जा छोड़ एक बारगी ही न देंगे कहना अच्छा किन्तु देना स्वीकार कर किसी प्रकार टालमटाल करना अच्छा नहीं। यदि देनेको कहो, तो ठीक समयपर यथा परिमाण दे दो। दानधर्म्मका मूलसूत्र यही है, कि दाता ऐसे भावसे दान करें जिससे गृहीताको जान पड़े, कि वे दान करनेमें अपनेको उपकृत और कृतार्थ समझते हैं। दानधर्म्मके इस मूलसूत्रको पूरी तरहसे संरक्षित रखनेके लिये ही शास्त्रकारोंने वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दानका मुख्यपात्र बना दिया है। धर्म्मोपदेष्टा संसार विरागी ब्राह्मणगण दान ले आत्मग्लानिके भाजन नहीं होते। वह ऐसा समझ सकते हैं, कि उन्होंने दान ले दाताका ही विशेष उपकार किया।

---

१५ प्रबन्ध ।

परिच्छन्नता ।

परिच्छन्नता और पवित्रता एक पदार्थ नहीं—किन्तु प्रायः एक भी हैं। ऐसा न समझना चाहिये कि जो पुरुष या स्त्री बाहरसे देखनेमें साफ और परिच्छन्न हैं वह भीतरसे भी विशुद्ध और सुव्यवस्थित होते हैं; किन्तु जिसका मन विशुद्ध है उसे परिष्कार और परिच्छन्न अवश्य ही होना पड़ता है। बाहरी व्यापारोंको हेय समझना हमारे धर्म्मशास्त्रके प्रकृत तात्पर्य्यको न समझनेका ही फल है। पृथ्वी कुछ नहीं—शरीर कुछ नहीं—संसार कुछ नहीं—इन सबके प्रति यत्न और आदर करना क्षुद्राशयताका लक्षण है; शास्त्रमें ऐसी बातें हैं सही; किन्तु देह और गृहस्थित सब सामग्रियां सुविशुद्ध और सुपरिष्कृत रखनेकी अवश्य कर्त्तव्यता भी शास्त्रमें यथोचित परिमाणसे उल्लिखित हैं। घर और गृहस्थीके द्रव्योंका यथोचित लीपना, और धोना, स्नान, भोजन, आचमन, वस्त्रादिका परिवर्त्तन आदि व्यापार हम लोगोंके अवश्यकरणीय नित्यके काममें गिना जाता है। विशेषतः गृहस्थके घर देवविग्रह और ठाकुर घर बनानेकी व्यवस्था करके सब गृहस्थोंकी शुचिता और परिच्छन्नताका एक एक आदर्श दिखाया गया है। जिस भावसे ठाकुर घर रहे, उसी भावसे सब घर रहना चाहिये। पिता, माता, ससुर, सास प्रभृति गुरुजनका घर और महागुरु स्वामीका घर क्या ठाकुर घर नहीं है?

वस्तुतः शुचिताप्रिय यहूदियोंके घर संक्रामक रोग बहुत कम होता है। उसका कारण यह है, कि उनके धर्मशास्त्रमें घर और घरकी सामग्रियोंके बहुत ही सुपरिष्कृत रखनेका आदेश है। यहूदीगण अपने धर्म्मशास्त्रको भक्तिपूर्वक मानते हैं। सभी लोग साफ रहना चाहते हैं,—यह धर्म्म, स्वास्थ्यकर और साक्षात् सुखप्रद है किन्तु हम यह भी कहेंगे, कि परिष्कार और परिच्छन्न होकर रहना कुछ कठिन काम है। बिना लक्ष्मीके अधिष्ठानके परिष्कार और परिच्छन्न रहना कठिन है किन्तु परिच्छन्नताकी रक्षाके लिये सदा चेष्टा करनेसे लक्ष्मीके अधिष्ठानकी भी विलक्षण सम्भावना है, इसलिये परिच्छन्नता साधनका मूलमन्त्र लक्ष्मी साधनके मूलमन्त्रसे अभिन्न है। उन मन्त्रोंमें कई एक हम कहते हैं।

द्रव्यका अपचय सम्पत्ति-सञ्चयका विरोधी व्यापार है। गृहोपकरण-की पूरी तरहसे रक्षा करनेके लिये उन सबको छोड़ रखना ठीक नहीं; उन्हें यत्नके साथ रखना चाहिये। उनके रखनेसे ही घरकी परिच्छन्नता सम्पादित होती है।

सब द्रव्योंसे कोई न कोई प्रयोजन साधित होता है। कटा कागज, कटी लकड़ी, फूसके तिनके, घरकी आवर्जना—यह सब पदार्थ भी बिलकुल अकिञ्चित्कर नहीं। कटे कागज और लकड़ीके टुकड़ोंको घरमें इधर उधर फेंक न रखो। एक निर्दिष्ट स्थान या पात्र रखो, कुछ ही दिनमें वह इतना जमा हो जायेगा, कि उसके बदलेमें कुछ नया कागज मिल सकेगा। अन्नका भूसा, दालकी भूसी, घरमें छिड़का रहने पर घर गन्दा दिखाई देगा। उसे उठा-कर किसी पात्रमें जमा करो; वह पलुई गौ, बछरे और बकरीके खानेके लिये होगा। घरमें झाडू देनेसे जो धूल और कचरा निकलता उसे भी जमा-कर खेतमें फेंक देनेसे वह अच्छा खाद बन जाता है। अतएव परिच्छन्नता साधनका एक प्रधान सूत्र यह है कि, उस प्रकार द्रव्योंके अलग अलग रख-नेका स्थान और पात्र निर्दिष्ट कर रक्खो। जो द्रव्य जहांका है, उसे वहीं रखनेका अभ्यास करो। स्वयं अभ्यास करो और परिजनगणसे भी अभ्यास कराओ। ऐसा करने और करानेका अभ्यास करनेसे ही कितना ही परिश्रम बच जायगा और घर-द्वार चमकता हुआ दिखाई देगा।

द्रव्यको ठीक प्रकारसे न रखनेसे वह सम्मत्तिकी रक्षा और सम्पत्ति-वृद्धिके प्रतिकूल होता है। सुतरां घरके द्रव्योंको इस प्रकार न रखना चाहिये, जिससे वह अण्डबण्ड हो। किसी द्रव्यके टूटने कटने या किसी कामसे बाहर निकलनेपर उसे शीघ्र हटा या बदल लेना चाहिये। इस नियमके प्रतिपालनका अभ्यास होनेसे कितने ही अतिरिक्त खर्चसे बचाव होता और घर भी परिच्छन्न रहता है।

घर और घरके द्रव्यादिके शीघ्र शीघ्र विनष्ट होनेपर शीघ्र ही धनक्षय होता है। धूप, जल, वायु और कीड़ेसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न रूपसे सदा ही क्षय होता रहता है। अतएव द्रव्योंको ऐसी अवस्थामें रखनेकी चेष्टा करना चाहिये कि जहांतक सम्भव हो वैसा क्षय होना दूर हो सके। रगड़ न खाने, मैल न जमने और मोरचा न लगनेसे सब द्रव्य अधिक दिन ठहरते हैं। अतएव इसके लिये यत्न करनेका अभ्यास करना

चाहिये, जिससे घर और घरके सामान यथापरिमाण सूखे, साफ और चमचमाते रहें। ऐसा करनेसे ही शुचिता साबित होती है।

घरके रहनेवाले सबको ही शुचि रखना आवश्यकीय है, ऐसा अर्थशास्त्र और शारीरिकशास्त्र दोनों शास्त्रोंका अभिमत है। इस विषयमें अधिक बातें निष्प्रयोजन हैं; अब हम इतना ही कह कर इस प्रबन्धको समाप्त करेंगे, कि घरके पाले जीवगण, अपने सन्तान सन्तति और दासदासी आदि परिजनगणकी शुचिता करनेसे ही सब काम न होगा। गृहिणीको भी सुवेशा हो रहना चाहिये। जो गृहिणी सदा घरके काममें लगी रह स्वयं शुचि और सुसज्जित रहना नहीं चाहती उसके हृदयमें एक गूढ़ अभिमान है-वह अच्छी नहीं; और जो चेष्टा करके भी साफ रह नहीं सकतीं, उनका लक्ष्मीचरित ज्ञान अब भी पक्का नहीं हुआ। जो बांदी और बीबी दोनों ही बन सकती हैं, वही लक्ष्मी हैं—वही सम्पत्ति और शोभा दोनों हीकी अधिष्ठात्री देवता हैं।

---

१६ प्रबन्ध।

नौकरका प्रतिपालन।

कितने ही लोग यह कहते हैं, कि नौकर चोरी करता है; किन्तु हमें दृढ़ विश्वास है, कि नौकरोंमें जितने दोष हैं, वह सब प्रायः मालिकसे उत्पन्न होते हैं। चोरी, शठता, धूर्तता, मिथ्या बोलना—यह सब भीरुताके काम—निष्ठुरताके अवश्यम्भावी फल हैं। तुम नौकरको पीड़ित करो, तो उसका ऐसा ही फल पाओगे।

मालिकको यह समझना चाहिये, कि जो लोग उनके बिलकुल ही अधीन हैं, उनके प्रति रूखा व्यवहार बुरा है। उनपर कठोर व्यवहार करनेसे अपना मन कठिन और प्रवृत्ति नीच होती है; और उनके दोषका संशोधन नहीं होता। किसी किसी मकानके मालिक नौकरोंको मारते हैं। कैसे कहें, जो ऐसा करते हैं, वह हमारी आँखोंमें बड़े ही नीच प्रकृतिके हैं। तुम्हारे मारनेपर यदि नौकर भी मारकर तुम्हें उसका बदला देता, जब तो कोई बात ही न थी। किन्तु जब नौकरको सामर्थ्य नहीं कि वह तुम्हारे शरीरपर हाथ लगावे तब तुम किस विचारसे उसे मारनेपर तय्यार होते हो? यदि कहो, कि बाप लड़केको मार सकता है किन्तु लड़केकी सामर्थ्य,

नहीं, कि वह बापके शरीरपर हाथ लगावे। हम भी ऐसा ही कहते हैं। जिस भावसे तुम लड़केके शरीरपर हाथ लगाते हो उसी भावसे नौकरोंपर भी हाथ लगा सकते हो। किन्तु आजकल लड़कोंको मारनेकी भी प्रथा कम हो रही है। शिक्षा विधानसे प्रायः शारीरिक दण्ड उठ गया। किन्तु लड़केके प्रति प्रहारकी कमी हो नौकरोंपर वह बढ़ क्यों रहा है?

हम निश्चय कह नहीं सकते किन्तु ऐसा जान पड़ता है, कि नौकरोंके मारनेका रोग हम लोगोंमें संक्रामक हो रहा है। वह अवैध अनुकरणका फल है। अंगरेज मालिक लोग इस देशके नौकरोंको मारते हैं। जो साहबोंके सब कामोंको आदरकी दृष्टिसे देखते वह भी नौकरोंको मारते हैं। किन्तु वह लोग विचार कर देखें, कि अङ्गरेज लोग स्वजातीय नौकरोंपर बहुत हाथ नहीं उठाते। एक मोटी बात यह है, कि शारीरिक दण्डका मनुष्य द्वारा मनुष्यपर चलाना ठीक नहीं: उसका पशुके प्रतिही प्रयोग हो सकता है। विजित, विमर्दित, अवज्ञात मनुष्योंको गर्वित स्वभावके लोग पशुके समान समझ सकते हैं। किन्तु एक वर्णसम्भुक्त, एक भाषाभाषी, एक धर्म्मावलम्बी नौकर और मालिकमें ऐसा ज्ञान सम्भव नहीं। मालिक धनशाली होनेके कारण मनुष्य और नौकर धनहीन होनेके कारण पशु हो नहीं सकता। ऐसे स्थलमें नौकरके पशु होनेसे मालिक भी पशु हो सकते हैं।

हमसे हमारे एक मित्रसे नौकरके मारनेके रोगके सम्बन्धमें बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा,—'पहलेकी अपेक्षा आजकलके नौकर व मालिकमें पार्थक्य बढ़ रहा है।' पहलेके मालिक बहुत कुछ नौकरोंके समकक्ष थे। वह लोग नौकरोंसे समकक्षके भावसे ही कितने ही विषयोंमें बातचीत किया करते थे। इससे पहलेके नौकरोंमें मालिकका अधिकतर स्नेह और ममता होती थी। अब मालिक लोग उन्नत हो रहे हैं। वह नौकरके प्रति केवल अनुज्ञा करते हैं। उनसे बातचीत कर मेल बढ़ाना नहीं चाहते। इसलिये नौकर और मालिकका स्नेह सम्बन्ध घट गया है और मालिक नौकरोंको मारनेपर तय्यार हुआ करते हैं।' आत्मीयके मतसे यह एक सभ्यताकी वृद्धिका लक्षण है।

हमारे विचारसे यह मीमांसा ठीक नहीं। हम लोगोंकी मातृ-भूमि पराधीन है। पराधीनताका अवश्यम्भावी फल स्वदेशीय उच्चपदस्थोंकी अवस्थाकी अवनति है। जो जाति जितने दिनों तक पराधीनता का भोग करती है

उस जातिके उच्चपदस्थ लोग उतनेही अवनमित होते हैं। कभी उन्नमित नहीं होते। इसके अतिरिक्त साम्यवादी अङ्गरेज जातिकी प्रभुतामें इस देशके नीचपदस्थ मनुष्य उन्नत होनेके बदले अवनत हो नहीं रहे हैं। राज-व्यवस्था इस देशके उत्पन्न सब लोगोंको ही समान दृष्टिसे देखती है। शिक्षा-प्रणाली दीन दुःखी प्रजाव्यूहके चित्तक्षेत्रको प्लावितकर समृद्धिशाली बना रही है। वर्णभेद वंशमर्य्यादा आदि जो सब प्राचीन प्रथा समाजके अन्तर्भूत मर्य्यादाकी रक्षा करती थी वह सब प्रथायें भी दिन दिन विलुप्तप्राय हुई जाती हैं। इस समय इस देशके मनुष्योंमें परस्पर व्यर्थ पार्थक्य वृद्धिका कोई कारण नहीं। वरं उसके विपरीत कारण ही विद्यमान हैं। फलतः पराधीनता रहते कभी कोई समाज अपने भावको बढ़ा नहीं सकता। वह क्रमशः नीच ही हो जाता है। कुछ थोड़ा मन लगाकर देखने से दिखाई देगा, कि हम लोगोंमें ऐसा ही हो रहा है। ब्राह्मणके घर भोजमें, तेली, तमोली, कलवार, कुम्हार सभी एक पंक्तिमें बैठ जाते हैं। हम लोग भी सर्वोच्च अंगरेज जातिके आते परस्पर पार्थक्य भावको छोड़ एक पंक्तिवाले बन रहे हैं। इस समय जो बड़ा बननेका विचार करते वह केवल मनसे ही बड़े होते हैं; वास्तवमें चक्कीके दबावमें पिस सभी दाने एकसे पिसते हैं।

हमारा नौकर पहले एक विद्यालयमें पढ़ता था। वह वर्णमाला, चारुपाठ, पदार्थविद्या आदि पुस्तकोंको समझता था। जब हमारा छोटा लड़का पण्डित महाशयके आगे खड़ा हो अपना पाठ सुनाता, तब वह खड़ा हो उसे सुनता और भूल होनेसे टोक देता था। उसका बाप भी हमारे पिताकी नौकरी करता था। वह लिखना पढ़ना जानता न था। हमारे पिता और हमारे नौकरमें जो अन्तर था, हमारे और हमारे नौकर में उतना अन्तर नहीं था। फिर भी हमारे पिता अपने नौकर पर हाथ उठाते न थे। हम अपने नौकरको मार भी सकते हैं कम से कम यदि मारेंगे तो हमारी बराबरीका कोई भी मनुष्य हमारी निन्दा नहीं करेगा।

किन्तु यहाँ उन सब बातोंसे काम नहीं। विचार, हेतुवाद, युक्तिकी कांट छांटकी सीमा नहीं। चित्तमें आनेसे ही नई युक्ति, नया हेतुवाद, नया तर्क निकाला जा सकता है। बराबर के दो विद्वानोंमें तर्ककी समाप्ति नहीं होती। अतएव हम एक सच्चा वृतान्त कहते हैं। किसी भले परिवारके साथ हमारा बहुत घनिष्ठ परिचय था। उस घरके किसी नौकरने कभी कोई चोरी नहीं की

थी । रुपये, पैसे, गहने उन सबके हाथ पड़ते थे । किन्तु वह पातेही लाकर दे जाते थे । उस घरमें गृहिणीने एक दिन मालिकसे कहा—"मैं समझती हूँ, कि नौकर लोग लड़कोंसे भी अधिक दयाके पात्र हैं । लड़के हमारे ही तुम्हारे पास रहते हैं । जब जो चाहते, वही पाते हैं । लड़कोंके बीमार होनेपर हम तुम दम नहीं मारते । नोकर लोग बीमार पड़ 'बापरे', 'मा रे' चिल्लाते हैं; कहां उनका बाप और कहां मां ? हम और तुम उनके मा बाप हैं । तुमने नौकर का बहुत विश्वास किया, तो उसके हाथ सन्दूककी चाबी दे दी । किन्तु नौकर लोग तुम्हारी ही दया पर अपने प्राणतकका विश्वास करते हैं ।"

उस घरके नौकरोंके लिये सामयिक वेतन वृद्धिका नियम था । हर वर्ष नौकर नौकरानियोंका कुछ न कुछ वेतन बढ़ता । उस घरमें नौकरोंके अपनी इच्छासे वेतन बाकी न रखनेसे उनका वेतन बाकी न रहता था । सभी पैसे पैसेका हिसाब पाते थे ।

उस घरमे नोकरोंका जो काम था वह निर्दिष्ट था सही । किन्तु एकके बीमार पड़ने या छुट्टी लेनेसे दूसरा प्रसन्नताके साथ उसके कामका भार ले लेता था ।

उस घरमें छुट्टी पर नोकरोंकी तनखाह कटती न थी । बीमारी में दवा और पथ्यका मूल्य भी मालिक देते; वह सब कभी अस्पताल भेजे न जाते ।

उस घरके नोकर चोर या मिथ्यावादी न थे ।

---

१७ प्रबन्ध ।

पशु आदिका पालन ।

मनुष्यके आविर्भावसे पहले यह भूमण्डल ऐसे अनेक प्राणियोंसे भरा था, जिनका अब नाम या गन्ध भी नहीं है । मनुष्यके समकालके प्रादुर्भूत प्राणिगण भी कितने ही विकृत, परिवर्त्तित और लुप्तप्राय हो गये हैं । क्रमसे मनुष्यकी बुद्धि और क्षमता जितनी बढ़ रही है अन्यान्य जीवगणमें उतना ही कोई विनाशकी दशाके समीपवर्त्ती होता व कोई मनुष्यके प्रयोजनके लिये उपयोगी हो जीवन धारण करता है । जो जीव मनुष्यके किसी काममें आता है वही जीव बचता है । जो मनुष्यके किसी काममें नहीं आता, उस जीवके अधिक बचनेकी आशा की जा नहीं सकती । जीवलोकमें सदासे

ऐसे ही एक जीव दूसरे जीवको नष्ट किया करते हैं। भूमण्डलकी जीवप्रतिपालनकी शक्ति जितनी ही अधिक हो, वह शक्ति असीम नहीं है। सुतरां यहां एक प्रकारके जीवकी वृद्धिसे दूसरे प्रकारके जीवकी विकृति, ह्रास और विनाश साधित होता है। मनुष्यकी वृद्धिसे सब जन्तुओंकी ऐसी ही दशा होती जाती है। इस समय मनुष्य पृथ्वीके राजा हैं। वह अपने जिस काममें जिसे लगाते, वही रहता है। उनके संरक्षित जीवोंमें गाय, घोड़े, बकरे, भेड़े, कुत्ते, बिल्ली प्रभृति जन्तु प्रधान हैं। कितने ही पक्षी भी मनुष्यों द्वारा पाले जाते हैं, जैसे—तोता, काकाकौआ, कोकिल, मैना, बुलबुल, श्यामा प्रभृति। प्रायः ऐसा कोई घर नहीं, जहाँ पशु या पक्षीका पालन होता न हो। कितने ही पशु पक्षी मनुष्योंका साक्षात् प्रयोजन साधन करते हैं। गौसे दूध मिलता है, घोड़ेसे आने जानेका काम निकलता है, बकरी और भेड़ेका दूध और मांस मनुष्य खाते हैं, कुत्ता घरका चौकीदार है, बिल्ली चूहे मारती है; किन्तु इन सब दैहिक और वैषयिक प्रयोजनोंके साधनके अतिरिक्त पशुपक्ष्यादिके पालनसे गृहस्थोंके कितने ही आध्यात्मिक उपकार भी होते हैं। अब हम उसीके सम्बन्धमें कुछ कहेंगे।

पशु आदिके पालन द्वारा स्पष्ट समझमें आता है कि, मनुष्यसे उन लोगोंका सुख दुःख, सौन्दर्य असौन्दर्य व औचित्य अनौचित्यकी समझ पृथक् नहीं है। इन सब विषयोंमें मनुष्य और पशु दोनोंहीकी बुद्धि और संस्कार एक प्रकारके हैं, केवल मात्रामें भिन्न हैं। मात्राका भेद परस्पर मनुष्योंमें भी है। जो हो, मनुष्योंकी बुद्धि और पशु आदिका संस्कार जो एक प्रकारका है उसकी समझ आजतक लोगोंमें समपरिमाणसे सुपरिस्फुट नहीं हुई है। इसे हम लोगोंके आर्यशास्त्रकारगण ही अच्छी तरह जानते थे। वे लोग कहते थे कि, जीव अपने कर्मवश विभिन्न देह धारणकर पृथ्वीमें जन्म लेता है। सभी जीव एक हैं, विभिन्न नहीं। खृष्टान और मुसलमान लोग ऐसा नहीं कहते। उन लोगोंके मतसे पशु आदिके शरीरमें अविनाशी आत्मा विद्यमान नहीं है, वह केवल मनुष्यके शरीरमें ही आविर्भूत है। किन्तु जिन सब नये युरोपीय पण्डितोंने पशु आदिकी प्रकृतिकी परीक्षामें मन लगाया है वे समझते हैं कि, मनुष्य और पशुमें ऐसे पार्थक्यका आरोपण अमूलक कल्पना मात्र है। वे लोग समझते हैं कि, एक ही अतर्क्य शक्ति जड़ पदार्थमें जड़धर्मके रूपमें, उद्भिद्में अन्तःसंज्ञाके रूपमें, पशु पक्ष्यादिमें अस्फुट संस्कारके रूपमें और

मनुष्योंमें बुद्धिके रूपमें अधिष्ठित है। वे हमारे पहलेके आचार्यगणकी तरह इस मायाप्रपञ्चमय जगत्‌के भीतर नित्य सदसदात्मक वस्तुकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हुए हैं।

गृहस्थमात्र अपने पाले पशुपक्ष्यादिकी वृत्तियोंको ध्यानपूर्वक देख उल्लिखित ज्ञानका स्वयं आविष्कार कर सकते हैं। जिन्होंने ऐसा किया है, वे देखते हैं कि पशु पक्ष्यादि केवल मात्र क्रोध, ईर्षा द्वेषादिके वशीभूत नहीं हैं, वे लोग बुद्धिके सहारे इसका निर्णय कर सकते हैं, कि क्या करनेसे कैसा होगा। अत्याचारसे वशीभूत हो वह अपनी वासनाका दमन कर सकते हैं और यदि कदाचित् अनुचित काम कर डालें तो तिरस्कृत होनेपर अप्रतिभ होते हैं। एक सच्चा हाल कहनेसे ये बातें स्पष्ट होंगी।

किसी मनुष्यने एक बिल्ली पाली। वे एक दिन भोजन करने बैठे और उनकी दोनों पौत्री एक ओर और बिल्ली एक ओर बैठी। वे भोजन करते करते पौत्रियोंको और बिल्लीको रोज कुछ देते आते थे। ऐसे समय पौत्रियाँ एकाएक रोने लगीं। वे उन दोनोंको चुप करानेके लिये प्रबोध देने लगे। वे सब चुप न हुईं। कोई कोई लड़के रोना आरम्भ करनेपर चुप होना जानते ही नहीं। न्यूटनने जड़के गुणका आविष्कार कर कहा है कि जड़ पदार्थ स्थिर है, तो है। यदि चलना आरम्भ करे, तो चलता ही जायेगा। वह जड़ धर्म मानो लड़कियोंमें आबैठा और उनका रोना उसने चिरस्थायी बना डाला। पौत्रियाँ उसी तरह रोती रहीं। वे उन सबको चुप करानेमें ही व्यस्त थे— उनका भोजन रुका—बिल्ली भी कुछ पाती न थी। बिल्लीने क्षणकाल उस कामको देखा। बिल्ली जिस किनारे थी, उस किनारेसे उठ पौत्रियोंके पास गई, फिर उसने अपने दाहने लुलुआको (हाथको) उठाया। मानों उसने यह दिखाया कि, नाखुन बाहर नहीं निकले हैं। फिर उसने एक पौत्रीके गालमें एक लुलुआ मारा। बिल्लीके थप्पड़से पौत्री चुप हुई। उसके चुप होनेपर दूसरी भी चुप हुई। गाड़ीका एक पहिया रुकनेसे दूसरा भी रुक जाता है। बिल्ली फिर अपने स्थानपर आ बैठी।

इस सच्चे व्यापारको हमने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है। जो इसे पढ़ें, वे समझें, कि बिल्लीने अपने खानेके लिये मालिकका ध्यान बँटा देखा, उस ध्यानके बँटनेका कारण पौत्रियोंका रोना था। उस रोनेको रोकनेके लिये उसने पौत्रियोंके गालमें थप्पड़ मारी, वह भी केवल भय दिखानेके लिये-उन्हें

कष्ट देनेके लिये नहीं, नहीं तो नाखून निकाल लेती, यह सब विचारकर बिल्लीने काम किया या नहीं ? इससे उसमें धीशक्ति, आत्मसंयम और औचित्यबोधका पूरा लक्षण पाया जाता है या नहीं ?

पशु आदिके पालनेसे स्थिर प्रतिज्ञताका अभ्यास होता है। पशुको वश करनेका मूलमंत्र निर्भीकता है। घोड़े, भैंसे, गौ, कुत्ते प्रभृतिको देख यदि कुछ भी भयका अनुभव किया जाय, तो वह भयका लक्षण तुम्हारे आकारसे अवश्य झलकेगा और जिस पशुसे तुम्हें भय हुआ है, वह अवश्य ही उसे समझेगा और उसे समझ तुम्हारे वश न होगा। जीवमात्र ही जीवके वश हैं। जो घोड़े पर चढ़ते, कुत्ते पालते, वे पूरी तरहसे इस बातका तात्पर्य्य समझते हैं। घोड़ेको अपनी इच्छाके अनुसार काम करने देना ठीक नहीं। वह तुम्हारी इच्छाके अनुवर्त्ती हो चले, दो एक बार यत्नपूर्वक ऐसा करनेसे घोड़ा तुम्हारे वशमें आवेगा। कुत्तेको भी बात माननेका अभ्यास करानेके लिये स्थिरप्रतिज्ञ होनेकी आवश्यकता है। जो आज्ञाका पालन कराता कुत्ता उसके ही वश होता है, जो आज्ञाका पालन नहीं कराते, उनके वश नहीं होता। जो पशुगणको वशीभूत करनेका अभ्यास करते, मनुष्यको वशमें लानेका एक प्रधान उपकरण उनके आयत्त हो जाता है। युरोपीयगण इस बातके प्रमाण हैं, जैसे उनके वशमें घोड़े कुत्ते प्रभृति हैं, वैसे दूसरेके नहीं। पृथिवीमें उनका जैसा प्रताप है, वैसा भी किसी का नहीं।

तीसरे, पशु आदिका पालन करनेके लिये गृहस्थको नियताचार होना पड़ता है। उन लोगोंके शरीर और रहनेके स्थानको यथोचित साफ रखना चाहिये। उन्हें नियमित समय नियमित परिमाणसे आहार देना चाहिये। गृहस्थके लापरवाह होनेसे—आज किया कल न किया,—अभी देखा, फिर न देखा—ऐसा करनेसे पशु आदिका पालन नहीं होता। गृहस्थके नियताचार न होनेसे पशु आदि सदा पीड़ित होते और प्रायः मर जाते हैं।

पाले हुए जीवोंके प्रकृतिभेदसे उनके पालनका काम घरके भिन्न भिन्न मनुष्यों पर अर्पण किया जा सकता है। कुमारीगण पक्षियोंको, कुमारगण कुत्ते, बकरी, भेड़ेको; नौकर लोग घोड़े और गौ आदिको आहार दें। किन्तु घरकी गृहिणीको नित्य यथासमय सबके लिये तत्त्वावधान करना चाहिये केवल कानसे सुन लेनेसे ही काम न चलेगा। प्रत्येक पशुपक्षीको नित्य आंखसे देखना चाहिये।

एक परिवार एक ब्रह्माण्ड है । गृहिणी उस ब्रह्माण्डकी पालिका है। वह पूरी तरह निश्चिन्त होकर और किसीके हाथमें उसके पालनका भार न दे। महाबली भीमके हाथ में भी एक दिनके लिये पृथिवीका भार देनेसे उसके अपालन होनेसे कितने ही जीवोंका प्राण विनष्ट हुआ था । गृहिणीके स्वयं न देखनेसे पशुगणका भी वैसा ही अपालन और विनाश होता है ।

---

१८ प्रबन्ध ।

पितामह देव ।

बचपनके समय मैं अनेक लोगोंके मुंहसे उनके अपने अपने पितामहके समयकी बातें सुना करता था, अब उतने लोगोंके मुंहसे उनके पितामहके समयका विवरण सुनाई नहीं देता। इसका विचार करना यहां निष्प्रयोजन है कि, ऐसा क्यों हुआ। सामाजिक व्यवहारके किसी परिवर्त्तनवश हो, या मनुष्यकी आयुष्यकी कमीसे हो, इसमें सन्देह नहीं, कि पहलेकी अपेक्षा अब पितामहसे घनिष्ठता कम हुई है। किन्तु इस घनिष्ठताका ह्रास होनेसे उस सम्बन्धका लाघव होना विलक्षण क्षोभका विषय है। पितामहके साथ पौत्रका सम्बन्ध बड़ा ही मधुर है। गुरुता और लघुताके मिलनेसे उससे ऐसा अपूर्व्व पदार्थ उत्पन्न होता है, कि उसकी प्रकृतिकी पर्य्यालोचना करनेसे विस्मित और मुग्ध होना पड़ता है।

पितामह देव, पिताके पिता, महागुरुके महागुरु, ईश्वरके ईश्वर हैं—वे कैसे भय और भक्तिके पात्र हैं। किन्तु वे ईश्वरके ईश्वर होकर भी हमलोगोंके वाक्य व मनके अगोचर नही होते। वे हमलोगोंके क्रीड़ाकौतुक व हास्य परिहासमें साथ देते—केवल साथही नहीं देते; स्वतः प्रवृत्त हो क्रीड़ा कौतुकादिमें उत्तेजना कराते हैं। हिन्दीमें पितामह को जो दादाजी कहते हैं, वह ठीक ही है। वे पितामहदेव अर्थात देवता और दादाजी अर्थात् भाइके समान हैं—देवत्व और समानता उनमें एक साथ है।

पितामहका स्नेह, पितृस्नेहकी अपेक्षा घना हो या न हो, किन्तु उसकी अपेक्षा भी मधुरतर पदार्थ है। पितृस्नेहमें अनिष्टकी प्रबल आशङ्का है व परिणामदर्शिताका भाग अत्यधिक है। पितामह उतने अनिष्टकी आशङ्का नहीं करते व उतने परिणामका भी विचार नहीं करते। वह पौत्रको ले केवल मात्र आनंद

भोगमें ही रहते हैं। जैसे शिशु पौत्र भूत भविष्यत्की कुछ भी चिन्ता नहीं करता, केवल वर्त्तमान सुखभोगसे ही परितृप्त रहता है, पितामहका हृदय भी बहुत कुछ उसी अवस्थामें अवस्थित है। पिता जब पुत्रके साथ खेलते, तो यह चिन्ता किया करते हैं, कि खेलके बहाने इसे क्या शिक्षा दें। पितामह जब पौत्रके साथ खेलते, तब आप भी सच्चे खिलाड़ी बन जाते हैं। पिता जब पुत्रके मुंहमें कोई खाद्यसामग्री देते, तब यह विचार कर लेते हैं, कि वह उसके शरीरके लिये उपकारी होगा या नहीं; पितामह जब पौत्रको खिलाते, तब कुछ भी विचार न कर मानो आप ही उस तरुणरसनासे रसास्वादन लेते हैं।

फलतः पिता माताके हृदयमें पुत्रके सम्बन्धमें एक घोर भय सदा विराजमान रहता है। पितामहके हृदयमें उस भयका भाव कम है—सुख-बोधका ही प्राधान्य है। एक कहावत है कि "मूलसे सूद प्रिय होता है"–मूल पुत्र है और सूद पौत्र। सूदपर माया वास्तविक अधिक है सही। सूद पानेसे बहुत ही सुख होता है किन्तु मूलके लिये भय अधिक होता है। सूद छोड़ा जाता, असल छोड़ा नहीं जाता। हमारे शास्त्रमें विधाताको पितामह कहते हैं। हमारे मतसे पिताके सम्बोधनकी अपेक्षा पितामहका सम्बोधन विधाताके लिये अधिक ठीक है। ब्रह्माके पुत्र प्रजापतिगण विभिन्न जीव शक्ति हैं। ब्रह्मा जीवशक्तिकी रक्षा करनेके लिये सदा यत्नवान् हैं। किन्तु जीवशक्तिजनित प्रत्येक प्राणीकी रक्षाके लिये विधाताका वैसा प्रयत्न जान नहीं पड़ता। वे भी असल रख सूदको छोड़ सकते हैं।

पितामहके हृदयमें पौत्रके सम्बन्धमें भयका भाव लघु होनेके कारण वे पौत्रको प्रकृतिको अधिक परिस्फुट रूपसे समझ सकते हैं। बाप माका मन सन्तानके सम्बन्धमें बिलकुल ही चञ्चल रहता है। वह उसको बहुत अच्छा लड़का समझ आनन्द से विह्वल होते, फिर कुछ देरमें सामान्य कारण-से उसकी बुद्धि, चरित्र और भाग्यके मन्द होनेके विचारसे दुःखी होते हैं। पितामहका हृदय इतना आन्दोलित नहीं होता। वे पौत्रके दोष गुणको प्रायः यथार्थ परिमाणसे देखते हैं।

पितामह पौत्रके दोष गुणको अच्छी तरह देख सकते हैं फिर वे बचपनका भाव भी धारण कर सकते हैं, इन दोनों कारणोंका एकत्र समावेश होने से पितामह देव बचपनके अद्वितीय सुशिक्षक होते हैं। माताका सबसे अधिक अच्छी शिक्षादात्री होना विख्यात है। श्रीरामचन्द्रने कौशल्या देवीसे

धनुर्विद्या सीखी थी। सर विलियम जोन्स साहबकी विद्यानुरागिता उनकी माताकी शिक्षाके गुणसे ही हुई थी, प्रेसिडेण्ट गारफील्ड भी वैसी मा न पाने से काष्ठनिर्मित वनकी कुटीसे सौध राजभवनमें आ न सकते। पितामहके द्वारा प्राथमिक शिक्षालाभकी फलवत्ता वैसे किसी सुप्रसिद्ध विवरणसे सप्रमाण की नहीं जा सकती। किन्तु वह न होने पर भी यदि किसीके भाग्यमें पितामहसे प्रथम शिक्षालाभ हो तो वे समझ सकते हैं, कि उस शिक्षाका फल माताकी शिक्षासे भी अधिक होगा।

"बच्चे हमारी अपेक्षा दादाजीके पास रहना अधिक पसन्द करते हैं। दादाजीसे उनकी सब सलाह होती है। उनके ही साथ उन सबका मन मिलता है।" ऐसी बातें कितनी ही पुत्रवती माताएँ कहा करती हैं। शास्त्र भी कहता है, कि पौत्रके उत्पन्न होनेपर पुत्रका पितृऋण चुकता है। जिसके द्वारा ऋण चुकाया जाता है उसे उत्तमर्ण (लेनदार) के हाथ समर्पण न करने से ऋणका परिशोध कैसे होगा?

---

१९ प्रबन्ध।

पितामाता।

एक दिन एक आत्मीयसे हमसे बहुत ही वादानुवाद हुआ था। विचारका विषय था कि कौन बड़ा है? बाप या माँ? आजकल ऐसा दिन आया है कि, उच्छृङ्खल मनुष्यबुद्धि चारोंओर विचरण करती है। तर्ककी गति नारद ऋषिकी तरह त्रैलोक्यमें बेरोकटोक है।

जो हो, हम दोनोंमें घोर विचार बंधने लगे। अन्यान्य युक्तियोंको दिखाते हुए शास्त्रके अभिप्रायके साथ वादानुवाद चलने लगा। आत्मीयवर "गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी" कहकर महा आस्फालन करने लगे। हमने वैसे किसी स्पष्ट वचनका जोर न पाया, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी माता कौशल्यादेवीके मना करनेपर भी पिताकी आज्ञाके पालनके लिये वनमें गये थे और विष्णुके अवतार भगवान् परशुरामजीने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य्यकर माताका सिर काट लिया था, इन्हीं सब पौराणिक इतिहासों द्वारा हम पिताके प्राधान्यका समर्थन करने लगे। परस्परकी विद्याबुद्धिकी रगड़से बीच बीचमें क्रोधस्फुलिङ्ग भी निकलने लगे। मतभेदका हेतुवाद भी दिखाया जाने लगा।

आत्मीयवरने कहा " आप बुद्धिमत्ता, विद्यावत्ता और तेजस्विताके पक्षपाती हैं, इसलिये पितृप्राधान्यका पक्ष करते हैं, मैं सरलता और नम्रताका भक्त हूँ, इसलिये मातृप्राधान्यका पक्ष लेता हूँ "। हमने उत्तर दिया " सरलता और नम्रताके प्रति हमारी श्रद्धा कम नहीं परन्तु हम उच्छृङ्खल व्यवहारके विद्वेष्टा हैं। " उन्होंने पूछा–" मातृपक्षका अवलंबन करनेसे उच्छङ्खलताका सम्वर्द्धन कैसे हो सकता है ? " हमने उन्हें समझाकर कहा—

" देखिये, यहाँके कितने ही लोग जो इच्छा होती, वही करना चाहते हैं। वे ऐसा समझते हैं कि सामाजिक किसी नियमका व्यतिक्रम करनेसे ही बड़ी बहादुरी है। जो ऐसा करते, वे ही पितृभक्तिकी अपेक्षा मातृभक्तिका अधिक गौरव भी करते हैं और वे जिस प्रकारका कौशल पाते, उससे अपनी खूब मातृभक्ति दिखाते हैं। मातृभक्तिका नाम प्रसिद्ध करना सहज काम है। किसकी मातृभक्ति सचमुच कैसी है, उसे बाहरी लोगोंका समझना कठिन है। इसके अतिरिक्त मातृभक्ति दिखलानेमें अपनेको बहुत कष्ट उठाना नहीं पड़ता, प्रायः किसी प्रकारका स्वार्थत्याग करना नहीं पड़ता। पिता लड़कोंको अपनी बातें सुनाना चाहते हैं, किन्तु उपयुक्त पुत्रकी बात मानना ही माताका कर्तव्य है। अतः उच्छृङ्खलस्वभाव पुत्रके लिये पितृभक्तिकी रक्षा करना जैसा कठिन है, मातृभक्तिकी रक्षा करना कभी वैसा कठिन हो नहीं सकता। मांको इतना कहनेसे भी काम चलता है, कि तुम समझ नहीं सकती। बापसे ऐसी बात करनेका सामर्थ्य नहीं। पितृभक्तिकी अपेक्षा मातृ-भक्तिका प्राधान्य उच्छृङ्खल व्यवहारका पोषक है। "

आत्मीयवर इस बातका कोई सदुत्तर दे न सके, किन्तु विचारमें जयी होनेकी उनकी बड़ी इच्छा थी। अतएव उन्होंने कौशलका अवलम्बन कर कहा,—" चलिये दोनों हम अपने पिताके पास चलें, उन्हें ही मध्यस्थ माने; वे जैसा सिद्धान्त करेंगे, उसे हम दोनों ही मानेंगे। " हम इस प्रस्ताव-पर सम्मत हुए। हमने नहीं समझा कि, पिता इस विचारकी मीमांसा करनेमें अक्षम होंगे; उनका सहज औदार्य्य ही उन्हें अपने प्रतिपक्षीका पक्षपाती बनायेगा। ऐसा ही हुआ—हम हारे। हारे सही, किन्तु इस विचारमें हमें अपनी पत्नीका अभिमत जाननेकी इच्छा हुई। उन्होंने कहा,—" लड़के तुम्हें छोड़ हमारी भक्ति कर नहीं सकते। तुम्हारे प्रति भक्ति करनेसे ही उनकी हमारे प्रति भक्ति होती है। वृक्षके सिरपर जल डालनेसे हा जड़में

कायमनसे अच्छे रहनेसे ही कन्याके सम्बन्धमें एक प्रकारसे निश्चिन्त हो सकते हैं। वे अच्छे न रहे, या अच्छे न हो, तो तुम विशेष कुछ कर नहीं सकते। अपने सामर्थ्यके अनुसार तुम साहाय्य देनेको भी तय्यार हो सकते हो। न पूछनेसे भी सलाह दे सकते हो। किन्तु उसपर तुम्हारा कोई जोर नहीं चलता। जिसपर जोर नहीं रहता, सम्भवतः उससे ममता भी कम हो जाती है। अतः कन्या सन्तानके विषयमें चाहे जैसे हो, एक प्रकारकी निश्चिन्तता मिल जाती है।

पुत्र सन्तान किसीको भी दान नहीं की जाती। पुत्रवधूको भी पुत्रके द्वारा परोक्षभावसे शिक्षा दिलानेका अधिकार है, स्थलविशेषमें साक्षात् शिक्षा देनेका भी अधिकार है। उस अधिकारके रहनेसे क्रमशः ममताकी भी वृद्धि होती है। अतः कन्याकी अपेक्षा पुत्रवधू अधिकतर स्नेहभागिनी हो जाती है। पुत्र, परायेको अपना बना सकता है, कन्या अपनी होकर भी पराई हो जाती है।

किन्तु अपनी कन्याके सुख दुःखके हर्त्ता—कर्त्ता एक कोई दूसरे हुए हैं, ऐसे विचारसे कन्याके सम्बन्धमें मनमें एक प्रकारकी उदासीनता आ जाती है; उसी उदासीनताके कारण कन्याके प्रति मन बहुत ही नरम हो जाता है। कन्याके पित्रालय आनेसे पिता मानो खोया हुआ धन फिर पाते हैं। फिर उनका किसी पर मन नहीं जमता। कन्याके साथ बातचीत करेंगे, नाती, नतिनीको गोद और पीठपर चढ़ावेंगे, कन्याको समीप बैठाकर खिलावेंगे, ऐसी ऐसी इच्छायें होती हैं। वास्तवमें क्या कन्याके प्रति उनकी ममता अधिक है? इस सम्बन्धमें सन्देह करनेका यथेष्ट कारण है।

पण्डित कोमटि (Compte) के दर्शनके स्थलविशेषमें उपदेश है, कि मनुष्यगण भूत, वर्तमान, भविष्यत् इन त्रिकालकी तीन अधिष्ठात्री देवताओंकी नारीके रूपमें कल्पनाकर पूजा करें। माता अतीतकालकी अधिष्ठात्री, भार्य्या वर्तमानकालकी अधिष्ठात्री और कन्या भविष्यकालकी अधिष्ठात्री हैं। पण्डितवर कोमृटिको कदाचित कन्या हुई न होगी। ऐसा होनेसे वे समझते कि यद्यपि स्थूलरूपसे देखनेमें कन्यासन्तान भविश्यकालकी अधिष्ठात्री देवीके नामसे वर्णित होने योग्य है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे उसका विपरीत भाव दिखाई देता है। कन्या-सन्तानके सम्बन्धमें मानसिकदृष्टि भविष्यकालका लक्ष्य नहीं करती, अतीतकालका ही लक्ष्य करती है। कन्या जब बहुत ही प्रीतिकी पात्री

होती, तब खोये हुए धनके रूपमें प्रीति उत्पन्न करती है। कन्यासे जो सुख होता है, वह स्मृतिका सुख है, आशाका सुख नहीं। कन्याके सम्बन्धमें हम जो चिन्ता करते हैं, उसमें उसके और अपने अतीतकालके साथ ही सम्बन्ध रहता है, और भविष्यकी प्रायः कुछ भी चिन्ता उसमें नहीं रहती। वह अच्छी रहे, उसका भला हो, हम ऐसे आशीर्वाद व प्रार्थना करते हैं सही। किन्तु उसके लिये ऐसा हो, यह हो, वह हो, इस प्रकारकी कोई कामना कन्याके लिये आपही आप मनमें उदित नहीं होती।

कन्याके सम्बन्धमें मनुष्यचित्तके इस भावका साधारण ज्ञान रहना चाहिये। कितने ही लोग इसे नहीं जानते, विशेषतः कम उम्रमें प्रायः कोई नहीं जानता। यही अज्ञान सांसारिक अनेक कष्टों का कारण बन जाता है। विशेषतः पुत्रवधू और पुत्रके मनमें प्रायः ही इस अज्ञताके कारण ईर्षा उत्पन्न होती है। वे लोग समझते हैं कि कर्त्ता उनको अपेक्षा कन्याओंको और उनकी सन्तानों-को अधिक चाहते हैं। वास्तवमें कर्त्ताका स्नेह कन्या और नतिनीके प्रति चाहे जितना अधिक हो, पुत्र और पुत्रवधू पर उनका जोर अधिक है। कन्या और नातीको कर्त्ता खोया धनरूपसे पाकर ही गद्गद होते हैं। कन्याके घर आनेसे कौन कह सकता है, कि पिताके मनमें कैसे कैसे पहलेके विवरण और भाव उठा करते है। स्मृतिने जागकर पहलेकी अनुशोचनाका द्वार खोल दिया है, इसीसे आंखोंसे लगातार आंसू बहते हैं।

हम फिर कहते हैं, जिसपर अपना जोर जान पड़ता है, उसीपर अधिक ममता होती है। जिसपर किसी प्रकारका जोर नहीं चलता, उसके प्रति ममता भी घट जाती है। किसी लड़केको एक पुतला दिखाकर कहो, कि यह तुम्हारा खिलौना है, ऐसा कह खिलौनेको किसी ऊंचे स्थानमें रख दो—जिसमें लड़का खिलौना छू न सके। वह खिलौना लेनेके लिये एकबार, दोबार, तीन बार रोएगा। इसके बाद फिर कुछ न करेगा। खिलौने पर उसकी वि-शेष ममता न रहेगी। हम लोग भी तो बड़े लड़के ही हैं? हमारी कन्यायें ऐसी ही पुतलियां हैं—हमारी हैं सही, किन्तु हम उन्हें ले कुछ कर नहीं सकते। तब कहांतक रोएंगे? धीरे धीरे मायाका त्याग करेंगे।

कन्याओंको पैतृकविषयमें अधिकारिणी होना उचित है या नहीं? मुस-लमानोंके कानूनसे, फ्रान्सदेशियोंके कानूनसे, इटलीके कानूनसे और अन्यान्य सभ्य युरोपीय कानूनसे कन्याओंको पैतृकअंशमेंसे थोड़ा थोड़ा मिलनेका कानून

है। हमलोगोंके शास्त्र और अङ्गरेजोंके शास्त्रमें ऐसी विधि नहीं है। दायभाग-की व्यवस्था केवलमात्र प्रजाके मनका भाव ले तय्यार की नहीं जाती। अर्थ-शास्त्र और राजनीतिशास्त्रके कितने ही विचार व्यवस्थाके प्रणयनमें प्रवेशित होते हैं। उन सब शास्त्रके विचार बड़े ही जटिल हैं, वे बहुमुख हैं और देशकी अवस्था और प्रकृतिके भेदसे भिन्न होते हैं। अतएव उस विचारमें प्रवृत्त होनेका कोई प्रयोजन नहीं।

हम कहते हैं, कि पिता अपने जीते जी कन्याओंको कुछ न कुछ दें—किन्तु एक बारगी नहीं, ठहर ठहर कर दें। उनकी मृत्युके बाद कन्याका पैतृक सम्पत्तिपर अधिकार न होना ही अच्छा है। भाई बहनमें जातिविरोधकी राह खोल रखना ठीक नहीं।

---

२१ प्रबन्ध ।

भाई-बहन ।

भाई-बहनका सम्बन्ध बड़ा ही सुमिष्ट है। बचपनसे एकत्र रहने, एकत्र शिक्षा पाने, एकत्र सुख दुःख भोगने, इन सब कारणोंसे भाई बहनमें एक गूढ़तर सहानुभूति उत्पन्न होती है। उन लोगोंमें परस्पर प्रतियोगिता रहने पर भी ईर्षा नहीं रहती। एक दूसरेको साहाय्य देते रहने पर भी, उनमें अहङ्कार नहीं रहता। परस्पर साहाय्य पानेपर भी आत्मग्लानि नहीं रहती। फलतः भाई-बहनका सम्बन्ध समान और सब अवस्थाओंमें ही उनमें वह समान भाव जागता रहता है। वह लोग कालक्रमसे चाहे जितने ही छोटे हों, उनका साम्य-भाव कभी दूर नहीं होता। वह इस तथ्यको भूल ही नहीं सकते कि, हमलोग एक मां-बापकी सन्तान हैं। जो इस तथ्यको अच्छी तरह याद रख सकते हैं, वही परस्परके कर्त्तव्यको पूरी तरह साधित कर सकते हैं।

केवल इतना ही नहीं, कि इस सूत्रको याद रखने और उसके अनुसार काम करनेसे भाई-बहन अपने कर्त्तव्यका निर्व्वाह कर परस्पर धर्म्मवृद्धि कर सकते हैं, वही सूत्र उन लोगोंके कर्तव्यावधारणका पथ है। हृदयमें ऐसा ही स्थिर कर चलनेसे माता-पिता भी उनके लिये धार्य्यपथको उन्मुक्त कर अपने कार्य्यको सुनिर्व्वाहित कर सकते हैं। अपनी सन्तान—सन्ततिमें परस्पर

साम्यभाव प्रकट होनेहीसे उन लोगोंके लिये उचित होना है; अतएव बचपन-से ही साम्यभावका बीज उन लोगोंके हृदयमें बो देना चाहिये।

इस कामके सुसम्पन्न होनेमें कई अलगाव हैं । एक अलगाव तो कन्या पुत्रकी पारस्परिक विशेषता है । लोग चाहें जो कहें, किन्तु सब समाजमें ही यह पार्थक्य है और इसके रहनेका कारण भी है। अन्यान्य कारणोंके यहां लिखनेका प्रयोजन नहीं । यहां हम केवल इतना ही कहेंगे, कि प्राकृतिक नियमके अनुसार कन्यासन्तानकी अपेक्षा पुत्रसन्तानकी जीवनशक्ति बचपनसे अधिकतर क्षीण होती है । सूतिकागारमें कितने ही लड़के मर जाते हैं—किन्तु यदि दो कन्यायें मरेंगी, तो पांच पुत्र मरेंगे, पांच वर्षकी उम्रतक यदि कन्या छः मरेंगी, तो पुत्र आठ मरेंगे; बारह वर्षकी उम्रतक यदि दश कन्यायें मरेंगी, तो पुत्र चौदह मरेंगे, सोलह वर्षकी उम्रतक यदि कन्या चौदह मरेंगी, तो पुत्र पन्द्रह मरेंगे । सोलह सत्रह वर्ष उत्तीर्ण होनेपर पुत्रका जीवन कन्याके जीवनकी अपेक्षा दृढ़तर हो जाता है । इस नैसर्गिक नियमके अनुसार ही सब समाजमें कन्याकी अपेक्षा बचपनमें पुत्रके प्रतिपालनका यत्न कुछ अधिक होता है । किन्तु उससे यह जान नहीं पड़ता, कि इस आधिक्यके कारण कन्याओं-के हृदयमें विशेष ईर्षा उत्पन्न होती है । कन्याओंकी धीशक्ति पुत्रोंकी धीशक्तिकी अपेक्षा अधिक शीघ्र खिल उठती है और जिसकी धीशक्ति खिलती है, वह स्वभाव भेदसे दूसरेके प्रति अनुग्रह करने लगता है । हमने अङ्गरेजोंके घर अङ्गरेजोंके लड़कोंमें ही देखा है, कि पांच वर्षकी बालिका सात वर्षके बड़े भाईके प्रति अनुग्रहशीला हो उसके लिये खानेका हिस्सा लगा देती है और आप स्वयं भाईकी अपेक्षा थोड़ा हिस्सा लेती है । स्त्रियोंमें एक प्रसिद्धि है कि पहले कन्यासन्तानका होना अच्छा है, इसके बाद पुत्र । कन्या थोड़ी ही उम्रमें दूसरेका यत्न कर सकती है । अतः ऐसा न समझना चाहिये, कि कन्या सन्तानकीअपेक्षा पुत्र सन्तानके लिये कुछ अधिक यत्न होनेसे ही उन लोगोंके साम्यभावमें व्याघात उपस्थित होगा ।

छोटे लड़के और बड़े लड़केमें भी कुछ पारस्परिक विशेषता होती है । छोटेको पहले खिलाना चाहिये, उसके रोनेपर पहले उसे समझाकर शान्त करना चाहिये, उसका खिलौना विशेष यत्नसे रखना चाहिये । उसका खिलौना खो जानेसे बड़ेका खिलौना ले उसे देना चाहिये, उसे अधिक देरतक गोदमें लेना चाहिये । ऐसी पारस्परिक-विशेषतामें भी लड़कोंमें साम्यभावका संस्थापन

करना आवश्यकीय है, इसमें विघ्न न हो। लड़के सचमुच ही वैसे निर्बोध नहीं। वे अच्छी तरह समझ सकते हैं कि छोटे, दुर्बल और अक्षम लोगोंके लिये कुछ अधिक यत्नका प्रयोजन है; यही समझ वे लोग स्वतः भी वैसाही यत्न करनेके लिये आग्रहशील हुआ करते हैं।

वस्तुतः इस प्रकार सभी स्थलोंमें साम्यभाव के प्रविष्ट करने की चेष्टा करना अनैसर्गिक, अनावश्यक, असाध्य और हानिकर है। मा बाप इन सब वैषम्योंकी रक्षा करें। ये सब वैषम्य बहुत ही सुस्पष्ट और बच्चोंके भी समझने योग्य हैं। किन्तु मा बाप सचमुच ही एक लड़केको अधिक और दूसरेको कम न चाहें अर्थात् लड़कोंमें अहेतुक पारस्परिक विशेषताका कोई कारण खड़ा न करें। ऐसा होने हीसे अपनी सन्तानोंमें परस्पर ईर्षा उत्पन्न हो जायगी और वह ईर्षा यावज्जीवन पूरी तरहसे दूर न होगी। किन्तु सहेतुक वैषम्यसे भी किसी किसी स्थलमें दोष होता है। यदि एक लड़का अन्यान्य लड़कोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और मा बापके आदरका पात्र हो, तो अन्य सभी लड़के उससे द्वेष करेंगे। यदि एक अधिक बुद्धिमान् व मेधावी होनेके कारण विशेष समादर पावे, तो दूसरोंको ईर्षाका उद्रेक होता है, किन्तु यह ईर्षा प्रबल नहीं होती और उम्र बढ़ने पर एक बारगी ही दूर हो जाती है। यदि कई कन्याओं पर एक पुत्र सन्तान उत्पन्न हो या कई पुत्रों पर एक कन्या उत्पन्न हो तो वह पुत्र या कन्या अधिक आदर की सामग्री होती है। ऐसा होनेसे भी भाई-बहनमें कुछ ईर्षाकी उत्तेजना होती है, किन्तु वह ईर्षा बहुत ही प्रबल हो चरित्र दूषित नहीं करती। जहां तक हो सके, पिता-माता इन सब सहेतुक वैषम्योंसे उत्पन्न ईर्षाके कारणको दूर करते रहें। हम फिर कहते हैं कि सहेतुक वैषम्यको किसी प्रकार होने न दें। हम लोगोंके देशमें उपधर्ममूलक एक वैषम्य है, उसे विशेष यत्नके साथ दूर करना चाहिये। जिस समय माता पिताका कोई विशेष सौभाग्य या दुर्भाग्यका कारण होता है, उस समय जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसके प्रति कुछ विशेष अनुकूलता या प्रतिकूलता हो जाती है और माता पिताके ऐसे आनुकूल्य या प्रातिकूल्यकी भुक्तभोगी सन्तान प्रायः दुर्ब्बल या कठिन प्रकृतिक हो जाती है। ऐसी सन्तान भाई बहिनके प्रति समीचीन व्यवहारमें कभी समर्थ नहीं होती। इन 'भाग्यवान्' और 'अभागे' शब्दोंने कितने ही सुखोंको नष्ट किया और असुखोंको बढ़ाया। शहरोंमें इन शब्दोंका उतना प्रादुर्भाव नहीं किन्तु गाँवोंमें इनका

अधिक प्रादुर्भाव है। इन सब स्थलोंमें माता-पिताके कुछ सतर्क हो सकनेसे एवं सन्तानगणको परस्पर साहाय्यदानमें उन्मुख कर देनेपर गृहवासका सुख अच्छी तरह बढ़ जाता है। बड़ा भाई, बड़ी बहन, छोटे भाई बहनोंको कपड़े पहना दे, खिला दे, मुंह हाथ धो दे, जूता कपड़ा आदि सजा रक्खे, खिलौना सजा दे, उनके साथ खेले,—ऐसा होनेसे माता पिताको विशेष आनन्द उत्पन्न होता और लड़कोंमें भी सौहार्दका भाव जकड़ जाता है। हमारे विचारसे बड़ोंमें छोटोंके कामको बाँट देना अच्छा नहीं समझना चाहिये। जैसे किसी गृहस्थकी क, ख, ग, तीन कन्यायें और. च, छ, दो पुत्र हैं। क, च के काम करे और ख, छ के काम करे और फिर क, च, को और ख, छ, को अपने अपने विभागमें समझे, ऐसी व्यवस्था अच्छी नहीं। क, सबसे बड़ी है, वह ग, च, और छ, इन तीनोंको खिलावे, पिलावे, ख, और ग, च और छ, को वस्त्रादि पहना देनेका भार लेवे,—इस प्रकार सब छोटे अपने अपने बड़ोंको अपना प्रतिपालक समझें। यही सुव्यवस्था है।

आज कल एकान्नवर्त्ती सम्मिलित परिवारमें प्रायः ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती; ऐसा न करनेके कारण ही मिलित परिवारके कितने ही सुख घटे जाते हैं। यदि मिलित परिवारके भीतर सब भाइयोंके सब सन्तानों को एक दलका समझ बड़े लड़कोंसे छोटे लड़कोंका काम कराया जाय, तो मिलित परिवारमें सुख और धर्म्मसाधन अच्छी तरह हो सके।

जिस परिवारके लड़के ऐसे विचारके साथ पालित और शिक्षित होते हैं उस परिवारके लड़कोंमें झगड़ा कम होता है, इससे वयोधिकका झंझट घटता और थोड़ी थोड़ी बातपर झगड़ा नहीं होता।

ऐसे पालित परिवारमें भाई बहनके परस्पर मनका मेल बहुत ही सुमधुर होता है। बचपनमें तो इसने अधिक खाया, उसने अच्छा कपड़ा पहना आदि किच किचकी कोई बात ही नहीं, बड़े होनेपर भी परस्पर साहाय्य देना बहुत ही सहज व्यापार हो जाता है। एकके पास कोई वस्तु है, दूसरेके पास नहीं या खो गई है, जिसके पास नहीं या खोगयी है, वह उसे पा जाता है, परन्तु किस तरहसे पा जाता है उसका कोई शोर गुल नहीं होता है। 'तू ले न' या 'तुम ले लो' केवल कभी कभी ऐसी बातें एक आध बार सुनाई देती हैं। एकको पाठ याद हो गया खेलनेका समय आ गया, किन्तु बहन को पाठ याद न हुआ, जबतक याद न होगा, तबतक खेल बन्द रहेगा। एक

बीमार है, बस फिर घरमें दौड़धूप भी नहीं होती, रोना चिल्लाना और आमोद प्रमोद की चिल्लाहट भी सुनाई नहीं देती।

उम्र और भी बढ़नेपर बहनका विवाह हो जानेपर सालेके साथ बहनोईका बहुत ही मेल उत्पन्न होता है। बहन बहनका भी परस्पर सौहार्द घटता नहीं। यदि एक बहनका बड़े आदमीके घर विवाह हो और दूसरीका सामान्य गृहस्थके घर विवाह हो, तब भी दोनों बहनोंमें निरादर और ईर्षा उत्पन्न नहीं होती। किन्तु माता पिताको चाहिये, कि सब कन्याओंका विवाह समान वरोंमें करें।

भाइयोंका विवाह होने पर एवं माता पिताके न रहने पर भाई भाईमें अलगावका सूत्रपात हुआ करता है। किन्तु सुपालित परिवारमें और स्पष्ट रूपसे पैतृक धनका विभाग हो जाने पर प्रायः ही ऐसा नहीं होता। यदि भाई भाईमें सचमुच मन मिला रहे, तो दोनोंकी पत्नियां भी आपसमें विद्वेष सम्पन्न हो नहीं सकतीं। बहुओंके आपसमें झगड़ा होनेका मूल होता है (१) लड़कों लड़कोंमें झगड़ा, (२) लड़की लड़कियोंमें झगड़ा। यह दोनों बहुत ही सामान्य विषय हैं और कुछ सावधानीके साथ रहनेसे ही इसका प्रतिविधान हो जाता है। भाइयोंमें उपार्जनक्षमताकी पारस्परिक विशेषतासे यदि मनोमालिन्यकी सम्भावना हो तो उसके प्रतिविधानका एक ही उपाय है। पृथगन्न होना। भाइयोंको एक दूसरेकी सम्मतिसे ऐसा ही करना अच्छा है। मनोमालिन्यका उत्पन्न होना अनुचित है और जिसकी आमदनी कम और सन्तानादि अधिक हैं उसके द्वारा पृथगन्नताका प्रस्ताव होना चाहिये। किन्तु पृथगन्न होने पर भी भाई भाईके मनका ऐक्य हर तरहसे संरक्षित रह सकता है और ऐसा न होनेसे उन लोगोंके स्वभावमें दोष उत्पन्न होता है। पृथगन्न होनेपर भी परस्पर साहाय्य चलता रहे, सहानुभूति कायम रहे, विषय-विशेषमें मिलके सलाह हो और एक साथ अनुष्ठान चले। सौभ्रात्र और सौभागिन्य इसका नित्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धकी रक्षासे पवित्रताका साधन होता है, आत्मगौरवका कोई कारण नहीं होता; इसकी रक्षा न करनेसे पवित्रताकी हानि होती और लोकनिन्दा भी उत्पन्न होती है।

यूरोपीयगणसे हम लोग पारिवारिक किसी धर्मको भी अच्छी तरह सीख नहीं सकते। उनके साथ हमारी धर्मनीति और समाजनीतिका अनैक्य होनेसे हम लोगोंकी पारिवारिक नीति भी भिन्न प्रकार की है। उनमें अर्थक

गौरव कुछ विशेष है। इसीसे वह लोग स्वजनसे अर्थसाहाय्य लेने या स्वजनको अर्थसाहाय्य करनेसे बहुत ही नाराज होते हैं। किन्तु असलमें अर्थसाहाय्य अन्यान्य साहाय्योंकी अपेक्षा उन्नतर साहाय्य नहीं है। शारीरिक परिश्रम और यत्न द्वारा, बुद्धिशक्तिके परिचालन द्वारा, प्रभावशालिताके प्रयोग द्वारा और प्रीति भक्ति और उत्साहदान द्वारा, जैसा साहाय्य होता है वह अर्थ-साहाय्यकी अपेक्षा बहुत अधिक है। उन सब साहाय्योंके आदान प्रदानमें जब कोई आपत्ति नहीं होती, तब रुपयेके साहाय्यके सम्बन्धमें इतनी लज्जा और मान-सिक सङ्कोच क्यों होता है ? हमारे विचारसे दूसरेसे अर्थसाहाय्य लेनेमें जितना दोष और लज्जा है, भाई बहनमें उस दोष और लज्जाका कोई कारण नहीं है। भाई बहनमें यदि अर्थ साहाय्यका प्रयोजन हो और अर्थ साहाय्य न किया जाय, तो समाजमें हमलोगोंकी निन्दा होती है । अर्थात् जो ऐसा साहाय्य करने नहीं देते, वह अपने स्वजनगणको निन्दाभागी बनाते हैं।

यूरोपीयगणमें इसके विपरीत भाव है । यहाँ उसका एक दृष्टान्त दिया जाता है:—

(१) बहुत ही गुणशाली गारफील्डकी एक बहन थीं। वह नित्य गारफील्डको बचपनमें गोदमें उठा दो कोसकी राह समाप्त कर विद्यालयमें पहुंचा आतीं और फिर सन्ध्या समय विद्यालयमें जा उन्हें गोदमें उठा लातीं। अपनी बड़ी बहनका विवाह हो जानेपर गारफील्ड कुछ दिन उनके ही घर रह लिखना पढ़ना और शिल्पकार्य्य सीखते थे। गारफील्ड अपनी बहनको अपने रहने और खानेका खर्च देते और वह लेती भी थी। वह कहतीं, कि गारफील्ड खाने पीनेका खर्च न देनेसे अपने बहनोईके घर रहनेमें लज्जित होगा। (२) गारफील्डके बड़े भाईने किसी समय उनके पढ़नेकी सहायताके लिये अपने परिश्रमसे पैदा किया कुछ रुपया देना चाहा, गारफील्डने उसे लिया, किन्तु पहले उन्होंने अपने जीवनका बीमो करा उसके प्रमाणपत्रको बड़े भाईके हाथमें समर्पण किया। गारफील्डके जीवनचरित्र-लेखक उस उदाहरणको सौभ्रात्र भावका विशेष परिचायक ही समझते थे। किन्तु आर्य्यजातीय लोगोंकी दृष्टिमें ये सब उदाहरण विशेष सौभ्रात्रके परिचायक माने नहीं जाते। जो जाति धनको ही परम पदार्थ मान उसकी पूजा करती है, उसकी दृष्टिमें ये सब उदाहरण भ्रातृवात्सल्यके चिन्ह स्वरूप हो सकते हैं। हमारे विचारसे बहनको खानेका खर्च न देकर और बड़े भाईके हाथमें जीवनबीमाका

सार्टीफिकेट न देकर गारफील्ड उन लोगोंको अधिक सुखी कर सकते थे। हमारे विचारसे वही भाई-बहनके लिये उचित व्यवहार होता। फिर गारफील्डने यूनाइटेड साम्राज्यके सम्राट् सभापति होनेपर बड़ी बहन और भाईके प्रति न जाने कैसा व्यवहार किया, यह जाननेके लिये हमें बहुत ही कौतूहल है, किन्तु चरित्र-लेखकके मनमें यह कौतूहल नहीं हुआ—वह चुप रह गये।

---

२२ प्रबन्ध।

पुत्र-वधू।

स्त्री। बहूका मुंह देखना बड़े भाग्यकी बात है। लड़का होता—जीता रहता—विवाहके योग्य होता—विवाह होता—तब बहूका मुँह दिखाई देता है। बहूका मुँह देखना वड़े भाग्यकी बात है।

पुरुष। तौभीतो सास बहूको क्लेश देती हैं। तुम कह सकती हो, कि सास क्यों बहूको क्लेश देती हैं।

स्त्री। मैं सब कारण तो नहीं जानती, और न कह ही सकती हूँ। जो कुछ भी मालूम है, मैं कहती हूँ। उनमें से एक कारण तो यह है, कि सासने स्वयं बहू होकर यन्त्रणा भोगी है, उसने बहूका यत्न करना सीखा ही नहीं। वह समझती है, जैसा मेरी सासने मेरे साथ किया, वैसा ही मैं भी करूँगी।

पुरुष। इसमें कुछ नासमझी दिखाई देती है और कुछ प्रतिशोध दिखाई देता है। आगे कहो?

स्त्री। और एक कारण है, यदि अपना स्वामी न हो, तो ऐसा समझा जाता है, कि लड़केके वश रहना पड़ेगा। ऐसा होने से भी बहूको यन्त्रणा दी जाती है।

पुरुष। सास समझती है, कि लड़केके प्रेमपर हमारा सुख दुःख निर्भर है। बहू वह सब प्रेम आत्मसात् करेगी। इसी आशङ्कासे वह बहूपर विद्वेष करती है। किन्तु यह तो विधवा सासकी बात हुई। सधवा सास क्या बहूपर अत्याचार न करती है?

स्त्री। करती हैं सही। किन्तु विधवाओंसे बहुत कम। विधवा सासोंमें प्रायः सभी बहूके लिये कण्टकी हैं। * * *

पुरुष। * * * तो विधवा नहीं तौ भी वह बहूके लिये बहुत कण्टकी क्यों हैं?

स्त्री । उसका स्वामी अक्षम है—लड़का ही रोजगारी है। उसका बहूके प्रति अयत्न विधवा सासके समान ही है।

पुरुष । अच्छा, उसके लिये ऐसी बातें कही जाती हैं। किन्तु * * * के लिये क्या कहती हो? उसका स्वामी तो अक्षम नहीं है न ? किन्तु मैंने तुम्हारे ही मुँहसे सुना है, कि वह बहूको बहुत ही दुःख देती है।

स्त्री । उसकी बात छोड़ो। वह सदाकी तरुणी रहना चाहती है उसके बाल पकते हैं तब भी वह बहूके रूपकी निन्दा करती है। सधवा सास बहूके लिये कण्टकी होनेसे बहूके रूपकी निन्दा किया करती है।

पुरुष । वह बहूके रूपकी निन्दा क्यों करती है ?

स्त्री । अपना रूप अच्छा जतानेके लिये। जिसके लड़केका विवाह हो गया और बहू आ गई उसकी उम्र अवश्य ही अधिक हो जाती है। जिनके मनमें रूपका गौरव अधिक है, वे अपनी उम्रका अधिक होना अच्छा नहीं समझतीं।

पुरुष । सधवा स्त्रियोंको तो यह विचार करनाही न चाहिये कि उनकी उम्र अधिक हो गई। सधवा स्त्रियोंकी चाहे जितनी उम्र हो वह एक मनुष्यकी आँखोंमें सदा जवान ही बनी रहती हैं। स्वामीके रहते स्त्री बूढ़ी बन नहीं सकती।

स्त्री । यह सही है। किन्तु क्या ऐसा होनेसे बहूसे द्वेष करना चाहिये ? बहूने तो उसे बूढ़ी बनाया नहीं ? उमू अधिक हुई, लड़का हुआ, लड़केका विवाह किया, तब बहू आई। बहूने आपही आप आ सासको बूढ़ी नहीं बनाया !

पुरुष । तब बहूको यन्त्रणा देनेके चार मूल हैं। एक सासकी अज्ञता। दूसरा उसकी प्रतिशोध लेनेकी इच्छा, तीसरा उसके मनका भय, चौथा उसकी द्वेष प्रवृत्ति। किन्तु यह सब तुमने सासके ही दोष कहे; क्या बहूमें कोई दोष नहीं होते ?

स्त्री । हमारे विचारसे बहूमें तो कोई दोष नहीं होता। लड़के खराब होते हैं, मा बापके दोषसे। स्त्री खराब होती है, स्वामीके दोषसे। बहू खराब होती हैं, सासके दोषसे।

पुरुष । अच्छा हमारी बहू कैसी होगी ?

स्त्री । तुम तो जानते ही हो, कि मैंने युवावस्थामें बहू-यन्त्रणा पाई है। इसीसे तुम्हारे मनमें भय है कि मैं भी अपनी बहूको यन्त्रणा दूँगी।

किन्तु मैंने अपनी साससे कोई यन्त्रणा नहीं पाई। मुझे और लोगोंने यन्त्रणा दी थी।—* * * मैं अक्षम स्वामीके हाथ भी न पड़ी। यह तुम जानते ही होगे, कि मेरे मनमें हिंसा आ सकती है या नहीं। मैं तो यह समझती हूँ कि पहले मेरा जितना आदर था, उसकी अपेक्षा अब बढ़ा ही है, कुछ कम नहीं हुआ।

पुरुष। तुम बहूका यत्न कैसे करोगी?

स्त्री। यह मैं कह नहीं सकती। तब भी इतना कह सकती हूँ, कि एक चिड़िया घोंसलेसे लाई गई है, तो उसे परचाना ही चाहिये—सुख न पानेसे वह न परचेगी। उसे ऐसा बनाना चाहिये जिससे वह अपना घोंसला भूल जाय, मा बापको भूल जाय एवं बापके घर जानेकी इच्छा न करे।

पुरुष। जो मा सचमुच अपने लड़के पर प्यार करती है वह कभी बहूपर नाराज़ नहीं होती। देखो, लड़का यदि बहूको न चाहे, तो लड़केका दुर्भाग्य और लड़के की मा का भी दुर्भाग्य है।

स्त्री। जो बहू को देख नहीं सकती, वह लड़के को भी नहीं चाहती; यह सही है। जो बहू को नहीं चाहती, वह प्रायः ही लड़केके द्वितीय विवाह की चेष्टा करती हैं। किन्तु क्या यह बात वह नहीं जानती, कि द्वितीय विवाह कर देनेसे अन्तमें लड़केको कष्ट होगा? वह यह सब जान सुन कर लड़के पर आधिपत्य फैलाकर उसे यावज्जीवनके लिये कष्टमें डाल देती है। ऐसी मा की बात न माननेसे लड़केको पाप नहीं होता।

पुरुष। यह बहुत ही पक्की बातें हैं। किन्तु मैं समझता हूं, कि बहू की यन्त्रणाका और भी एक मूल है, वह तुम्हें मालूम नहीं। किसी कविने कहा है।

मेरी चन्द्रमुखी बेटी भी परघरमें पर हो जावेगी।
मेरी बहू होय परधोटी डब्बन पान उड़ावेगी॥

इसमें ही बहूकी यन्त्रणाका सबसे दृढ़तर मूल है। यह मूल केवल माताकी चेष्टासे ही दूर हो नहीं सकता। लड़के और बहू दोनों ही को और विशेषतः लड़केको इस मूलको नष्ट करनेके लिये माकी सहायता करनी पड़ती है। बहू यदि ननदको देख न सके, एवं लड़का यदि बहूका वह दोष दूर न कर सके तो कौनसी माके मनमें दुःख न होगा? तब यह ख्याल होता है, कि जैसे लड़का वैसी लड़की। लड़केका विवाह करनेसे क्या मेरे पेटकी लड़की पराई

हो जायगी? ऐसे विचारसे जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे मैं बिलकुल ही अन्याय कह नहीं सकता।

स्त्री। मैं यह सब कुछ नहीं समझती। केवल इतना जानती हूं, कि जैसी मैं थी, वैसी ही बहू है। मैं आज घरकी मालकिन हूं, मैं जो करती हूँ वही होता है। कल बहू घरकी मालकिन होगी, जो करेगी वही होगा। मैं अपने बचपनकी बातें याद करती हूं। उस समय मैं जो चाहती थी, वही बहू भी चाहेगी। उस समय मैं जो सोचती, वही बहू भी सोचेगी। ऐसा ही करके मैं बहूके मनको समझ सकूंगी। और इस तरह मनको समझ कर व्यवहार करूँगी।

---

२३ प्रबन्ध।

कन्या और पुत्रका विवाह।

कन्याके विवाहका भार सदासे ही बहुत बड़ा भार है। आज कल बङ्गालमें उस भारका कुछ अधिक आन्दोलन होरहा है। आन्दोलनकी मूल जड़ यह है, कि कन्याके विवाहमें व्ययका व्यसन बहुतही बढ़ गया है। किन्तु अब भी भारत वर्षमें सर्वत्र यह आन्दोलन संक्रामित नहीं हुआ है। दक्षिणमें महाराष्ट्र ब्राह्मणोंमें पण (वरको निमित्त करके जो धन वरका पिता कन्याके पितासे लेता है अथवा कन्याको निमित्त करके जो धन वरके पितासे कन्याका पिता लेता है) देकर और लेकर दोनों ही प्रकारसे कन्या विवाहकी प्रथा चलती है। द्राविड़ भूमिके अन्यान्य स्थलोंमें पण लेकर विवाह करने की ही रीति प्रबल है। आर्य्यावर्तमें सारस्वत और आदिगौड़ ब्राह्मणोंमें भी पण लेकर या देकर कन्याके विवाहकी प्रथा चलती है। सुतरां दक्षिण या पञ्जाब प्रदेशमें और पश्चिमोत्तरमें कन्याके विवाहमें अधिक व्यय होनेका कोई आन्दोलन नहीं है। क्षत्रिय और राजपूत आदि जातियोंमें रजवाड़ोंमें आन्दोलन है, किन्तु वह आन्दोलन उनकी हीनावस्थासे है। विहार प्रदेश और बङ्गालमें अर्थात् आर्य्यावर्तके के दक्षिण पूर्वांशमें सभी उत्कृष्ट वर्णोंमें इस विषयका अधिक आन्दोलन है। और भी दिखाई देता है, कि इन सब प्रदेशोंमें कुलीन और मौलिकके नामसे दो दल इकठ्ठा हैं; इसमें ब्राह्मण या अन्यान्य जातिके सब लोगोंमें ही ब्राह्मविवाह अर्थात् पण देकर कन्याके विवाहकी प्रथा समधिक गौरवान्वित है। इन सब

प्रदेशोंमें ही वर पक्षके कर्तागण पणके लिये जिद्द किया करते हैं। यहां हम कहे देते हैं कि कितनोंही का संस्कार ऐसा है कि कुलीन और मौलिक का भेद केवल बङ्ग देशमें ही प्रचलित है। किन्तु ऐसा नहीं। पश्चिमोत्तर प्रदेशके कान्यकुब्ज और विहारके मैथिल लोगोंमें भी बङ्गालकी तरह कौलीन्य प्रथा प्रचलित है। अतएव देखा जाता है कि जहां कुलीन और मौलिकका भेद है वहां ही अपनेसे बड़े घरमें कन्याका विवाह करनेकी इच्छा प्रबल हो उठती है और जहां यह इच्छा प्रबल है, वहां ही वरकर्त्ताको उसकी कुल मर्य्यादाके अनुरूप पण देना पड़ता है।

पुत्रके विवाहमें पण लेनेका यही यथार्थ कारण है। किन्तु आजकल उस मूल वृक्षमें एक कलम उत्पन्न होगई है। इस समय कन्याके कर्त्तागण जो पणके लिये पीड़ित किये जाते हैं वह केवल कुल मर्य्यादाके नामसे नहीं। कुलका मान दिन दिन घटता जाता है किंतु पणका दर दिन दिन बढ़ता ही जाता है। इसका कारण यह है कि अर्थकरी अङ्गरेजी विद्याका समादर बढ़ गया है। विश्वविद्यालयके सन्तानगण कुलीन-सन्तानोंका स्थान ग्रहण कर रहे हैं। कुलीन-सन्तानोंकी तरह वे लोग बहु-विवाह नहीं करते बल्कि पत्नीका भरण पोषण करते हैं। सुतरां उन लोगोंका आदर अधिक है। इस पर भी उन लोगोंकी संख्या कुलीन सन्तानोंकी संख्यासे बहुत थोड़ी है, सुतरां उनकी दर भी बहुत अधिक है। देशमें विवाह योग्य कन्याकी अपेक्षा विवाह के योग्य युनिवर्सिटीके सन्तानोंकी संख्या सदाही कम रहेगी। बल्कि वह कमी क्रमसे बढ़ती ही जायगी। सुतरां वरकी दर भी बढ़ती ही जायगी। कभी कम न होगी। दक्षिण आदि देशोंमें जहां पण लेकर कन्याका विवाह करने की प्रथा-ही प्रचलित है, वहां भी आजकल युनिवर्सिटीके सन्तानोंको अधिक पण देकर विवाह करना नहीं पड़ता। वे लोग दानमें कन्या पाते हैं। कुछ दिनके बाद वे लोग भी हम लोगोंकी तरह पण लिये विना पुत्रका विवाह न करेंगे।

अतएव दिखाई देता है कि सद्वंशजात और सुशिक्षित वर पात्रका दर बढ़ता ही जायगा। सुतरां उस दरको घटानेके लिये चाहे कितनी ही बातें कही जायँ उसका कोई विशेष फल न होगा। जहाँ वंशमर्य्यादाका आदर है, जहाँ ऊँचे वंशमें कन्या देनेकी इच्छा है, जहाँ गुणका गौरव है, वहाँ ही ब्राह्म-विवाह प्रचलित होगा और पण देकर कन्याका विवाह करना ही पड़ेगा। इस सिद्धान्तको स्थिर निश्चय समझने पर सुबोध मनुष्य कन्याके विवाहमें पण

देनेके लिये रोना—धोना न मचावें। वे विचारकर इसीके समझनेकी चेष्टा करेंगे कि अपनी कन्याके विवाहके लिये उन्हें किस प्रकार यत्नशील होना चाहिये। इसके लिये अधिक प्रमाणका प्रयोजन नहीं कि इसके संस्कारकी चेष्टा करना अपचेष्टा मात्र है। इतना कहना यथेष्ट है, कि संस्कारकवर्गके पथप्रदर्शक अङ्गरेज लोग कन्याके विवाहमें यथेष्ट धन खर्चकर गाना, नाच और भोजनादि कराते, वस्त्रालङ्कारादि देते और दहेज भी विशेष रूपसे देते हैं।

हमारे विचारसे यदि पिता अपने पुत्रकी अपेक्षा दामाद रूप, गुण, कुल, और शीलमें उत्कृष्ट हो, अपकृष्ट न हो इसके लिये यथासाध्य चेष्टा न करें तो वे पापके भागी होते हैं। रूप शब्दसे सौन्दर्य्य और स्वास्थ्य दोनों ही समझना चाहिये। गुण में विद्या अवश्य ही लेनी चाहिये। कुल शब्दसे देशीय चिरप्रचलित अर्थमें—वंशमर्य्यादा व विदेशीय अर्थमें,—धनशालिता, यह दोनों ही अर्थ ग्रहण करने चाहियें। और शीलका देशीय अर्थ लेना ही अच्छा है—जिससे नम्रता, सौजन्य, गुरुभक्ति और सत्याचार समझा जावे। इसके आधुनिक अर्थ—अविनय या तेजस्विता, रूढ़ता या सत्यवादिता, अपने देशवालों पर दाम्भिकता और विदेशियोंके आगे चाटुकारिता हैं इन सब अर्थोंमें न लेना ही अच्छा है। किन्तु कन्याके पिता चाहे जितनी चेष्टा करें, उल्लिखित सब गुणोंसे युक्त और सब दोषोंसे विवर्जित सब तरहसे मनके अनुसार पात्र कभी न पायेंगे। इस लिये एक सीमा निर्दिष्ट कर रखनी चाहिये। कन्याके लिये जो पात्र देखें, उसकी सब विषयोंमें अपने पुत्रके साथ तुलना कर लें। पुत्र न रहनेसे भतीजे, छोटा भाई आदिके साथ तुलना करें। तुलना करने योग्य अपने वंशमें कोई न हो, तो स्वयं अपने साथ तुलनाकर समझ लें कि पात्र उत्कृष्ट है या अपकृष्ट। इस प्रकार उत्कर्षकी एक सीमा न बांध लेनेसे अपनी कन्या किसीको देनेपर मनका क्षोभ नहीं मिटता। कितने ही स्थलोंमें अयोग्य वैवाहिक सम्बन्ध होनेसे परिणाममें दोनों कुटुम्बके लिये क्लेश और कन्या दामादके लिये धर्म्मव्याघात उपस्थित होते हैं। वस्तुतः कन्यादान समान घरमें ही करना चाहिये। इस लिये अपने पुत्रादिके साथ तुलना करके ही वर पात्र चुनना चाहिये। कुछ ऊंचे घरमें अवश्य ही जाना चाहिये; किन्तु बहुत ऊंचे घरमें हाथ नहीं बढ़ाना चाहिये।

किन्तु आजकल कन्याके दायित्वसे एकबारगी निश्चिन्त होनेकी इच्छासे खूब ऊंचा घर देखकर ही लोग कन्यादानमें प्रवृत्त होते हैं। वरपात्रका दर बढ़

जाना भी इसका एक कारण है। किन्तु बहुत ऊंचे घरमें कन्या देनेसे अपना और कन्याका, दोनोंहीका अनादर होता है। और बहुत नीचे घरमें देनेसे भी वैसाही फल होता है। नीच घरके लोग समझते हैं, कि कन्याके मातापिता भाई आदि चाहे जो करें, वे लोग उसका अनादर करते हैं और ऐसा ही विचार कर वे लोग आत्मगौरवकी हानिकी आशङ्कासे आपही समधिक अनादर दिखाना आरम्भ कर देते हैं। अतएव कन्याका विवाह समान घरमें ही करना चाहिये। छोटे घर तो देना ही न चाहिये, किन्तु बड़े घरमें भी बहुत बढ़ा-बढ़ी करना न चाहिये।

और भी एक विषय निश्चय कर लेना चाहिये। रूप, गुण, कुल, शील आदि जिन सब विषयोंमें अपने पुत्रादिके साथ वर पात्रकी तुलना करनी चाहिये, उसमें कोई तारतम्य किया जा सकता है या नहीं। कामके समय ऐसा अवश्य ही करना पड़ता है। हमारे मतसे शील या चरित्र सबकी अपेक्षा बड़ा है, गुण उससे नीचे, रूप उससे नीचे और कुल सबसे नीचे रखनेसे भी चलेगा, इससे कोई अधिक दोष न होगा। किन्तु आजकल कुलका एक भाग जो अर्थशालिता है, उसकेही प्रति लोगोंकी विशेष दृष्टि पड़ती है। उस ओर दृष्टि पड़ना अकारण या अन्याय नहीं, परन्तु अधिक धन की ओर दृष्टि करनेका उतना प्रयोजन नहीं। मोटी रोटी और कपड़ेका ठिकाना होनेसे ही बहुत समझना चाहिये। हम और भी एक बात कहेंगे। पिता कन्याको अपनी शक्तिके अनुसार धनरत्नसमन्विता बना कर दान करें। यदि दे सकें तो कन्याको कुछ अर्थ भी दें। वरपक्षवालोंके दबानेकी प्रतीक्षा न करें। यदि वह ऐसी चेष्टा करेंगे तो वरकर्ता जितना रुपया दहेजमें चाहते हैं उसमें भी कमी हो जायगी। वरकर्त्ताका जो दहेज घटेगा, उसका हेतु सिर्फ उनकी आंखमें लज्जाही नहीं है। उस दहेजमें एक प्रकृत भूल है। कन्याकर्त्ताको कन्याको कुछ सम्पत्ति देनेसे दहेजका वह मूलरूप रह न जायगा। दहेजका प्रकृत मूल यही है, कि निसर्गतः कन्याओंका पितृधन पर कुछ अधिकार है। हम लोगोंके व्यवहार-शास्त्रमें वह नैसर्गिक अधिकार स्वीकृत हुआ नहीं है। किन्तु नैसर्गिक शक्ति सबकी ही शिरःस्थिता है। वरकर्त्ताकी जानमें हो या अनजानमें, वह उस नैसर्गिक बलसे बलवान है। कन्याको कुछ सम्पत्ति प्रदान करनेसे ही उस शक्तिकी पूजा हो जाती है, फिर वह वरकर्त्ताकी सहकारिणी नहीं बनती। इसीसे दहेजमें भी कमी हो जाती है। पूर्व्वकालमें जमींदार लोग कन्यादामादको भूसम्पत्ति दान करते थे, इसीसे वे लोग

कुलीन सन्तानोंको जबरदस्ती लाकर भी विवाह कर देते थे और वरकर्त्ता उच्चवाच्य नहीं कर सकते थे ।

हमारे देशमें कन्याके विवाहको जैसा कष्टसाध्य व्यापार समझते हैं वैसा पुत्रके विवाहको नहीं। पुत्रके विवाहमें भले आदमियोंको पण देना नहीं पड़ता। पुत्रका विवाह होने पर भी उसका बहुत कुछ सुख दुःख माता पिताके अधीन ही रहता है। पुत्रवधू अपने मनके अनुसार बना ली जाती है । देशमें बहुविवाहकी प्रथा प्रचलित रहनेसे मनमें यह भाव भी सञ्चित रह सकता है, कि बहू ठीक न रहेगी, तो लड़केका दूसरा विवाह होगा। किन्तु जब कार्यतः बहुविवाहकी प्रथा अप्रचलित होती जाती है, जब कन्या-काल उत्तीर्ण कर लोग कन्याका विवाह करते जाते हैं, जब विजातीय शिक्षाके प्रादुर्भावसे पुत्र और पुत्र-वधूकी वश्यता क्रमशः घटती जाती है, तब भी चाहे पुत्रका विवाह करना कन्याके विवाहकी तरह दायित्वपूर्ण न माना जाये, किन्तु उसमें भी निःसन्देह बहुत कुछ विचार, सतर्कता और दूरदर्शिताका प्रयोजन है। विशेषतः कुछ विचार कर देखनेसे निश्चय जान पड़ता है, कि पुत्रका विवाह खूब विचार कर न करनेसे एक बार ही तुम्हारे वंशमें अमिट दोष प्रविष्ट हो सकता है। अतएव पुत्रका विवाह करना भी कुछ हँसी खेलका काम नहीं। आजकलके पुत्रके पिता केवल पण पर ही दृष्टि रखते हैं। इसकी ओर दृष्टि नहीं रखते, कि रुपयेके लोभसे न जाने किसे यावज्जीवनके लिये लड़केके गलेमें बाँधे देते हैं। ऐसा करनेसे क्या पुत्रके प्रति कठोर अत्याचार नहीं होता? इसीसे हम कहते हैं कि पुत्रके विवाहमें अधिक रुपये मिलनेका लोभ छोड़ो। विशेष रूपसे इसकी ही चिन्ता करो, कि किस प्रकार बहू तुम्हारी कुल-लक्ष्मी बन सकेगी। इसपर विशेष ध्यान दो—

(१) कन्या सुन्दरी है या नहीं, अर्थात तुम्हारे पुत्र-कन्याकी अपेक्षा उसका अङ्गसौष्ठव अधिक है या नहीं।

(२) कन्याका स्वभाव नम्र और उदार है या नहीं। रूप देखनेसे ही बहुत कुछ स्वभाव समझमें आ जाता है। उससे कुछ बातें कहला या सखियोंसे उसके व्यवहारकी बातें सुनकर भी बहुत कुछ समझ सकते हैं।

(३) कन्याके पिता और पूर्वपुरुष धार्मिक और विद्वान् थे या नहीं।

(४) कन्याकी माता साधुशीला, धर्म्मपरायणा और गृहकार्य्यमें दक्षा है या नहीं। इन चार नियमोंपर विशेष लक्ष्य रख तब रुपये पैसेकी ओर

दृष्टि करनेसे उतनी हानि नहीं। किन्तु कन्या यदि उन सब विषयोंमें अच्छी हो, तो पुत्रके सुख और वंशकी उन्नति, इन दोनोंको देख पुत्रके लिये वैसी कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। यदि उसे ग्रहण करनेका स्थिर निश्चय हो जाये, तो रुपये पैसेके लिये कष्ट देना बहुत ही नीचता है। असल बात यह है, कि पुत्रके विवाहमें केवल पणकी ओर न देख उसके भावी सुख, स्वाच्छन्द्य और वंशकी उन्नतिकी ओर लक्ष्य रखना चाहिये।

विवाहका व्यापार पारलौकिक सब प्रकारके सुखदुःखके साथ बहुत ही घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। इसके लिये सामाजिक और वैज्ञानिक समस्त नीतियोंके संबन्धमें सूक्ष्मानुसूक्ष्म विचार करनेका विशेष प्रयोजन है। आज तक पृथिवीमें किसी देशके वैवाहिक व्यापारमें वैज्ञानिक बातोंका समावेश हुआ नहीं है। ऐसा होनेसे मनुष्यजातिकी बहुत कुछ उन्नति होती। जिस प्रदेशमें उन बातोंका कुछ भी प्रयोग हो सकता है, उस देशका उत्कर्ष देखनेसे ही यह बात अनुमित हो सकती है। युरोपखण्डके अनेकानेक देशोंमें-विशेषतः इङ्गलैण्डमें पशुजननका कार्य सच्चा वैज्ञानिक कार्य्य होगया है। इससे आजकल इंगलैण्डके घोड़े, गाय, भेड़, कुत्ते आदि अन्यान्य सबदेशोंके घोड़े, गाय आदिसे उत्कृष्टतर हो गये हैं। इंगलैण्डका जल-वायु उन सब जन्तुओंके लिये विशेष उपकारी नहीं। किन्तु ऐसा न होने पर भी वैज्ञानिक प्रथाके अनुसार काम करनेसे उन सब पशुओंका वंश क्रम क्रमसे बढ़ रहा है। जल वायुके दोषसे वह घट नहीं रहा है।

किन्तु इतना जान--सुनकर नर---नारियोंके दाम्पत्यके सम्बंधका संघटन अभी तक युरोपमें भी प्रचलित नहीं हुआ। इस देशमें राशि, गण नक्षत्र और शारीरिक लक्षण आदिका विचार कर जो वैवाहिक कर्म होता है, उसकी यौक्तिकताकी समझ प्रायः लुप्त हो गई है। तब भी यह कहा जा सकता है, कि हमारे देशमें वैवाहिक व्यापार बहुत कुछ वैज्ञानिक नीतिके विरुद्ध हो सकता था, किन्तु वर्णभेदकी प्रथा प्रचलित रहनेसे वह अब तक उतना विकृत हुआ नहीं है। नहीं तो अन्यान्य प्राचीन जातियों की तरह इतने दिनोंमें हम लोगों का भी विनाश हो जाता। यदि अब भी हम लोग, उत्साही होकर अपने वैवाहिक कामोंमें क्रम क्रमसे वैज्ञानिक तथ्योंका यथा सम्भव प्रयोग करना सीखें, तो अधःपातका निवारण और भावी उत्कर्षके साधनका बीज बो सकते हैं। दो एक स्थूल बातें कह कर हम इस विषयको समाप्त करेंगे।

(१) परस्पर बहुत ही बेजोड़ दम्पतीके मिलनेसे अच्छी सन्तान नहीं होती ।

(२) पात्र पात्रीके अङ्गमें एकही प्रकारके दोषका रहना अच्छा नहीं। इससे अपकृष्ट सन्तान होती है। शारीरिक गुणके मिलनेसे सन्तान अच्छी होती है ।

(३) उल्लिखित दोनों विधान वर कन्या दोनोंके आगे तीन पुश्ततक जहां तक चले—अच्छा है ।

(४) वर और कन्याके पहले की एक पुश्तमें कोई संक्रामक रोग न रहे ।

(५) स्त्री पुरुषोंमें बहुत ही गहरा प्रेम रहनेसे सन्तान अच्छी होती है ।

(६) पिता माताके शारीरिक और मानसिक दोष-गुण उनकी सन्तानों-में भी होते हैं ।

---

२४ प्रबन्ध ।

जीवत्वत्सा (जैंयाच)

(जिसकी प्रथम सन्तति जीवित रहे ।)

इस प्रबन्धके शिरोभागमें जो शब्द है, वह संस्कृतमिश्रित जान नहीं पड़ता, यह किसी शब्दकोषमें भी नहीं। प्राचीन हिन्दी काव्योंमें भी यह शब्द दिखाई नहीं देता । हमें जान पड़ता है कि यह आधुनिक शब्द आप ही उत्पन्न हुआ है । इस प्रदेशमें भी यह अच्छी तरह प्रचलित नहीं है; किन्तु क्रमशः विस्तृत हो रहा है ।

जैंयाचका अर्थ है,—जीवतवत्सा स्त्री। जिस प्रसूतिकी पहली संतान जीती है, उसे ही जैंयाच कहते हैं। इस आधुनिक शब्दकी सृष्टि क्यों हुई ? नया पदार्थ उपस्थित होनेसे ही उसका नामकरण होता है और नये शब्दकी उत्पत्ति होती है। किन्तु क्या जैंयाच एक असामान्य नई वस्तु है ? पहले मृतवत्सा शब्द प्रचलित था। उस समय मृतवत्सा ही एक नई वस्तु थी। अब इस समय जैंयाच ही नई वस्तु है। हम समझते हैं, कि देशमें नई नई बीमारियोंके फैलनेसे और बालविवाहकी प्रथासे जो कुछ दोष हुआ है उसका संशोधन न करनेसे ही ऐसे शब्द प्रचलित हो गये हैं ।

आधुनिक जैयाच शब्दकी प्रकृत पर्यालोचनासे हृत्कम्प उपस्थित होता है। सुनते हैं, कि यहूदी जातिके आराध्य किसी देवताने किसी कारण से क्रुद्ध हो उस जातिके प्रथम-जात सन्तानोंको एक रातमें ही विनष्ट किया था। बङ्गदेशमें भी किसी देवताका ऐसा अभिसम्पात हुआ है, कि उस देशके कितने ही प्रथमजात संतानकी रक्षा हो नहीं सकी। वह सब अब तक अकाल ही कालग्रस्त हो रहे हैं।

पञ्जाब और उत्तर पश्चिमान्तमें हिन्दू या मुसलमान किसी जातिके लोगोंमें जैयाच शब्द अधिक प्रचलित नहीं। किन्तु बङ्गवासी हिन्दुओंमें जैसे जैयाच शब्द प्रचलित है, वैसे ही बङ्गवासी मुसलमानोंमें भी 'आकड़' शब्दकी सृष्टि हुई है। जिस मुसलमान स्त्रीकी पहली सन्तान जीवित रहती है, उसे 'आकड़' (अकष्ट)? कहते हैं। बंगदेशमें यह व्यापार क्यों उपस्थित हुआ?

प्रथम सन्तानकी मृत्यु सामान्य दुर्भाग्यकी बात नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि अपत्यवियोगकी यन्त्रणाके समान दूसरी और कोई यन्त्रणा नहीं। जिसको सन्तानवियोग होता है, उसके हृदयमें घाव हो जाता है। किन्तु प्रथम सन्तानकी वियोग-यन्त्रणा कुछ विशेष यन्त्रणा है। पहली सन्तानके प्रति माता-पिताका जो वात्सल्यभाव उत्पन्न होता है, वह अपूर्व है। वात्सल्य भावके साथ प्रथम परिचय और उस भावके अभिनव सुखकी उपलब्धि प्रथम-जात सन्तानके पानेसे ही होती है। प्रथम सन्तानपर ममता बहुत गहरी होती है। प्रथम सन्तान बिलकुल ही निजस्व है। यमराजके द्वारा इस निजस्वका लोप होनेपर ममताका भ्रम दूर हो जाता है और एक बारगी ही आकाशसे रसातलमें गिरना पड़ता है। इसके बाद चाहे जितनी सन्तानें उत्पन्न हों, किन्तु किसी पर उतनी ममता नहीं होती। सन्तान सचमुच ही अपनी नहीं, ऐसा ही भाव सदाके लिये हृदयमें जागता रहता है। उन सबपर यमराजका हिस्सा जान पहले जैसी घोर ममता उत्पन्न नहीं होती। उसका निजस्व नहीं—वह दूसरेका जमा धन है। उसे अपना समझना न चाहिये। वह रहनेके तो हैं ही नहीं तब भी जब तक रहें, रहें। मनमें सदा ऐसा ही भाव उदित होकर अपने जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न कर देता है। हमलोगोंमें जो औदासीन्य वा मानसिक दुर्ब्बलता और अध्यवसाय-विहीनता दिखाई देती है उसका अन्यतम कारण हमलोगोंकी प्रथम-जात सन्तानकी अकालमृत्युका प्राचुर्य है।

यौवनकालमें विवाह हुआ। सन्तान हुई, कार्य्य—तत्परता अवश्य

ही होगी। प्रियतम पुत्र और प्रियतमा भार्य्याको सुखसे प्रतिपालित करनेके लिये आपही प्रबलतर इच्छा होगी। जिनको कोई सन्तान नहीं उनकी अपेक्षा पुत्रकलत्रवान मनुष्योंमें सहस्र गुण सावधानी और परिणामदर्शिता समुदित होगी। केवल अपने लिये जो परिश्रम करते हैं, उनकी परिश्रम-शालिताका उत्तेजक साक्षात् स्वार्थसिद्धिके अतिरिक्त और कुछ भी हो नहीं सकता। किन्तु जिनके स्त्री पुत्र हैं उनकी परिश्रमोन्मुखताके कारण स्वार्थ और परार्थ दोनों ही सम्मिलित हैं। वह अवश्य ही अधिकतर परिश्रम कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त आश्रमी मनुष्य परिश्रमसे थकनेपर बहुत ही सहज में शरीर और मनकी क्लान्ति दूर कर सकते हैं। वह पुत्र कलत्रादि लेकर कुछ क्षण बितानेसे ही फिर पहले जैसी शक्ति पाते हैं। आश्रम विहीन मनुष्यके लिये थकावट दूर करनेके लिये वैसा कोई सहज उपाय नही। काम बदलना या आराम करनाँ ही उनका एकमात्र उपाय है।

इतनी सुविधा रहते भी हमलोगोंके युवापुरुष श्रमविमुख, अध्यवसायशून्य, कार्य्यतत्परताविहीन और अन्यान्य देशीय वृद्ध लोगोंकी अपेक्षा भी समधिक निस्तेज और निर्ज्जीव हो रहे हैं। हम समझते हैं कि इन लोगोंमेंसे अधिकांश लोगों की प्रथमजात सन्तान नष्ट हो जाती है। इससे थोड़ी उम्रसे ही इन लोगोंके हृदयकन्दरमें अपने अपने जींवनके प्रति अनास्था उत्पन्न होती है। पृथिवीमें कुछ नहीं। ऐसी समझ उनमें अकाल ही उत्पन्न होती और इसी से वे लोग यौवनावस्थामें ही वार्द्धक्यदशाको प्राप्त होते हैं। इस देशकी स्त्रियाँ भी बहुत ही शीघ्र प्राचीन अवस्थाको प्राप्त होती हैं। उल्लिखित दुर्घटना ही उसका एक मूल कारण है। स्त्रियोंके लिये सबकी अपेक्षा गौरवका नाम है, 'सधवा'—और दूसरा 'जैंयाच'। पूर्ण यौवना स्त्रियोंके लिये ऐसी बात असाधारण नहीं कि—"मेरा जैंयाच नाम छूट गया, ईश्वर करें दूसरा नाम रहते मैं मर सकूँ।"

---

२५ प्रबन्ध ।

निरपत्यता ।

विवाह होनेसे ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश होता है । प्रणयका सञ्चार होनेसे ही दम्पतीमें स्वार्थपरताका संस्कार आरम्भ होता है । किन्तु स्वार्थपरताका संस्कार क्या है ? परार्थके लिये उसकी विस्तृति है। जबतक वह विस्तृति होती रहती है, तभी तक वह संस्कार भी होता रहता है । विस्तृतिके स्थगित होनेसे संस्कार भी स्थगित होता है । जबतक तुम्हारा स्वार्थ और किसीके स्वार्थके साथ सम्मिलित होता जाता है, तब तक तुम्हारा स्वार्थ का ही संस्कार होता है, जब मिल गया—दो स्वार्थका एक स्वार्थ हुआ, फिर स्वार्थकी विस्तृति भी न हुई, तब संस्कार भी हो न सका । इसीसे हम कहते हैं कि दम्पतीके प्रणयमें उनका स्वार्थ-संस्कार आरम्भमात्र होता है । दम्पतीका परस्पर आकर्षण इतना प्रबल है कि उस आकर्षणके प्रभावसे दोनोंका जीवन कुछ ही दिनोंमें दृढ़रूपसे सम्बद्ध हो सम्मिलित एक जीवनकी तरह हो उठता है । उनमें स्वार्थ परार्थ समझनेका अवसर लुप्त हो जाता है, अथवा प्रकृतिभेदसे जहांतक लुप्त होना होता है वह होकर घनिष्ठताकी वृद्धि स्थगित हो पड़ती है। असलमें जैसा बाह्यजगत्में है वैसा हो अन्तर्जगत्में भी है । द्रव्यके प्रकृतिभेदसे कहीं योगाकर्षण, कहीं रासायनिक आकर्षण, कहीं दो आत्माओंका नैकट्य सम्बन्धमात्र, कहीं वा दोनोंके मिलनेसे एक अपूर्व्व वस्तु ।

उल्लिखित दृष्टान्तसे हमें और भी एक बात याद आई । अनेक दिनसे हमारा संस्कार होगया है कि दम्पतीके परस्पर सम्मिलनका परिणाम और प्रकारभेद प्रायःही उनकी सन्तानोंका आकार प्रकार देखकर समझमें आता है। यदि उनके सम्मिलनकी प्रकृति बाह्यजगत्के योगाकर्षणके अनुरूप हो, तो सन्तान कभी पिताके आकार प्रकारकी, कभी माताके आकार प्रकारका परिस्फुट भाव धारण करती है, अथवा पितृवंशीय या मातृवंशीय पूर्व्वोत्पन्न किसी पुरुष या स्त्रीका भाव धारण करती है। यदि दम्पतीका सम्मिलन बाह्यजगत्के रासायनिक सम्बन्धके अनुरूप हो, तो हरेक सन्तान उन दोनोंके आकार प्रकार अथवा उनके पूर्व्वपुरुषोंके आकार प्रकारसे परस्पर सम्मिलित भावापन्न हो प्रकट होती है । हमारे इस संस्कारका इतना दृढ़ सम्बन्ध नहीं, कि उसे हम अव्यभिचारी तथ्य समझ सकें, किन्तु जब यह भाव पहले पहल

हमारे हृदयमें आया था, उसके बाद हमने जितना देखा और पढ़ा * उससे यह हमें अप्राकृत ज्ञान न पड़ा।

अस्तु! इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तान उत्पन्न होनेपर दम्पतीका प्रणय दृढ़तर होता है। दश हजारमें दो चार बिलकुल ही पशुधर्म्मी व्यक्तियोंके अतिरिक्त यह बात अन्यान्य सबके लिये ठीक मानी जाती है। सन्तान उत्पन्न होने पर माता पिताकी एकीभूत स्वार्थपरता और भी विस्तृत तथा सुसंस्कृत हो जाती है। कैसे लड़का अच्छा रहेगा, कैसे वह अच्छा होगा, क्या करनेसे उसकी अवस्था अपनी अवस्थासे अच्छी होगी, यह सब चिन्ताएँ माता पिताके हृदयका आश्रय लेती हैं। वे लोग फिर अपने सुखकी ओर उतना दृष्टिपात नहीं करते—स्वार्थपरताका पुनः संस्कार होकर वे परार्थपरताके उच्चतर सोपानपर चढ़ते हैं। इस प्रकार सन्तान पिता माताके जीवनकी संस्कारक होती हैं। बाप सन्तानके लिये जो कुछ करते, शास्त्रमें और लोगोंके मुँहसे उसकी बड़ी प्रशंसा सुनाई देती है। किन्तु सन्तान पिता माता-का जो अशेष उपकार करता है, वह शास्त्रमें केवल इशारेमें कहा गया है, कहीं भी सुविस्तृतरूपसे कहा नहीं गया। पुत्र पिता माताके लिये निरयत्राता कहा जाता है, पण्डित लोग व्याख्या करते हैं,—श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदादि द्वारा। हमारे विचारसे परकालमें चाहे जो कुछ हो उसकी सूचना इहकालमें होनी चाहिये †। इसे विचार कर देखना चाहिये, कि सन्तान इहलोकसे ही निरय-त्राणका उपाय करती है, या नहीं। सन्तानोत्पत्तिसे पितामाताका जो स्वार्थ संस्करण होता है, वह पहले ही कहा जा चुका है। किन्तु अपत्य द्वारा आरब्ध संस्करणका कार्य्य अल्पकालमें ही निवृत्त नहीं होता। यह सन्तानकी पूरी उम्र तक चल सकता है—फलतः जबतक मातापिता अपनी सन्तानके जीवनको अपने ही जीवनकी अनुवृत्तिमात्र नहीं मानते, तबतक सन्तान द्वारा स्वार्थ-परताका संस्कार होता रहता है। किन्तु सन्तानके जीवनको अपने जीवनकी

* अये न केवलमस्मत्संवादिन्याकृतिः—
अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो-
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः।

† यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

अनुवृत्ति समझ सन्तानको ठीक अपने ही प्रकार बनानेकी चेष्टा करनेसे सन्तानकी अपनी वृत्तिका सङ्कोच साधन होता है, ऐसे स्थलमें माता वा पिताकी स्वार्थपरतामें व्याघात उत्पन्न होता है। सन्तानको कुछ ज्ञान होते ही माता पिताके समझमें आता है, कि उनके स्वयं कोई दुष्कर्म्म करनेसे सन्तान भी उसी दुष्क्रियाको सीखेगी और स्वयं निश्चेष्ट होनेसे सन्तानकी अवस्थाका उत्कर्ष साधन न होगा। वस्तुतः सन्तान पालन करते शिक्षापद्धतिके कितने ही नये नियम आविष्कृत होते हैं, मनुष्यके हृदयमें जो बहुतसी सत्य बातें अपरिज्ञात हैं, वह परिज्ञात होती हैं, तथा इसे भुक्तभोगी मात्र ही समझ सकते हैं कि कार्य्यका विघ्नवैषम्य उत्साहशक्तिकी उत्तेजनासे कहां तक दूर हो जाता है। यहां हम एक उदाहरण देते हैं। पहले सन्तानके उत्पन्न होनेपर किसी मनुष्यने स्वाथ्य रक्षा, शिशुपालन और चिकित्सा-विधानको इस प्रकार सीख लिया कि कितने ही समय कृतविद्य चिकित्सकगण उसका परामर्श लेते और उसके उपदेशसे कृतकार्य्य होते थे। लड़का दुर्बल था। क्रमसे उसका शरीर स्वस्थ और सबल हुआ। उसकी शिक्षाके कामका विधान करते करते शिक्षा-पद्धतिके सभी सूत्र पिताके आयत्त होते गये। लड़केको विलक्षण मेधावी और बुद्धिमान् देख पिताकी इच्छा हुई, कि उसे युरोप भेजें और अच्छी तरह शिक्षित बनावें, इसके लिये अर्थसञ्चय करनेकी चेष्टा उत्पन्न हुई और स्त्री पुरुषने हाथ रोक कर खर्च करना सीखा।

उस मनुष्यकी एक कन्या हुई। कन्या बढ़ने लगी। लिखने पढ़नेमें मन लगाने लगी। बुद्धि और सुशीलतामें उत्कृष्ट हो उठी। पिताने कन्याको उसके उपयुक्त पात्रको समर्पण करनेकी इच्छा की। किन्तु धनवान् न होनेकी वजह सुपात्रका संयोजन न हो ऐसा भय हुआ। उन्होंने धनवृद्धिका उपाय न कर सकने पर विचार किया कि यदि पाँच आदमी मुझे नेक समझें तो कन्याके विवाहके लिये अच्छा पात्र मिल सकेगा। ऐसा ही विचार वे यशोलिप्सु हुए।

उनका और एक पुत्र हुआ। वह बहुत ही सुन्दर हुआ। प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र जाननेवाले किसी महापुरुषने लड़केको देख कहा, कि यह लड़का बहुत ही धार्मिक, जितेन्द्रिय, सदय स्वभाव और कितने ही लोगोंका पालन करनेवाला होगा। उस बातपर अनायास ही माता पिताकी श्रद्धा हुई, वे लोग

आत्मगौरवसंपन्न हुए और ऐसे पुत्रके मा-बाप का उच्चप्रकृतिका होना आवश्यकीय समझ कर उन्नतिपरायण हुए।

उस मनुष्यका और एक पुत्र हुआ। जब वह चार पाँच वर्षका था तब वे एक दिन अपने मालिकसे मिलने गये। बातोंके प्रसङ्गमें मलिकने कहा,—"तुम्हारी जहाँ तक उन्नति होनी थी हो गई, अब क्या होगी?" अङ्गरेज जातिके मालिककी ऐसी हृदयशून्य विरस बातें जैसे ही उसके कानमें पड़ीं वैसे ही उसका हृदय जल उठा। फिर लड़केको याद कर क्रोधका दमन हुआ और मुँहसे ऐसी युक्तिकी बातें निकलीं, कि मालिकका मन एक बार ही मुट्ठीमें आगया। दिये हुए परामर्शको उसने शिरोधार्य्य किया और मनुष्यकी उन्नतिकी राह खोलनेके लिये यथोचित यत्न करनेमें मन लगाया। सचमुच प्रीतिभाजन सन्तान आलस्य, निश्चेष्टता, निरुत्साहता, अप्रयत्न, असमीक्ष्यकारिता आदि नरकसे माता-पिताको विमुक्त करती और इसीसे सन्तानको नरकत्राता कहते हैं।

जिस दम्पतीकी सन्तान नहीं होती, उनके मनका प्रणय वर्द्धित विस्तृत और उच्चतर संस्कारपूर्ण हो नहीं सकता, असमीक्ष्यकारिता दोषसे निवृत्त रहनेके लिये उन्हें विशेष यत्न करना पड़ता है। अध्यवसाय और उत्साहशीलताके थोड़े दिनमें ही स्तिमिततेज होनेकी सम्भावना होती है। इस प्रकारकी निरयदशासे निस्तार पानेका क्या उपाय है? असामान्य औदार्य्य और दूरदर्शिता तथा धीरतासम्पन्न मनुष्य अपना उपाय आपही कर लेंगे। अपने नैसर्गिक अर्थात् माता-पिताके पुण्य बलसे ही वह तर जायँगे परन्तु अन्यान्य साधारण लोगोंके लिये निरपत्यताजनित दोषका अतिक्रम करना बहुत ही कठिन व्यापार है। इसलिये विशेष दुरूह है कि मनुष्य रागद्वेषादिके भाव द्वारा जितना परिचालित होता है, बुद्धि द्वारा उतना परिचालित नहीं होता। बुद्धि जिस काममें प्रवृत्त करना चाहती है, उसकी अपेक्षा रागद्वेषादिका भाव जिस काममें प्रवृत्त करना चाहता है उसके प्रति समधिक आग्रह उत्पन्न होता है। निरपत्यताकी वजह यह सब दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव " इस प्रकार चलना चाहिये, जिसमें वह सब दोष न हों " ऐसा बहुत कम लोग समझते हैं। जो समझते हैं वह भी उसके अनुसार काम कर नहीं सकते। बाह्येन्द्रियके दोषकी अपेक्षा अन्तरिन्द्रियका दोष दूर करना बहुत कठिन काम है। किन्तु लोग बाह्य अवलम्बन द्वारा दोनों ही स्थलोंके दोषके प्रतीकारकी चेष्टा करते हैं। आँख कम-

जोर होनेसे चश्मा लगाया जाता है, कान कमजोर होनेसे स्पीकिन्टूम्पेट व्यवहारमें लाया जाता है, पैर कमजोर होनेसे लकड़ी पकड़ी जाती है। मानसिक दुर्बलता उपस्थित होने पर भी वैसा ही किया जाता है अर्थात् चशमा, स्पीकिन्टूम्पेट और लाठी पकड़नेकी तरह निरपत्यगण पोष्यपुत्र लें, या बिल्ली कुत्ता मैना पालें, अथवा विग्रह स्थापनकर उसकी सेवामें रत रहें यह भी बुरा नहीं। इससे भी बहुत कुछ हो सकता है और इसीसे लोग ऐसा करते हैं। किन्तु असल बात यह है कि निरपत्यतासे जो जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें समझ मनही मन चेष्टा करके उन दोषोंका प्रतिविधान करना अच्छा है। बाह्य अवलम्बनका ग्रहण करना उतना अच्छा नहीं।

साधारण गृहस्थाश्रमीके लिये निरपत्य होना ऐसा दुर्भाग्य है कि किसी प्रकार उसके पूरे प्रतिविधानकी सम्भावना नहीं। लड़का होकर मर जानेकी अपेक्षा लड़केका न होना ही अच्छा, जो लोग ऐसा कहा करते हैं वे लोग निम्नलिखित एक उत्कृष्ट ग्रंथकर्त्री की बातें सुन क्या कहेंगे? ग्रन्थकर्त्री कहती है;—"चिरान्ध होनेकी अपेक्षा एक बार सूर्य्यका मुंह देखकर अंधा होना अच्छा है" हमारे कितने ही लड़की लड़के हो गये, तब भी ऐसा कभी मनमें न आया कि इनका न होना अच्छा। जिसके संतान मर जाते हैं वह दूसरेके लड़केको ले अपना मानता है।

---

२६ प्रबन्ध।

सन्तान-पालन।

संसाराश्रमियोंके अनुष्ठित सभी कामोंका चरम फल उनकी सन्तानमें विद्यमान है। ज्ञानचर्य्या, धर्म्मचर्य्या, पति-पत्नी-प्रेम, माता-पिताकी सेवा, कुटुम्बता ज्ञातित्व, लौकिकता मिताहार, मिताचार, इन्द्रियसंयम, श्रमशीलता, अध्यवसाय, दातृत्व आदि जो कुछ संसाराश्रमके विहित भाव हैं, उन सबका ही फल उसी आश्रमसे सम्भूत और उसी आश्रमकी पालित सन्तानमें दिखाई देता है। इसलिये सन्तान अच्छी होने पर माता-पिताका पुण्य सूचित होता है सन्तान खराब होनेसे उनका अपुण्य सूचित होता है। जो पुण्यवान हैं उनके पार्थिव परलोकमें (अर्थात् सन्तानमें) उर्ध्वगति है। जो पुण्यशाली नहीं, उनके पार्थिव परलोकमें (अर्थात् सन्तानमें)

अधोगति है। इसपर विचार करना निष्प्रयोजन है कि, उल्लिखित नियमोंका कदाचित् व्यभिचार हो सकता है या नहीं। इस नियमको साधारणतः अव्यभिचारी समझना ही अच्छा है।

सनातन हिन्दूधर्म्मावलम्बी मात्रके ही हृदयमें इहकालकी अपेक्षा परकालका अधिक विश्वास है। परकालके लिये ही हम लोगोंका सर्व्वस्व है। हिन्दू जातीय मनुष्य आहार, विहार और पहनावे आदिमें अन्यान्य जातियोंकी अपेक्षा स्वल्पयत्न है। हिन्दू जातीय लोगोंमें सभी कामोंमें ईश्वरका स्मरण और सभी कामोंका फल ईश्वरको समर्पित है। निष्कामता ही हिन्दुओंका एकान्त शिक्षणीय है। पारलौकिक सद्गति साधनके लिये हिन्दुओंमें कठोर तपस्या और प्राणतकका विसर्ज्जन है। इन सभों का एकमात्र कारण हिन्दुओंका परकालपर दृढ़ विश्वास और क्षणस्थायी इहलौकिक सुखकी अपेक्षा पारलौकिक सुखके प्रति अधिक लालसा है। यह हिन्दू जातिका दोष नहीं, परमगुण है। वर्तमान सुखैश्वर्य्यादिकी अपेक्षा जो भावी सुखैश्वर्य्यकी ओर अधिकतर लोलुप हैं, उनमें पशु धर्म्मकी अपेक्षा मनुष्य धर्म्म ही प्रबलतर है।

किन्तु हिन्दू धर्म्मावलम्बियोंकी प्रकृति इतनी ऊँची होने पर भी उनमें कितने ही कुसंस्कार उत्पन्न हो गये हैं। इससे असलमें उच्चप्रकृतिके सब काम सब स्थलोंमें साधित हो नहीं रहे हैं। उन लोगोंने अतीन्द्रिय परकालका भाव समझनेके लिये इहलौकिक या पार्थिव परकालकी ओर देखनेका अभ्यास छोड़ दिया है, सुतरां अनेक समय वह अतीन्द्रिय पारलौकिक उन्नतिके प्रकृतपथ पर पैर भी रख नहीं सकते हैं। परलोक इहलोकका परिणाम मात्र है,—शास्त्र और युक्ति दोनों हीसे सिद्ध इस भावको कभी भूलना न चाहिये। सबको ही अपने हृदयमें इस तथ्यको जागृत रखना आवश्यकीय है कि सन्तानगणको उत्कृष्टतर देहमनःसम्पन्न न बनानेसे किसी नरनारीकी पारलौकिक उर्द्ध्वगति सम्पादित हो नहीं सकती। "पुत्रादिच्छेत् पराजयं" यह विधिवाक्य है, कि पुत्रके निकट पराजयकी इच्छा करें। यह सन्तानवात्सल्यका परिचायक स्वरूपाख्यान मात्र नहीं। किन्तु केवल इच्छा करनेसे ही काम न चलेगा, तुम्हें इसका उपाय करना चाहिये, जिससे पुत्र तुम्हें पराजित कर सके।

पहले यह करना चाहिये, जिससे पुत्रका शरीर नीरोग, पटु और बलिष्ठ हो। इसके लिये सन्तान उत्पन्न होनेसे पहले ही अपने लोगोंके शरीर को नीरोग, शुचि और सक्षम बनानेकी चेष्टा करना चाहिये। सुतरां मिताचार,

मिताहार, व्यायामचर्य्या स्त्रीपुरुष दोनोंके लिये ही अवश्य कर्त्तव्य गिना जाता है। माता पिताके शरीरमें अपक्वरसक्लेदादि रहनेसे भी वह सन्तानके शरीरको संक्रमित कर उसे भी रुग्नदेह कर देता है। मातापिता का शरीर शुद्ध और सबल होनेसे उससे उत्पन्न सन्तानकी देह भी नीरोग और बलशाली होती है। इसके लिये हम एक प्राचीन कहावत कहते हैं—

नित्यानन्द महाप्रभुके अभिराम गोस्वामी नामक एक षोढ़ासिद्ध शिष्य थे। षोढ़ासिद्धगण एक प्रकारके देवताधिष्ठित पुरुष हैं वह लोग जिन्हें प्रणाम करते, उनके शरीरमें यदि दैवशक्तिका आविर्भाव न हो, तो प्रणाम करते ही उनका नाश हो जाता है। नित्यानन्द महाप्रभुको सन्तान उत्पन्न हुई, अभिराम एक दिन गुरुके दर्शनके लिये आये। महाप्रभुने कहा,—"अभिराम! मेरा एक पुत्र हुआ है।" अभिराम गुरुपुत्र देखनेके लिये गये। सूतिकागारके द्वारपर उन्होंने नये उत्पन्न हुए पुत्रको प्रणाम किया। शिशुने उसी समय प्राण परित्याग किया। तीन चार बार ऐसा ही होनेपर महाप्रभुने तीन वर्षके लिये स्त्रीसहवास परित्याग कर बहुत योगका अनुष्ठान किया। मन्त्रसिद्धिसे उन्होंने फिर सन्तानोत्पादन किया। फिर अभिराम आये। उन्होंने फिर गुरु-पुत्रको प्रणाम किया, किन्तु इस बार शिशुकी कुछ भी हानि न हुई। बल्कि पुत्रने पैर उठा पिताके शिष्यको आशीर्व्वाद देनेका इशारा किया। नित्यानन्त महाप्रभुके उन पुत्रने ही वीरभद्रके नामसे विख्यात हो समस्त वङ्गभूमिमें वैष्णव सम्प्रदायका प्राबल्य संस्थापित किया था। इस कहानीमें एक प्रकृत तत्व निहित है।

अपने किसी किसी आत्मीयके बार बार गर्भस्राव होता सुन हमने उन्हें परामर्श दिया, कि अब गर्भधारणमें कुछ दिनोंकी देर लगा दो। देर होनेसे गर्भस्रावका दोष दूर हो जाता है। हमारी समझमें एक सन्तान होनेके ४–५ वर्षके बीच यदि फिर गर्भधारण न हो, तो प्रसूतिका शरीर-क्षय नहीं होता। इससे सूतिकागृहमें सन्तानोंकी उतनी मृत्यु होनेकी भी सम्भावना नहीं होती।

गहरे प्रणयमें सम्बद्ध दम्पतीकी सन्तान सुष्ठुशरीर और सुष्ठुमना होती है। इस लिये स्त्रीपुरुषमें परस्पर कलह और विसम्वाद सदाके लिये छोड़ देना चाहिये। विशेषतः जब गर्भधारण हो गया हो, तब गर्भिणीके मनमें किसी प्रकारका उद्वेग उत्पन्न होना न चाहिये।

सन्तानोत्पादन और सन्तानके पालनके सम्बन्धमें ऐसी कितनी ही बातोंकी रक्षा करनी पड़ती है। इस प्रबन्धमें उन सबका संक्षेपमें कहना भी सम्भव नहीं। एक मोटी बात यह है कि, अपनी अपेक्षा सन्तानको उत्कृष्ट बनाना चाहिये। अपना शरीर सुस्थ न होनेसे सन्तान सुस्थ शरीर न होगी; स्वयं अकृत्रिम धर्म्मशील न होनेसे सन्तान भी धर्म्मशील न होगी। स्वयं विद्याचर्चाके लिये उन्मुख न होनेसे सन्तानको विद्यानुराग न होगा। स्वयं मितव्ययी न होनेसे सन्तान सम्पत्तिशाली हो न सकेगी। इसका अनुसन्धान कितने ही देशके पण्डितगण बहुत दिनोंसे कर रहे हैं कि, समस्त धर्म्माचारका बीज कहाँ है। कोई कहते हैं प्रीति ही धर्म्मबीज है, कोई कहते हैं अपौरुषेय शास्त्रसे ही मनुष्यगण धर्म्मबीज लाभ करते हैं। कोई कहते, परोपकारके अतिरिक्त दूसरा धर्म्मबीज ही नहीं। किसी किसीके मतसे अधिक संख्यक लोगोंको अधिक परिमाणसे जो सुख मिले, वही धर्म्मकार्य्य है। इस प्रकार विविध मतवादमें जिसका अवलम्बन किया जा सके, कामके समय उसीके अनुसार अनुष्ठानके लिये फिर विचार और युक्ति संग्रह करना पड़ता है। हम कहते हैं, कि साधारणतः गृहस्थाश्रमोंके लिये अपेक्षाकृत एक सहज उपाय बता दिया जा सकता है। अपने लोगोंकी अपेक्षा सन्तानको सर्व्वतो भावसे, किसी एक विषयमें नहीं, सब तरहसे उत्कृष्ट बनानेकी चेष्टा करो। इससे ही धर्म्मसाधन होगा। सभी धर्म्मचर्य्यायें इस एक भित्ति के मूलमें संस्थापित की जा सकती हैं। पक्षान्तरमें भी देखो, जो लोग अपनी अपेक्षा सन्तानको उत्कृष्ट बना सके हैं, उन लोगोंने उन्नतिशील मानवजीवनकी सार्थकताका साधन किया है। उनके लिये इहलोक और परलोक, दोनों ही लोक रक्षित हैं। जो ऐसा कर नहीं सके, उन्हें इहलोकमें मनस्ताप होता और परलोकमें अधोगति होती है।

---

२७ प्रबन्ध ।

शिक्षा-भित्ति ।

सन्तानको लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिये, यह विचार आजकलके प्रायः सभी लोगोंके हृदयमें जाग उठा है। पहले भी इस देशमें ऐसा ही विचार था। ऐसा नहीं कि, आजकलकी अपेक्षा कम था। परन्तु पहलेके गतानुगतिक लोगोंको यह विचार कुछ कम था, इस समय अपनी चिन्ता और उदरकी चिन्ता अथवा अभिनव शिक्षा द्वारा परिचालित नये लोगोंमें ऐसा विचार अधिक समाया है और वह सतेज भी हुआ है। पहलेकी व्यवस्था है कि पाँच वर्षके लड़केके हाथमें खड़ी थमाओ, उसे पाठशालामें भेजो, पाठका अभ्यास कराओ—यदि नहीं करते, तो "लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताड़येत्" वचनको याद कर जो करना हो, करो। जो उचित हो, वही सन्तानको सिखाओ। जो न उचित हो उसे भी बताओ। समझानेका प्रयोजन नहीं। उचित न करनेसे भी पीटो और अनुचित करनेसे पीटो। ऐसा करनेसे ही शिक्षा नीतिकी पद्धति और ज्ञान तथा उसका मुख्य अनुष्ठान पूरा होगा।

आजकल यह पद्धति दूषित होगई है, अब लड़केके हाथ खड़ी थमानी नहीं पड़ती; आजकल उसे अलक्षित रूपसे सिखानेकी व्यवस्था की जाती है। लड़का समझ न सके, कि वह कौनसी शिक्षा पाता है; फिर भी वह उसे सीख डाले। युरोपमें कहीं कहीं यह नियम है कि, लड़केको यदि पराई भाषा सिखानी हो, तो पराई भाषाके जाननेवाले नौकर या नौकरानीको उसके समीप रख देते हैं, उससे बातचीत करते-करते लड़का वह भाषा सीख लेता है। किसी द्रव्यका गुण या धर्म-व्यवहारादि सिखानेके लिये बातें कह देनेसे ही नहीं चलता। वह द्रव्य लाकर लड़केको देना चाहिये। उसके व्यवहारसे वह उसके गुण समझना आरम्भ करेगा और स्वयं पूछकर जानने योग्य बातोंको सीख लेगा। भाषा और वाह्य-पदार्थकी शिक्षाके लिये ऐसा ही नियम बनाया गया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानोत्पादनके लिये भी उस प्रणालीका अवलम्बन कर कितनी ही चेष्टायें की गई हैं। किसी सुविख्यात अङ्गरेजने शिक्षा सम्बन्धीय ग्रन्थमें आद्योपान्त ऐसा भाव प्रकाश किया है कि, लड़केको विधि या निषेध-कुछ भी मुँहसे न सिखा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे सब विषयोंको वह समझकर सीखे। इसमें सन्देह नहीं, कि यह बहुत ही पक्की बात है। स्वयं सीखनेसे जैसी पक्की शिक्षा

होती है, वैसी और किसी प्रकार नहीं होती। अतएव उल्लिखित ग्रन्थकारने जैसा उपदेश दिया है, सम्भवतः उसके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

किन्तु क्या किसी स्थलमें विधिनिषेध द्वारा शिक्षादान नहीं है? मानवप्रकृतिमें क्या बिना अनुभव किये ज्ञान-लाभकी कोई राह नहीं?—स्वयं सीखना या अनुभव द्वारा सीखना इसका अर्थ सुखदुःखके भोग द्वारा शिक्षा लाभ करना है। लड़केने एक काम किया—चिरागके ऊपर उसने हाथ रख दिया-इससे उसका हाथ जला, उसे दुःख हुआ। इससे वह समझ गया कि, आगमें हाथ डालनेसे हाथ जल जाता है, आगमें हाथ डालना न चाहिये। यदि पृथ्वीके सभी काम ऐसे ही होते, अर्थात् कुछ ही देरमें उसका सुख दुःख मालूम हो जाता, तो ऐसी शिक्षा-प्रणालीका अवलम्बन किया जा सकता। किन्तु पृथ्वीके अधिकांश काम ऐसे नहीं। अनेक स्थलोंमें कुछ समय व्यतीत होनेपर सुख-दुःखका अनुभव होता है। लड़केने मीठा खाया, खानेमें अच्छा जान पड़ा। वैसे द्रव्यके भोजनके सुखने उसके मनको आकर्षित किया। दो चार दिनके बाद उसको पीड़ा हुई। लड़का उस मिठाईके खानेके साथ उसकी पीड़ाका कारण समझ न सका। उसे वह सम्बन्ध न समझा देनेसे किसी प्रकार उसे वह समझ न सकेगा। अतएव समझा देनेकी आवश्यकता है। किन्तु समझा देनेसे जो शिक्षा मिलती है, वह ठोकर खा सीखना नहीं है, उसका मूल शिक्षाका विश्वास मात्र है। अतएव विश्वासको भी शिक्षाकी एक स्वतन्त्र भित्ति मानना पड़ेगा। जो लोग विश्वासपर शिक्षाका सोपान स्थापन करनेमें नाराज हैं, उनका सब काम तो ठीक प्रकारसे चलता ही नहीं, बल्कि उनकी वृथा चेष्टा द्वारा शिक्षाप्रणालीका बहुत कुछ अङ्ग भङ्ग हो जाता है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानका निदान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जहीं उपस्थित हुआ जाय वह केवल सुख दुःखके ही विचारमें दिखाई नहीं देता है। उसे सब अपने २ हृदयमें ही पाते है। यद्यपि यह कहा जा नहीं सकता कि, हृदयमें कर्त्तव्यज्ञानका बीज पहले कैसे बोया जाता है, वह कैसे प्रकट हो जाता है, किन्तु कुछ मन लगा कर देखनेसे ही वह समझमें आ जाता है। हम एक सच्चा विवरण कहते हैं,—किसी गृहस्थके घर दो मनुष्य समय समयपर शतरञ्ज खेला करते थे। उनमें एक मनुष्यकी एक डेढ़ वर्षकी बालिका वहीं बैठी रहा करती थी। जब

वह शतरञ्जका मुहरा उठानेके लिये हाथ बढ़ाती, तब उसके पिता उसका हाथ पकड़कर कहते,—"हाथ न लगाना।" कुछ दिन इसी प्रकार होनेपर एक दिन बालिका खेलके नजदीक बैठी थी, फिर उसने अपना दाहना हाथ मुहरा उठानेके लिये आगे बढ़ाया बांये हाथसे उस हाथको पकड़ कर आप ही आप कहने लगी—"हाथ न लगाना।" इस व्यापारसे क्या समझमें आता है? कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके ज्ञानके अधिष्ठाता हृदयशाली पुरुषका जैसा अभ्युत्थान होता है, इस कामसे क्या उसका स्पष्टाक्षर दिखाई नहीं देता? बालिका स्वयं ही दो मनुष्य बन गई। उसका एक हाथ शतरञ्जका मुहरा उठानेको तैयार हुआ दूसरे हाथने उसे मना किया। जिसने मना किया, वह उसके हृदयमुकुरमें पिताका प्रतिबिम्ब था।

अतएव विधिनिषेध द्वारा कर्त्तव्यज्ञानका प्रत्येक विधान करना बहुत ही आवश्यक है। ऐसा करनेसे ही संस्कारकी दृढ़ता होती है। केवल सुख दुःखके विचारके ऊपर कर्त्तव्य-बोधका संस्थापन कभी कार्य्य-कालमें दृढ़ नहीं रहता, निष्काम धर्म्मसेवनमें प्रवृत्ति होने नहीं देता और यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता कि विधिका प्रतिपालन करना ही परम धर्म्म है। कर्त्तव्य-बोधकी स्थितिको इस प्रकार संकुचित करनेसे, जिस हिन्दू-धर्म्मने ऐसे ज्ञानके अत्युच्च सोपानपर अधिरोहण किया था, उससे वह स्खलित हो पड़ता है।

---

२८ प्रबन्ध।

सन्तानकी शिक्षा।

बातोंमें कहा जाता है, कि लड़केको मनुष्य बनाना चाहिये। हमें मालूम होता है, यह काम किसी मातापिताके बसमें नहीं। इसके लिये कोई चेष्टा भी नहीं करता। अङ्गरेज अपने लड़केको अङ्गरेज बनानेकी चेष्टा करते हैं और वही कर भी सकते हैं। चीना अपनी अपनी सन्तानको चीना बनानेका यत्न करते और ऐसा ही करते भी हैं। इसप्रकार विभिन्न जातिके लोग अपनी अपनी जातिके विशेष धर्म्म और गुणके द्वारा ही अपने वंशधरगणको विभूषित करना चाहते हैं। कोई मनुष्य साधारण धर्म्मकी ओर दृष्टि रखकर सन्तानका पालन और शिक्षाका सम्पादन नहीं करता। तब भी जो साधारण धर्म्म सब जातियोंमें ही मौजूद हैं, जात्यनुयायिनी शिक्षा प्रदान करते करते उन सभी धर्म्मोंसे सभी जातिके शिशु शिक्षा पाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अतएव सभी देशकी शिक्षाप्रणाली साधारण मनुष्य-धर्म्मकी ओर लक्ष्य न कर जातीय धर्म्मके साधनके उद्देश्यसे ही प्रवाहित होती है। असलमें ऐसा ही हो सकता है और ऐसा ही होना उचित भी है।

ऐसा इसलिये हो सकता है कि मनुष्य मात्रका मन पूर्व्व पुरुषोंके संस्कार और अपने प्रत्यक्षीभूत व्यापार सबके समवायसे संगठित होता है; संस्कार, स्वजातीय पूर्वपुरुषोंसे ही चला आ रहा है; प्रत्यक्षीभूत व्यापारका समधिक भाव भी सजातीय मनुष्योंका कार्य्यकलाप है। इसलिये जातीय भावका परिहार करना मनुष्यमात्रके लिये असाध्य है। जैसे वायुमण्डलको अति-क्रम कर उड़ा जा नहीं सकता, जैसे बिना जलके तैरा जा नहीं सकता, जैसे त्वक्-सीमाके बाहरी भागमें स्पर्शका ज्ञान हो नहीं सकता, वैसे ही जातीयभावसे परिशून्य हो किसी कामका अनुष्ठान भी मनुष्य द्वारा साधित हो नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त समाजके हिताहितके साथ समाजान्तर्गत मनुष्योंका हिताहित है। सब समयोंमें, सब देशोंमें, सभी अवस्थाओंमें, सब समाजका हिताहित एक नहीं। बर्ब्बर, अर्धसभ्य, पूर्णसभ्य प्रभृति विभिन्न समाजका हिताहित अनेकांशमें ही परस्पर विभिन्न है। विजित और विजेता, दुर्ब्बल और सबल, दृढ़ और शिथिल प्रभृति भिन्न भिन्न समाजका हिताहित भी एक नहीं। अभ्युदयोन्मुख और पतनप्रवण जातियोंका हिताहित भी एक नहीं। सुतरां समाजके प्रयोजनके साधनोपयोगी अनुष्ठान भी आप ही भिन्नरूप होते हैं।

समाजके प्रयोजन साधनोपयोगी अनुष्ठान ही प्रकृत शिक्षाके विषय हैं। इसी भित्तिका अवलम्बन कर हम लोगोंकी शिक्षाप्रणाली संस्थापित होती है और यही हम लोगोंकी एकान्त इच्छा है। हम हिन्दू हैं हमारा समाज जिस भावमें है, उससे हम लोगोंके क्या प्रयोजन है? इसीको सुपरिस्फुटरूपसे अवधारितकर, जिसमें हम लोगोंमें बादके पुरुष प्रयोजन साधनमें सहाय हों, उसका ही उपाय कर देना हम लोगोंके लिये प्रकृत शिक्षा-दान है। मनुष्यत्वका साधन करना एक उदात्त विषय है। मनुष्यत्व क्या है और वह क्या नहीं, तथा क्या हो नहीं सकता, शायद अबतक इस बातको कोई मनुष्य स्पष्टरूपसे समझ नहीं सका है। अतएव क्या करनेसे लड़केकी प्रकृति मनुष्यकी होगी। उसका बिचार न करनेसे लड़का कैसे समाजके अभावको दूर

करनेमें सहाय्य दे सकेगा, इसीपर विचार करनेकी आवश्यकता है। हम इसी विचार की कई बातें उद्धृत करते हैं।

(१) यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि पहलेकी अपेक्षा आजकल हिन्दू दुर्ब्बल शरीर हैं। अतएव लड़केको शरीरके सबल बनानेके लिये हम लोगोंको अवश्य यत्न करना चाहिये। बचपनसे ही व्यायामचर्य्यामें उनका मन लगा देना माता पिताका काम है।

(२) हिन्दुओंका इन्द्रियवर्ग यद्यपि स्वभावतः किसी जातिके लोगोंकी अपेक्षा हीन तेज नहीं, तब भी शिक्षाके अभावसे इन्द्रियाँ कितने ही स्थलोंमें प्रकृत विषयकी उपलब्धिसे अक्षम हो पड़ती हैं। दर्शनादि द्वारा दूरता, नैकट्य, संख्या, भाव प्रभृतिका अवरोध हिन्दुओंमें प्रायः ही ठीक नहीं होता। अतएव बचपनसे उन सब विषयोंकी शिक्षा देना माता पिताका काम है।

(३) हिन्दुओंकी स्मृतिशक्ति बहुत ही प्रखर है। जो लोग हिन्दुओं-की निन्दा करते हैं, वे लोग भी इस बातको स्वीकार करते हैं। किन्तु कहते हैं, इनकी धीशक्ति और उद्भाविनीशक्ति उतनी अधिक नहीं। निन्दकोंके साथ विचारका प्रयोजन नहीं। केवल इतना ही कहना बहुत है, कि स्मृति एक स्वतन्त्र मनोवृत्ति नहीं हैं। मनोवृत्ति मात्रका ही कारणशक्तिका नाम स्मृति है। अर्थात् स्मृतिका अवलम्बन करके ही सब मनोवृत्तियां कार्य्यकारिणी होती हैं सुतरां स्मृतिको प्रखर कहनेसे सब मनोवृत्तियां ही तेजस्विनी समझी जा सकती हैं। किन्तु हिन्दुओंकी मनोवृत्तिके तेजस्विनी होनेसे ही उनकी शिक्षामें एक दोष उत्पन्न होता है। भावोंके परिस्फुट न होनेपर ही हिन्दूका मन उसे ग्रहण करता है—एक बारगी ही परित्याग नहीं करता, इससे कार्य्यकालमें क्षति होती है और कर्मसामर्थ्य भी घट जाता है। इसलिये हिन्दूके लड़केको सिखानेके समय सब भावोंके परिस्फुट होनेके लिये शिक्षक या माता पिताको यत्न करना आवश्यक है।

(४) अन्यान्य मनोवृत्तियां जैसी प्रबल हैं, हिन्दूकी दूरदर्शिता और कल्पनाशक्ति भी वैसी ही है। इसके अतिरिक्त शरीरके दौर्ब्बल्यकी वजहसे हिन्दू भीरुस्वभाव हैं। इन दोनों और अन्यान्य कारणोंसे हिन्दूके लड़कोंमें अनृतवादिताका (झूठ बोलनेका) दोष उत्पन्न हो सकता है। माता पिताको सदा सतर्क रहना चाहिये, जिससे उनमें वैसा दोष आने न पावे। दूरदर्शि-ताके बढ़नेसे ही अनृतवादिताका शासन करना चाहिये। सत्य ही ठहरता

है, मिथ्या कभी ठहर नहीं सकता, यह तथ्य (सत्य) सदा लड़केके हृदयमें जागता रहना चाहिये।

(५) हिन्दू प्रबलतम जातियोंके पदसे मर्दित हो क्षुद्राशय होते जाते हैं। अतएव आशाके वैफल्यवश सन्तानको भविष्यत्में चाहे जितना कष्ट हो, मातापिताका कर्त्तव्य है, कि उसे उच्चाशय सम्पन्न करें। जैसे सान्निपातिक विकारसे ग्रस्त रोगीके लिये धातुउत्तेजक औषधका प्रयोग किया जाता है, वैसे ही हिन्दुओंके मनमें उच्च आशाका उद्रेक करना बहुत ही आवश्यकीय है। ऐसी बातें सन्तानके कानमें पड़नी न चाहिये, कि दोनों समय दो मुट्ठी अन्न मिलनेसे ही काम चलेगा।

(६) हिन्दुस्थानकी वायु सजल और उष्ण है। आजकल हिन्दुओंका शरीर भी दुर्ब्बल है; हिन्दू सहज ही श्रम विमुख हैं। अतएव मातापिताको सचेत रहना चाहिये, जिससे उनकी सन्तान श्रमशील हो। जो हिन्दू श्रमशील हैं, उनका परिश्रम भी दोषशून्य नहीं—एक बार वह खूब मिहनत करते, फिर कुछ भी नहीं कर सकते। ऐसे नियमसे दुर्ब्बल शरीर और भी टूट जाता है। लड़केको ऐसा करने देना न चाहिये। जैसा परिश्रम सहा जा सके, वैसे ही नियमित परिश्रमका अभ्यास कराना चाहिये।

(७) आजकलके हिन्दू निस्तेज होनेके कारण, वे ही एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या किया करते हैं। ईर्ष्याका दोष शीघ्र जानेका नहीं। तब भी उसकी बागडोर घुमाई जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा होनी चाहिये, जिससे वह ईर्ष्या स्वजातीयकी ओर न होकर विजातीयकी ओर प्रतियोगिताके रूपमें परिणत हो जाय।

(८) हिन्दूके स्वभावमें अनुचिकीर्षावृत्ति अनुचितरूपसे प्रबल हो उठती है। इसमें सन्देह नहीं कि अनुकरण उत्कर्षके साधनका एक प्रधानतम मार्ग है। लेकिन अनुचित अनुकरणसे एक तरहका आत्म-हत्याका संघटन हो जाता है। अतएव हिन्दूके हृदयमें आत्मगौरवके बढ़ानेके लिये उपाय करना आवश्यकीय है। पूर्व्वपुरुषोंकी कीर्त्ति याद करनेसे आत्मगौरव उद्दीपित हो जाता है। इसलिये हिन्दूके लड़केको संस्कृतविद्याका स्वाद ग्रहण करानेका विशेष प्रयोजन जान पड़ता है। जब लड़के अङ्गरेजी पढ़ें तब अङ्गरेजी ग्रन्थमें किसी उत्कृष्ट भावको देख उनके मुग्ध होनेपर उस भावके अनुरूप अथवा उससे भी उत्कृष्ट भाव जो संस्कृत शास्त्रमें है, उसे दिखा देना चाहिये।

(६) हिन्दुओंकी सहानुभूति अपने समाजमें वैसी उदात्त नहीं होती। हिन्दू, हिन्दूकी प्रशंसासे यथोचित परितृप्त अथवा हिन्दूके तिरस्कारसे वैसे क्लिष्ट भी नहीं होते। अङ्गरेजोंकी प्रशंसा और अङ्गरेजोंकी निन्दा ही हिन्दुओंमें अधिक है। यह बहुत बड़ा दोष है। इसके प्रतिकार उपाय ढूँढे नहीं मिलता। तब भी यह जान पड़ता है, कि लड़केको हिन्दी भाषाकी चर्चामें कुछ प्रवर्त्तित करना अर्थात् कुछ कुछ हिन्दी ग्रंथोंको पढ़ने देना और जिनमें लिखनेकी योग्यता है, उनका हिन्दीप्रबन्ध लिखना अच्छा है।

(१०) दरिद्रके लिये विलासिता बहुत ही बड़ा रोग है। इस समय हम लोग दरिद्रजातिवाले हैं। हम लोगोंको सुख भोगनेकी चेष्टा अच्छी नहीं। गाना, बजाना, आमोद, प्रमोद, आदि विजयी, धनशाली, प्रबलप्रताप अङ्गरेजोंको शोभा देते हैं; हमलोगोंमें गाना, तमाशा, नाटकाभिनय आदि काम किसी प्रकार शोभा नहीं देते। अतएव सन्तानको विलासी होने देना न चाहिये। जो हमलोगोंमें धनवान् हैं, उनका भी यही कर्त्तव्य है, कि लड़केको बाबुआनेसे बचावें। समाजकी जो अवस्था है, उसके अनुरूप व्यवहार ही समाजान्तर्गत सब लोगोंके लिये ठीक होता है। हिन्दुओंको बहुत ही भार सहना पड़ेगा, कितनोहीको बोझा हटाकर उठना पड़ेगा, सुतरां हिन्दुओंके लिये कठोर शिक्षाभी होनी चाहिये। प्रत्येक परिवारके कर्त्ताको लाइकर्गस बनना पड़ेगा; कारण हिन्दुओंको स्पार्टान करनेके लिये राजकीय लाइकर्गस उत्पन्न न होगा।

बिना वश्यताके एकता उत्पन्न हो नहीं सकती। यहां हम एक कहानी कहते हैं। एक जहाजपर एक अनभिज्ञ नये कप्तान नियुक्त किये गये। कप्तानकी अपेक्षा समधिक अभिज्ञ दो चार मनुष्य उनके अधीन थे। एक दिन कप्तान जहाज चला रहे थे। ऐसे समय उनमेंसे एकने कहा,—"जहाज जिस वेगसे और जिस राहसे जा रहा है, उससे वह एक घण्टेमें एक डूबी हुई चट्टानसे टकरा, आहत होकर विनष्ट होगा।" दूसरेने कहा,—"तब यह बात तुमने कप्तानसे क्यों न कही?" उसने उत्तर दिया,—"कप्तान अपना काम कर रहे हैं, उनकी बात मानना ही हम लोगोंका काम है, उनके बिना पूछे अपने मनसे उनसे क्या कहा जा सकता है?" इस पर किसीने कुछ न कहा। जहाज भी नष्ट हुआ। ऐसी वश्यता पागलपन है। किन्तु हिन्दुओंकी उन्नतिके समय भी ऐसा ही पागलपन था; रामायण और महाभारत पढ़नेवालोंसे वह छिपा नहीं। जिस दिन हिन्दुओंमें फिर वैसा ही पागलपन उत्पन्न होगा, वही दिन हिन्दुओंका शुभ दिन कहा जावेगा।

बहुत दिनोंसे हिन्दू असामरिक हो गये हैं। इसलिये हिन्दुओंमें प्रकृत वश्यता बहुत कम दिखाई देती है। बलवान्के आगे दुर्ब्बलकी जो अधीनता और नम्रता है, उसे वश्यता नहीं कहते। हिन्दू प्रायः ही हिन्दूके वश होना नहीं चाहते। दूसरी जातियोंके वश होते हैं और वही हुआ है। वश्यता भक्ति-मूलक है, भक्ति बचपनसे ही सिखलानीं चाहिये और मातापिता पहीलेसे भक्तिके आस्पद होकर उस भावको अङ्कुरित तथा सम्बर्द्धित कर सकते हैं। जिस हिन्दूने मातापिताका भय और भक्ति सीखी वह हिन्दू नेताके भी बशीभूत हो सकेगा। जो हिन्दू बचपनसे ही माता पिताको मानना नहीं सीखता वह दो चार अङ्गरेजी किताबें पढ़ और लोगोंके मुंहसे दो एक अङ्गरेजी मतवाद सुन पिताको मूर्ख समझता और पिताके सजातीय समस्त हिन्दुओंको ही घृणित समझ अपनेको बहुत बड़ा विचारवान् समझता है।

---

२९ प्रबन्ध ।

गृह-शून्यता ।

स्त्री-वियोग होनेसे ही लोग 'गृहशून्य' कहते हैं। लोग ऐसा क्यों कहते हैं? सचमुच ही स्त्री-वियोग होनेसे घर एक बारगी ही सूना नहीं होता। लड़के, लड़की, भाई, बहन, मा, बाप, सब लोगोंके रहते भी तो मनुष्यका स्त्रीवियोग हो सकता है? तब घरके सबकी अपेक्षा सार पदार्थके जानेकी वजह को कहकर ही लोग कलत्रवियोगके शोकको बढ़ा ऐसी बातें कहते हैं? हमारी समझमें ऐसा नहीं है। स्त्रीवियोग होनेसे घर सचमुच ही सूना हो जाता है अर्थात् ऐसा ही विचार करके चलना पड़ता है, कि घर सूना हुआ। जगतमें सबकी अपेक्षा अपना कहनेके लिये स्त्रीके अतिरिक्त और कोई नहीं। मा या लड़के, इन लोगोंको तुम्हारे अतिरिक्त दूसरेका भी सहारा रहता है, किन्तु स्त्रीके लिये तुम्हीं सर्व्वस्व हो। स्त्रीके साथ ही तुम्हारा भी धर्म्म, आमोद, प्रमोद, सब है। इसीसे शास्त्रकारोंने नियम बनाया है, कि स्त्रीवियोग होनेसे संसाराश्रममें रहना न चाहिये। वानप्रस्थाश्रमका अवलम्बन करना चाहिये। स्त्रीके मरने पर घरमें न रहो, बनमें जाओ और तपश्चरण करो।

किन्तु आजकल बन जाना सम्भवपर नहीं है। बन भी पूर्व जैसा सघन-बन नहीं। शरीरका अभ्यास भी पहले जैसा नहीं। धर्म्म कार्य्यकी

प्रकृति भी इस समय पहलेकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। ये सब परिवर्त्तन होनेपर भी हमारे विचारसे शास्त्रोक्त उपदेशके मूल तात्पर्य्यमें कुछ भी व्यत्यय नहीं हुआ है। शून्य गृहमें रहना न चाहिये, बाकी जीवनकाल धर्म्म कार्य्यमें बिताना चाहिये।

गृहशून्य मनुष्य यदि संसारी होकर रहें, तो वह देखेंगे, कि धीरे धीरे उनके धर्म्मकी हानि होगी। वह जिसे हर तरहसे अपना समझते थे, उसे सबसे अधिक पराया पाएँगे। वह अपने व्यथित, विच्छिन्न और विदग्ध हृदयसे जिन पर स्नेह करेंगे, उनमेंसे कोई भी पूर्णमात्रासे उस स्नेहके प्रतिदानमें समर्थ न होंगे। वह अपना प्रीतिसर्व्वस्व उन्हें उपहार देंगे, किन्तु वे कोई उन्हें सर्व्वस्व न देंगे। उनमेंसे किसीको भी अधिकार नहीं, कि वह उन्हें सर्व्वस्व दान करें।

ऐसा देखकर भी क्या उनका हृदय सरस रहेगा? क्या उनका मन कड़वा न हो जायेगा? अवश्य ही नीरस और कड़वा होगा। वह क्रम क्रमसे कठिन हृदय, स्वार्थपर अथवा विरक्तचित्त तथा क्रोधन-स्वभाव हो जायेंगे। तब गृहशून्य मनुष्यका गृहाश्रममें रहना कैसे धर्म्मोन्नतिके अनुकूल होगा? जो धर्म्मोन्नतिके अनुकूल नहीं, वह कैसे सुखका कारण हो सकता है? फलतः गृहशून्य मनुष्यके लिये गार्हस्थ्यका अवलम्बन करके रहना धर्म्महानि और दुःखका कारण है। जो शून्यगृहमें रहते हैं उनके कार्य्यकलापमें भी बहुत विपर्य्यय होता है। हरेक काममें कुछ कटुता और कुछ मधुरताका प्रयोजन है। भय और मैत्री, दोनोंहीके सम्मिलित न होनेसे किसीसे भी अच्छी तरह कोई काम कराया जा नहीं सकता। कटुता और मधुरता, भय और मैत्री ये ऐसे परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं, कि इनका एकत्र सन्निवेश कुछ विशेष चेष्टा करनेसे ही होता है। जबतक दोनों मनुष्य हैं, तबतक एक भय और एक प्रीतिके आधारस्वरूप होकर बहुत ही सुचारुरूपसे घरका काम चलाते हैं। किन्तु एकके न रहनेसे दूसरेको विभिन्न दो मूर्त्तियाँ धारण करनी पड़ती हैं। उनको धारण करना कोई सहज काम नहीं; सहज न होनेके कारण ही काम करना कठिन हो पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कामके सङ्कोचका और भी एक कारण उपस्थित होता है। समझ लो, तुम घरके मालिक हो, तुम कुटुम्बके केन्द्रस्वरूप हो, तुम्हें घेर कर ही तुम्हारे घरके सब लोग यथावत् अवस्थित हैं। ऐसे समय तुमने गृहिणीको खो दिया। सुचारु विचार पूर्व्वक देखनेसे ही तुम समझ सकोगे कि अब तुम्हारा

मालिकपन अक्षुण्ण नहीं है। तुम कुटुम्बके केन्द्रीभूत रह नहीं सकते। सब परिस्थिति सञ्चालित हो भिन्नरूप धारण कर रही है; तुम स्वस्थानसे भ्रष्ट हुए। क्या तब भी तुम केन्द्र बनकर रहना चाहते हो? रहो, किन्तु कुछ ही दिनमें तुम देख सकोगे, कि तुम्हारी बातोंमें वैसा बल ही नहीं है। सभी लोग तुम्हारी बातें सुनेंगे, जो कहोगे, वही करेंगे; किन्तु पहले तुम्हारी आज्ञा जैसे ईश्वरकी आज्ञाके समान सर्व्वदोषशून्य व मङ्गलमय जानी जाती थी, वैसी फिर न जानी जायगी। वह आज्ञा दोषगुणसे मिश्रित हो विचारके साथ चलेगी। पिताके मनका अब कोई ठिकाना नहीं, किन्तु उन्होंने जो कहा है, उसे करना ही पड़ेगा, परन्तु यदि ऐसा न कह वे ऐसा कहते तो अच्छा था। परिजनोंके मनका भाव इस प्रकार बदल जाने पर भी, क्या स्वतः प्रवृत्त हो किसी कामके करने-करानेकी इच्छा होगी? यदि कामकी ही इच्छा सङ्कुचित हुई, तब एकाग्रचित्त हो कैसे कोई काममें लग सकता है? यदि काममें न लगा रहे, तो जीवनका ही सुख कैसे रहेगा?

गृहशून्य मनुष्यके सामान्य भोगसुखमें जो व्याघात होता है, उसे वह कहनेकी अपेक्षा नहीं करता। तथापि हम एक उदाहरण दे इसे स्पष्ट दिखाते हैं। खानेका प्रधान सुख क्या है? बहुत ही सुस्वादु पदार्थके भी गलेके नीचे उतर जाने पर फिर उसका स्वाद ज्ञान नहीं पड़ता और उदरपूर्त्तिका सुख पदार्थके गुणागुणपर निर्भर नहीं करता; एक दूसरा मनुष्य तुम्हारी भोजनतृप्तिसे तृप्त होता है, इसी ज्ञानसे भोजनका प्रधान सुख मिलता है। स्त्रीके न रहने पर फिर वह सुख नहीं रहता। लड़के, लड़की, बहिन प्रभृति परिजनगण खाद्य सामग्री ठीक होती है कि नहीं इसको देखते हैं, खिलानेके समय सामने बठते हैं, किन्तु खाते देख सुखी होनेके लिये वे लोग तुम्हारे पास नहीं बैठते। वे भलमनसियत समझ तुम्हें खिला देते हैं। जैसी भलमनसियत समझ वे लोग आते हैं, वैसे ही तुम भी उनके आगे सन्तोष प्रकाश करते हो। इससे भलमनसियतकी कटाकटी होती है और दया एवं कृतज्ञताका आदान प्रदान चलता है। वे लोग अपना कर्त्तव्य कार्य निबाहते हैं, तुम भी उनपर अधिक भार देनेकी इच्छा नहीं करते। तुम फिर खानेकी फरमाइश नहीं करते, अथवा यदि करते भी हो तो दूसरेका नाम लेकर। अपने खानेकी बात कहना बहुत ही लज्जाकर है। कलत्रविहीन गृहस्थ बहुत ही निमन्त्रणपटु होते हैं। उन्हें सदा निमन्त्रणकरके लोगोंको खिलानेका शौक़ रहता है। ऐसा

करनेसे वे घरकी नौकरानी व बहुओंको बहुत ही हैरान करते हैं। बार बार निमन्त्रण दे खिलानेका और एक कारण भी है। किन्तु जिस कारणका उल्लेख किया गया, वह भी कुछ न कुछ अवश्य है।

बिना कहे पहले हीसे मनकी बात जानकर काम करनेका सामर्थ्य एक उसका ही है और किसीका नहीं। "तुम्हारे मनमें ऐसा था। तुमने खुलकर कुछ न कहा, मैं कैसे समझूँ?" यह बातें सभीके लिये फबती हैं। केवल स्त्रीके लिये नहीं। स्त्रीको मनकी बात समझनी ही पड़ेगी। मनकी बात न समझ सकनेसे स्त्रीकी गलती पकड़ी जा सकी है और इससे स्त्री भी बहुत ही दुखित होती है; परन्तु अन्य किसी लिये यह गलती नहीं है।

कितने ही योग्य सुसन्तानके पिताने कुछ दुःखकरके कहा है,—"महाशय! लड़कोंका कोई दोष नहीं। वे सब बहुत ही आज्ञा उठानेवाले हैं। यदि मैं कहूँ, तो वे बाघिनका दूध भी ला सकते हैं; किन्तु मैं जो कितनी ही बातें नहीं कहता और कह नहीं सकता, वे इस बातको नहीं समझते।" यह ठीक है। कितनी ही बातें कही नहीं जातीं और बातें करते करते बातोंको समझ सके ऐसा एक व्यक्तिके सिवाय दूसरा नहीं होता। ऐसी अवस्थामें गृहवासमें क्या आमोद है?

तब क्या करूँ? घरमें रहना न चाहिये और वनमें जा तप-जप करनेका समय नहीं है। इस प्रश्नका उत्तर देना बहुत ही कठिन है। अवस्था भेदसे इस प्रश्नका उत्तर भिन्न-भिन्न होगा। साधारणतः यह बात कही जा सकती है कि जितना हो सके कुटुम्बसे विच्छिन्न हो रहना चाहिये। कुटुम्बमें अकेले रहना न चाहिये। केवल उपदेश, परामर्श और साहाय्यदान करके ही निवृत्त हो जाओ। कोई अन्याययुक्त व्यवहार करे तो विरक्त हो उसका दण्डविधान करनेपर उद्यत न हो। केवल इतना ही समझा दो, कि यह काम अच्छा नहीं हुआ और किस कारण अच्छा नहीं है। जहाँतक हो सके वीतराग और फलकामनाविहीन हो कार्य करो। लड़के की बीमारी सुन उसके प्रतिविधानके लिये जो आवश्यक समझो, कहला भेजो। प्रयोजन हो, तो स्वयं उसके पास जाओ, चिकित्सा कराओ, किन्तु उसके आरोग्यता प्राप्त करनेपर क्षणभर भी उसके पास न रहो। फिर जैसे दूर थे, वैसे ही दूर रहो। कुटुम्बियोंके साथ केवल इतना ही सम्पर्क रक्खो। स्वप्नमें भी ऐसा न समझना, कि कुटुम्बियोंके साथ रहकर तुम सुखी हो सकोगे। इस प्रकार रह सकनेसे वनमें न जानेपर भी वानप्रस्थाश्रमका

शुभ फल हो सकता है। परिजनों (आत्मीयों) के प्रति अभिमानी न होना, मन यथासम्भव सरस रहेगा और धीरे धीरे मनकी उदारताके बढ़ानेका उपक्रम होगा।

मनुष्यका मन विना स्नेह-विस्तार किये रह नहीं सकता। जीवन रहनेसे ही स्नेह करना पड़ता है, दूसरोंके साथ सम्बद्ध रहना पड़ता है। लतिकाके सजीव रहनेसे ही आकर्षण निकलता है। विशेषतः, जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर एक वार पवित्र प्रीतिरससे अभिषिक्त हुए हैं, उनका मन बहुत ही कोमल हो गया है। वह मन प्रणय पदार्थकी सृष्टि किये विना रह नहीं सकता।

किन्तु उस सृष्टिके व्याघातक दो कारण हैं। एक तो जो कोई उनका प्रीतिपात्र बननेके लिये सामने उपस्थित होता है, उसके अनित्य, अस्थायी और क्षणभङ्गुर होनेके कारण उसके प्रति विश्वास करनेमें त्रुटि होती है एवं विश्वासके अभावसे प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती। द्वितीय कारण उसका अभिमान है। " मैं चाहे जितना ही क्यों न स्नेह करूँ, वह मनुष्य उसका पूरा प्रतिदान न कर सकेगा। तब हमारे स्नेह करनेका कारण ही क्या है ? " यह भाव भी प्रीति-सञ्चारमें व्याघात पहुँचाता है।

जहाँ ऐसी अनास्था या अभिमान उत्पन्न न हो सकेगा और जहाँ क्षणभङ्गुरता अथवा अकृतज्ञताका सन्देह न उठेगा, ऐसे स्थलमें स्नेहके सञ्चारित होनेमें कोई प्रतिबन्धकता नहीं है।

गृहशून्य और कर्त्तव्यपरायण मनुष्योंके हृदयमें स्वदेशवात्सल्यही बल है और ईश्वरपरायणताही बल है, ऐसे भाव बहुत ही प्रबल हो सकते हैं। आजकल जिनको ऐसा हुआ है, वेही बास्तवमें गृह-शून्य होकर तपश्चरणमें प्रवृत्त हुए हैं।

---

३० प्रबन्ध।

द्वितीय विवाह।

" And such was she "—'वह स्त्री भी ऐसी ही थी'—अर्थात् जो स्त्री मर गई, वह तुम्हारी जैसी या इनकी ही जैसी थी। यह बात कौन कह सकता है ? हमारे विचारसे अङ्गरेजलोग ऐसा कह सकते हैं। उन लोगोंका विवाह अधिक उम्रमें होता है, देह और मनको जैसा होना चाहिये, वैसा ही परिपक्क हो जाने पर वे लोग स्वच्छन्द हो विवाह करते हैं, अतएव उन लोगोंने जैसी एक देखी थी, वैसी ही दूसरी भी वे लोग देख सकते हैं।

किन्तु हमलोगोंको तो वह भी ऐसी ही थी, यह कहनेका सामर्थ्य नहीं है। 'तुम या वह ठीक वैसी ही है' यह बात हम किसे कहें ? और कोई क्या हमारे हाथकी घड़ी, देहमें मली या मनमें बसी हुई चीज है ? हम दोनोंका बचपनमें मिलाप हुआ था, मैंने उसे अपने मनके अनुसार बना डाला था और मैं भी उसके मनके अनुसार हो गया था। सुतरां वह जो थी, अपने ही समान थी और हमारे मनके अनुसार भी थी। दूसरी कोई वैसी हो नहीं सकती। और कोई उससे अच्छी हो, तो हो, किन्तु वैसी हो कैसे सकती है।

शास्त्रकारगण इस विषयको समझते थे इसीलिये जहाँ उन लोगोंको सच्चे प्रेम और एकसे अधिक दारपरिग्रहका वर्णन एक साथ करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने एक कौशलका अवलम्बन किया है। उन्होंने नायक नायिकाके मनमें इस भावकी कल्पना कर दी है, कि जो मरी थी, यह वही है। दक्षकन्या सती ही हिमालय-कन्या उमाके नामसे उत्पन्न हुई हैं, महादेवने ऐसा ही जानकर द्वितीय दारपरिग्रह किया था। श्रीकृष्ण यही जानते थे, कि व्रजेश्वरी राधिका, रुक्मिणी देवीके शरीर में विलीन हैं। रतिदेवी भी प्रद्युम्नको पुनरुज्जीवित मदन जानती थीं। हमारे किसी मित्रने एक दिन बातों बातोंमें कहा था, कि "हमारी पहली स्त्री ही यह द्वितीया होकर आई हुई है ऐसा समझ सकने पर मुझे सुख होता है।" यह बात यथार्थ है। वैसा प्रेम दो बार नहीं होता और दो स्त्रियोंपर भी वैसा प्रेम नहीं होता। जो प्रेम करता है उसने 'एकमेवाद्वितीयं' इस वेद वाक्यको समझा है। इसलिये अद्वैतवादी पवित्रमना मनुष्यके लिये द्वितीय दारपरिग्रह असम्भव है।

जो संन्यासी हुआ है, वह क्या फिर गृहस्थ हो सकता है ? यदि हो भी, तो वह यथार्थमें आश्रमभ्रष्ट है। सामान्य युक्तिके द्वारा भी देखो, जो मर गई है, उसको याद करना ही होगा। यदि उसको भूल सको, तब तुम क्या नहीं कर सकते ? और जिसे ग्रहण किया है, उसके अतिरिक्त और किसीको भी तो ध्यानमें नहीं लाना चाहिये और उसको याद करना ही पड़ेगा। अतः दूसरी बार विवाह करनेसे महासङ्कट हुआ। एक ओर, याद करना ही पड़ेगा और दूसरी ओर, याद करना नहीं चाहिये। इन दोनोंमेंसे जिस किसी पक्षका भी अवलम्बन किया जाय, उससे कर्त्तव्यमें त्रुटि होगी, ध्यानमें व्याघात उपस्थित होगा और पवित्रता विनष्ट होगी।

ऐसा विचारकर देखनेसे कोमत (Compte) का मत ही ठीक जान

पड़ता है। उन्होंने कहा है—स्त्री या पुरुष, कोई भी एक बारसे अधिक विवाह न करे। हमारे शास्त्रमें भी कहा है—पहला विवाह ही संस्कार है, उसके बाद का दूसरा विवाह संस्कार नहीं कहाता ।

हम एक सच्चा विवरण कहते हैं। हमने अपने जिन मित्रकी बात पहले कही है, वे एक विज्ञ और विशुद्धमना पुरुष हैं। उन्होंने यह नियम बना रखा है, कि उनकी पहली पत्नीका जिस दिन वार्षिक श्राद्ध होता है, उस रातमें वे अकेले सो कर पहली स्त्रीका ध्यान करते हैं। द्वितीयाके शयनागारमें नहीं जाते हैं। किन्तु द्वितीयाके वस्त्रालङ्कारादि द्वारा सम्पूजिता, सब तरहसे गृहिणीके पद पर प्रतिष्ठिता और यथोचितरूपसे समादृता होने पर भी वर्षमें इस एक रातको ऐसा व्यवहार होता है इसके लिये वह बहुत ही अभिमानिनी (नाराज) हुआ करती है। यहाँतक अभिमानिनी (नाराज) होती है; कि उस समय अधीरा हो स्पष्ट कहती है—"यदि उन्हें भूल ही न सकोगे, तो मुझसे विवाह क्यों किया ?" उस अभिमानिनीका अभिमान क्या अन्याय्य है ? हमारे विचारसे अन्याय्य नहीं है। विना पूरे अधिकारके प्रणय-प्रवृत्तिका परितोष नहीं होता है।

हम यह भी नहीं समझ सकते, कि जो लोग एक स्त्रीका वियोग होनेपर दूसरा विवाह नहीं करते, उन्हें क्या सुख होता है। हमारी माताके वार्षिक श्राद्धके दिन पिताकी थालीमें दो हिस्सोंमें दोके खानेको अन्न और व्यञ्जन परोसा जाताथा। वे भोजन करनेको बैठते थे किन्तु वे अपना भाग भी पूरी तरहसे खा नहीं सकते थे। आँखें डबडबा आती थीं, शोकावेगसे पेट भर जाता था। मातृदेवीके लोकान्तरमें जानेपर भी पिताजी पचीस वर्ष तक जीवित थे। हमने बराबर उन्हें ऐसा ही देखा। इससे जान पड़ा, कि समय बीतनेपर भी शोक नहीं घटता। पिताने जिस दिन देह त्याग किया, उस दिन कहा था,—"मुझे गङ्गायात्रा कराओ, वह, इतने दिन बाद मुझे लेने आई है। मैंने फिर उसे देख लिया।" परलोकके अस्तित्वके विषयमें पिताको पूरा विश्वास था। तब भी उनके उल्लिखित वाक्योंमें—"इतने दिन बाद मैंने फिर उसे देखा है" इसका क्या मतलब है ? उन्होंने जो अन्त तक वियोगकी यन्त्रणा भोगी थी, यही जान पड़ता है। अतएव द्वितीय दार-परिग्रहसे दुःख है एवं अपवित्रता है और अपरिग्रहसे केवल दुःख है, सुख किसी प्रकारसे भी नहीं है—यह स्थिर सिद्धान्त है।

तब सुख कैसे हो सकता है ? सो किसी समय हमारे मनमें जैसा आया था, उसे हम कहते हैं। हमें शिकारके लिये शौक़ हुआ। छर्रोंसे भरी बन्दूक हाथमें ले हम चिड़िया मारने चले। देखा, कि एक पुष्करिणीके किनारे एक वृक्षकी डाली पर ही दो चिड़ियाएँ पास पास बैठी हैं। हम बन्दूक छतिया रहे थे कि ऐसे समय एक चिड़िया उड़ गई। दूसरी कुछ देर बैठी रही। किन्तु हम बन्दूक छोड़ न सके। एक ही फायरमें यदि हम दोनोंको मार सकते तभी तो मारते। मन ही मन हमने यमराजसे कहा, कि हम दोनों दम्पतीको भी एक साथ ही मारना। यदि यम यह प्रार्थना सुनते तो हमको सुख होता।

---

३१ प्रबन्ध।

बहुविवाह।

इससे पहले प्रबन्धमें जो लिखा गया है, उसे पढ़नेसे यह प्रस्ताव बिलकुल ही असम्भव जान पड़ेगा। जब एक स्त्रीके मरनेपर भी दूसरी स्त्रीसे विवाह करना अवैध है, तब एक स्त्रीके मौजूद रहते, दूसरी स्त्रीके पाणिग्रहणकी बात कही नहीं जा सकती। वास्तवमें ऐसा ही है भी। तब भी क्षणभरके लिये विचारकर देखनेमें दोष ही क्या है ?

क्या एक पुरुषको एकसे अधिक स्त्रियाँ चाह नहीं सकतीं ? चाह सकती हैं। क्या एक पुरुष एकसे अधिक स्त्रियोंको चाह नहीं सकता ? यह भी हो सकता है, किन्तु यह चाहना, वैसी चाहना नहीं है।

वास्तवमें प्रेमका क्रम है, इसमें विलक्षण तारतम्य है। प्रेम ऐसा है, जिसके लिये सब छोड़ दिया जाता है। हम जिससे प्रेम करते, उसको भी उसकी भलाईके लिये छोड़ सकते हैं, यह प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। इस पवित्र प्रणयाग्निमें स्वार्थपरताकी पूर्णाहुति हो जाती है। इससे आत्मविलोप उत्पन्न होता है। उसके सुखमें ही हमारा सुख नहीं है। उसका सुख ही सुख है। युधिष्ठिरने स्वर्गमें प्रवेश करनेसे पहले इस प्रेमका उदाहरण दिखाया था। उन्होंने अपनी समस्त पुण्यराशि एक ब्राह्मणको अर्पण कर दी थी।

सेण्टपालने भी इस प्रेमका प्रमाण दिखाते हुए कहा है—"मेरी इच्छा होती है, कि अपने माता पिता प्रभृतिके उद्धारके लिये मैं स्वयं नरकगामी होऊँ।" और एक प्रकारका प्रेम है, वह यह, कि उसके लिये मैं सब छोड़ सकता

हूँ, किन्तु उसे छोड़ नहीं सकता । यह प्रेम पहले प्रेमकी अपेक्षा निकृष्ट है। तब भी यह बहुत सामान्य पदार्थ नहीं है। यह पूरे आत्मविलोपका पूर्ववर्त्ती भाव है। संन्यासी होना, घरसे बाहर निकल जाना, धिक्कार, लाञ्छना और अपमानको तृणवत् समझना, यह सब काम ऐसे ही प्रेमसे होते हैं। और भी एक प्रकार-का प्रेम है, जिससे आप ही आप किसीके भी विसर्जन करनेकी इच्छा मनमें नहीं होती; किन्तु किसी प्रकार किसीके कहनेपर किसी कामके लिये असम्मत भी नहीं होते। दूसरेके लिये रुपये खर्च करना व परिश्रम स्वीकार करना, उक्त प्रेमका यह एक साधारण स्थल है। और एक ऐसा प्रेम है, कि हम जिससे प्रेम करते हैं, उससे विना मिले क्षोभ दूर नहीं होता, अभाव नहीं मिटता और अपना सुख पूर्ण नहीं होता। यह सबसे निकृष्ट है, यह केवल प्रवृत्तिका उत्तेजक मात्र है। किन्तु यह भी प्रेम है, सुतरां अच्छा पदार्थ है । तब भी इससे स्वार्थका प्रथम संस्कारमात्र होता है, यह स्वार्थको परार्थके अन्वेषण-में प्रवृत्त करता है और स्वार्थको विस्तृत करता है। स्थूलस्वरूप इन चार प्रकारके प्रेमोंमें जो नर-नारी प्रथम दो प्रकारके भुक्तभोगी हैं, उनके लिये द्वितीय परिणय या बहुविवाह, कोई भी सङ्गत नहीं है । तृतीय और चतुर्थ प्रकारके प्रेममें द्वितीय परिणय तो चलता ही है, बहुविवाह भी असाध्य नहीं होता है।

फलतः जिस प्रकारसे धर्म्मचर्चामें है, वैसे ही प्रेमचर्चामें भी अधि-कारी-भेदसे व्यवस्था भेद है । सभी नर-नारी अद्वैतवाद ग्रहण नहीं कर सकते। जो नहीं ग्रहण कर सकते, उनका प्रेमके उच्चोच्च सोपानपर चढ़ना प्रायः असाध्य होता है। इसलिये एकसे अधिक विवाह धर्मका व्याघातक है। जिनका एकसे अधिक विवाह होता है, उन्हें प्रायः चिरजीवन ही प्रण-योन्नतिके निम्नवर्त्ती सोपानपर रहना पड़ता है। उनकी स्वार्थपरताका पूरा संशोधन नहीं होता । वे यावज्जीवन पश्वाचारी रहते हैं कभी वीर या दिव्यभावके अधिकारी नहीं होते।

किन्तु हम यहीं तक कह कर शान्त नहीं रह सकते । और भी एक विषय विचारणीय है। जगत्में एक ऐसा महदाश्चर्य्यका विषय यह है, कि इसका कार्य्य सब ही परस्पर संश्लिष्ट है, एकसे दूसरेमें परिणत है, किन्तु कुछ भी सम्यक् स्वतन्त्र नहीं है। जो बहुत ही उच्च है, वह भी नीचसे बिलकुल पृथग्भूत नहीं है। देखो, मनुष्यमें अव्यूढ़ जड़ पदार्थका धर्म्म, उद्भिद्का धर्म्म,

पशुका धर्म्म और मनुष्यका धर्म्म, ये चारों ही धर्म्म एकत्र मिले हुए हैं। पशुमें जड़ धर्म्म, उद्भिद् धर्म्म और पशु धर्म्मका समावेश है। केवल मनुष्य धर्म्म नहीं है। उद्भिद्में जड़ धर्म्म और उद्भिद् धर्म्म है; अन्य दोका अभाव है। जड़में केवल जड़त्व ही विद्यमान है। फलतः जगत्के सब विषयोंमें ही ऐसा है। उत्कृष्टके भीतर निकृष्टका अवस्थान है। हम लोगोंका मनोभाव भी इस नियमसे अलग नहीं है। प्रणयके जो चार प्रकारके भेद बताये गये हैं, उनमें यही नियम विराजमान हैं। सर्व्वोच्च प्रणयभावके भीतर अन्यान्य तीनों भाव वर्तमान हैं। तृतीयमें नीचेके दो हैं, और द्वितीयमें उसके भी नीचेका है, ऐसा ही समझ लेना चाहिये।

उल्लिखित तत्वके प्रति लक्ष्य न रखनेसे प्रणयपदार्थकी यथार्थ प्रकृतिका अवबोध नहीं होता है, प्रणयपरीक्षामें नाना प्रकारके भ्रम होनेकी सम्भावना होजाती है और प्रेमियोंके परस्परके व्यवहारमें भी दोष और मन ही मन सन्देह उत्पन्न हो सकता है।

हमारी समझमें एकत्वमें अनेकत्वके समावेशका प्रयोजन है। सौंदर्य्यका एक प्रधान उपादान अनेकत्व है। एक ही सूर्य्य प्रतिदिन निकलते और प्रतिदिन अस्त होते हैं। किन्तु दो दिनकी शोभा ठीक समान नहीं होती। मानस आकाशके सूर्य्यको भी ऐसा ही करना पड़ता है, एक फिर भी एक हो नहीं सकता। गायत्रीदेवी तीन सन्ध्यामें तीन रूप धारण करती हैं; एक रूपमें ध्यानगम्या नहीं होतीं। सदा एक ही प्रकार, सब विषयोंमें ही समान भाव और सब बातोंमें ही एक प्रकारका उत्तर कभी अच्छा नहीं लगता। बिलकुल ही मिट्टीके पुतलोंसे स्वामी वशमें नहीं आता, बिलकुल ठण्डे दिलवाले पुरुषगण भी कामिनियोंका चित्तरञ्जन कर नहीं सकते।

जो पुरुष एक अपनेमें और अपनी एक पत्नीमें अनेकत्वका समावेश कर नहीं सकते, वे पवित्र प्रणयबीजके यथायोग्य पोषणमें अशक्त हैं। उनके वृक्षके मूलमें कीड़े लग जाते हैं, वृक्ष कभी यथोचित रूपसे बढ़ नहीं सकता; और परिणाममें वितृष्णारूप फल उत्पन्न कर सकता है।

---

३२ प्रबन्ध।

वैधव्य व्रत।

यह न कहनेसे भी चल सकता है, कि जब पुरुषोंके लिये द्वितीय दार-परिग्रह धर्म्मव्याघातक है, तब स्त्रियोंके लिये भी द्वितीय विवाह अविधेय है। जिन जिन कारणोंसे पुरुषोंका द्वितीय विवाह अनुचित है, स्त्रियोंके लिये वेही कारण हैं। इसके अतिरिक्त स्त्रियोंके द्वितीय विवाहमें कई विशेष दोष हैं। किन्तु हम उन सब विचारोंमें प्रवृत्त नहीं होते। हमने कहा है कि पुरुषोंका भी द्वितीय बार विवाह करना अनुचित है। हमने कहा है कि गृहशून्य मनुष्य स्वदेशवत्सलके रूपमें हो या वह ईश्वरपरायण हो तपश्चरण करे। इस समय देश और समाजकी जैसी अवस्था है, उससे हम केवल इतना ही कहेंगे, कि विधवाको क्या करना चाहिये और परिवारके सब लोगोंको विधवाके प्रति कैसा भाव रखना चाहिये।

वैधव्य एक बहुत बड़ा व्रत है। यह व्रत दूसरेके लिये आत्मोत्सर्ग है। आत्मोत्सर्ग व्रतका अनुष्ठान कुछ न कुछ सबको ही करना पड़ता है। कोई जान सुनकर करते और कोई न समझके करते हैं; कोई थोड़ा करते और कोई अधिक करते हैं; किन्तु इसे सभी लोग किया करते हैं। तब भी दूसरेके लिये इस व्रतकी शिक्षा और इसका पालन धीरे धीरे निर्व्वाहित होता है; इससे इसके क्लेशका अनुभव कम होता है; स्थलविशेषमें कोई क्लेश नहीं होता। विधवाके लिये इस व्रतका भार एक बारगी ही भारी पड़ जाता है। इसलिये वह विकल होजाती है। यहांतक विकल होजाती है कि वह समझही नहीं सकती कि वह कैसे महत् व्रतमें व्रती हुई। वह समझती है कि 'मैं जन्मभरके लिये गई'। वास्तवमें वह अपने लिये जन्मभरके वास्ते जाती है। वह एक बारगी ही उदासिनी, सर्व्वत्यागिनी, ब्रह्मचारिणी बन जाती है।

ब्रह्मचारी, सर्व्वत्यागी, उदासीन मनुष्योंके प्रति जनसाधारणका कैसा भाव है? सभी लोग संसार विरागियोंके प्रति अकृत्रिम भक्ति और अविचलित श्रद्धा किया करते हैं। विधवा भी वैसी ही भक्ति और श्रद्धाकी पात्री हैं। परन्तु एक बात है। जो ज्ञानपथावलम्बी हो संसारके प्रति बहुत ही तितिक्षाकी वजहसे संसारत्यागी होते हैं, उनके मानसिक बल और दृढ़ताके प्रति जितनी भक्ति होती है, सांसारिक दुःखसे परितप्त, दैव दुर्घटनासे उत्तेजित हो

संसार त्याग करनेवाले पर उतनी प्रगाढ़ और विशुद्ध भक्ति नहीं होती; उनके प्रति जो भक्ति होती है उसमें कुछ दया भी मिली रहती है। हमें मालूम है कि श्रीकाशीधाममें एक बहुत ही पवित्रात्मा मनुष्य थे, जिन्होंने पहले केवल दैव विडम्बनावश ही संन्यासधर्म्म ग्रहण किया था। उनके पढ़नेके समय ही पुत्रकलत्र मर गये थे। उसी दुःखसे उन्होंने गृहस्थाश्रमको परित्याग किया था। फिर योगाभ्यास और अन्यान्य तपश्चरण द्वारा सब लोगोंके प्रति अगाध प्रीति सम्पन्न, बहुत सदालापी, मधुरभाषी और परोपकार परायण हो सभीके लिये प्रीति भक्ति और विश्वास भाजन बने। ऐसे महापुरुषही विधवाओंके लिये आदर्श रूप हैं। उन्हींकी तरह दैवविडम्बनाकी वजहसे सन्यासाश्रमग्रस्त विधवाओंका भी कर्त्तव्य है कि वे आत्मदान और परोपकार व्रतके पालन द्वारा अपनेको शुचि, शान्त और सुखी बनायें।

जिस परिवारमें कोई स्त्री विधवा हो गई हो, उस परिवारके कोई मनुष्य विधवाकी प्रकृत अवस्थाको क्षणभरके लिये भी न भूलें। उस घरके स्त्री-पुरुष सबको ही याद रखना चाहिये कि विधवा दैवदुर्व्विपाकवश बहुत ही कठोर ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किये हुई है। दैवविडम्बनावश ही उसने कठोर व्रता-वलम्बन किया है, अतएव वह बहुत ही दयाकी पात्री है। उसने ऐसा उच्च व्रत धारण किया है, अतएव विशेषरूपसे उसपर भक्ति करनी चाहिये। विधवाके प्रति ऐसे ही मिश्रभावका अवलम्बन कर चलनेसे उसकी तपस्यामें बहुत कम विघ्न पड़ेगा, उसका अशन वसनके निमित्त उत्पन्न क्लेश बहुत कुछ कम होगा और उसके हृदयमें जैसे जैसे आत्मगौरवका प्राधान्य बढ़ेगा, वैसे ही वैसे उसके शम दमादिके व्यापार सुकर होते जायेंगे।

परिवारस्थित विधवाके पालनमें कर्त्ताके किसी प्रकार लापरवाह होनेसे काम न चलेगा। विधवायें जिस व्रतकी व्रती होतीं, उससे उम्र और अवस्था के भेदसे उनकी प्रकृति भिन्न हो जाती और उनके सुपालनके लिये विभिन्न रूपके व्यवहारोंका भी प्रयोजन होता है। एक प्राचीन या प्रौढ़ा ससन्ताना विधवा होती हैं, उन्हें सब प्रकारके धर्म्मकार्य्योंका अनुष्ठान करने देना चाहिये; तीर्थादिके दर्शनकी इच्छा हो तो करने देना चाहिये, बिना इनकी सलाहके सांसारिक काम करना न चाहिये। इनसे जो कुछ कहना हो, वह घरके मालिक स्वयं कहें। नौकरानी या बहूसे कभी न कहलायें। विधवा माताको स्त्रीके मुँहसे कुछ कहला कितने ही युवा पुरुषोंने मातृस्नेह खो दिया है।

पहले ही ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे विधवाके सन्तानगण घरके समवयस्क और समवयस्का अन्यान्य पुत्र कन्याओंके साथ दृढ़रूपसे सौहार्दके बन्धनमें सम्बद्ध हों। द्वितीय, युवती ससन्ताना विधवा होती हैं,—इन्हें अपनी सन्तानके यत्नमें जितनी इच्छा हो, उतना ही समय बिताने देना चाहिये किन्तु उन सन्तानोंके समवयस्क या उनसे कम उम्रके घरके अन्यान्य लड़के भी उस यत्नके फलभागी हों, इसका उपाय भी विशेष चेष्टाके साथ करना चाहिये। विधवाके हृदयमें स्नेहके बढ़ानेका उपाय किया जाय, किसी प्रकार वह स्नेहराशि थोड़ेसे स्थानमें बन्द हो दूषित न होने पावे। विधवाके हृदयमें किसी प्रकार अपने परायेकी समझ उत्तेजित हो ईर्षा द्वेषादिके प्रभावसे वह उसके प्रकृत व्रतको भङ्ग न करने पावे। विधवा घरके सब लड़कोंको प्यारसे रखे, ऐसा न होनेसे समझना चाहिये, कि उसके साथ उचित व्यवहारमें त्रुटि हुई। तृतीय निःसन्ताना बालविधवा होती हैं। इनका प्रतिपालन केवल रोटी कपड़ेका प्रतिपालन नहीं। इनमें धर्म्मोन्नति साधन, बहुत ही कठिन काम है। इसलिये विशेष कठिन है, कि इनके बचपनकी साहजिक स्वार्थपरताके बहुत प्रधान दो संस्कार बाकी रह गये। वह पति-प्रेमाग्निमें द्रवीभूत हो कभी दूसरे पात्रमें विस्तृत नहीं हुआ और सन्तान वात्सल्य रससे परिषिक्त हो किसीको आत्मज धन रूपसे प्राप्त न हो सका। इनका मन उदार की जगह क्षुद्र, प्रीतिपूर्णकी जगह शुष्क और सदयकी जगह ईर्षापूर्ण होनेकी सम्भावना है। तब भी एक भरोसा है। इस देशके भले घरकी बालिकाओंके हृदयमें प्रगाढ़ भक्तिका बीज बो दिया जाता है। माता-पिताकी भक्ति, गुरुजनके प्रति भक्ति, देवता ब्राह्मणकी भक्ति, शास्त्रशासनकी भक्ति, ये सब सहजात धर्म्म हैं। इन पर ही अवलम्बन कर चलना पड़ता है। विचारकर चलनेसे उस भक्तिबीजसे ही विपुल प्रीतिका उद्गम होता है, जो जीवनक्षेत्रको सरस, शीतल और आत्माके लिये सुखप्रद बना डालता है। बालविधवाके पालनके लिये हम कई एक नियम बताते हैं–

(१) विशेष इन्तजामके साथ कर्त्ता स्वयं उसके आहारका नियम बना दे। इतना दूध और इतना फल, इतना अन्नव्यञ्जन—इस प्रकार विधवाके लिये भोजनका ठीक कर देना चाहिये। जैसे देवताके नामसे द्रव्यादि संग्रह किया जाता है, उसे घरके लोग खाते नहीं, वैसे ही विधवाके लिये घरके मालिक जो ठीक कर दें, उसे घरके और किसीको लेना न चाहिये।

(२) विधवा दो एक शिशु-सन्तानोंको पास लेकर सोये। विधवाको लड़कोंका आदर सिखाना चाहिये।

(३) यदि हो सके, तो विधवाको संस्कृत पढ़ाना चाहिये। अन्ततः अच्छे संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद सुनाना चाहिये। उसका तात्पर्य्य उसे समझाना चाहिये।

(४) विधवाको सांसारिक कामोंमें विशिष्ट रूपसे लगा देना चाहिये। केवल अनुज्ञा द्वारा नहीं, गृहकार्य्यमें विधवा स्त्रियोंको सधवाओंकी सहकारिणी बनाना चाहिये।

(५) विधवाको व्रतादि करने देना चाहिये। स्वयं उसे व्रत करनेको कहना न चाहिये। किन्तु यदि वह करना चाहे, तो करने देना चाहिये, व्रतादिके उद्यापनके समय खर्चमें कमी करना न चाहिये। शारीरिक मेहनत उसकी, रुपया तुम्हारा। घरकी सधवा स्त्रियां वे सब व्रत या उनके अनुरूप व्रतादि करने न पायें। सधवाओंके व्रतके उद्यापनमें कम खर्च हो और आडम्बर भी कम हो।

(६) विधवाको कोई आज्ञा देना हो, तो कर्त्ता स्वयं दे—स्त्री, कन्या, या पुत्रवधू प्रभृति अन्यान्य किसी स्त्री द्वारा न दिलायें। किन्तु अनुज्ञा सचमुच ही कर्त्ताकी अपनी हो, अर्थात् स्वयं ही देख-सुन विचार-चिन्ताकर अनुज्ञा करें। गृहिणी द्वारा उपदिष्ट और स्वयं उसके ही मुख-स्वरूप न हों। बिल्कुल स्त्रैण पुरुष द्वारा विधवाका सुपालन प्रायः ही अच्छी तरह नहीं होता।

उल्लिखित नियमोंका बुद्धिपूर्वक पालन करनेसे बाल-विधवाओंकी किस प्रकार धर्मोन्नति होती है, उसे जिन लोगोंने अपनी आँखों देखा है वेही समझ सकते हैं। विधवा स्वतः प्रवृत्त हो भोगसुख परित्याग कर देती है। गृहकार्यमें बहुत ही निपुण हो जाती। अतिथि, अभ्यागत, कुटुम्बी, स्वजनगणको प्रीतिसे खिलाती है स्वयं सबल और सुष्टुशरीर होती है। ईर्षादि दोषसे परिशून्य हो सधवाओंके प्रति अनुग्रहशालिनी और उनके पुत्रोंके प्रति मातृवत् स्नेहशीला होती है जिस घरमें विधवा इस प्रकार रहतीं हैं, उस घरमें मानो एक जीवन्त देवी मूर्त्ति है। विराजमान है। उस घरके स्त्री पुरुष ऋषिचरित्रके द्रष्टा और फलभोक्ता होते हैं। वहां 'परार्थजीवन' क्या वस्तु है सो केवल मुखसे कहा नहीं जाता या पुस्तक में पढ़ा नहीं जाता, उसकी जाज्वल्यमान मूर्त्ति अपनी आँखों दिखाई देती है।

जब मद्यसेवी, मांसाहारी युरोपीयगणकी कन्यायें भी धर्मशिक्षाके प्रभावसे चिर-कौमारके व्रतका नियम यथायथ पालन कर सकती हैं, तब अति उदार संस्कृत शास्त्रके साहाय्यसे पवित्र आर्यवंशोद्भवा विधवाओंके ब्रह्मचर्यके पालित न होनेकी बात बिल्कुल ही अश्रद्धेय है।

---

३३ प्रबन्ध।

चिर-कौमार।

मनुष्य गृहस्थाश्रमी होगा, विवाह करेगा, परिवारसे परिवृत हो रहेगा यही साधारण नित्यधर्म्म है और इसी नित्यधर्म्मका अवलम्बन करके ही पारिवारिक प्रबन्ध लिखे गये हैं। किन्तु गृहाश्रमी हो कर भी, अर्थात् संसारमें रह कर भी बिना विवाह किये रहना बिलकुल असाध्य या असम्भव नहीं है। विवाह करना और परिवारका प्रतिपालन करना दिन पर दिन अधिकतर अर्थसाध्य और कष्टसाध्य होता जाता है। गृहस्थ होनेसे अवश्य ही विवाह करना पड़ता है, यह जो एक प्राचीन संस्कार था, वह कालगतिसे क्रमशः दुर्ब्बल होता जाता है। कितने ही अकुलीन ब्राह्मण सन्तानोंके विवाह-का ठिकाना नहीं लगता—ऐसे ब्राह्मणोंका विवाह करा ब्रह्मस्थापन करनेकी जो धर्म्मप्रथा थी, आजकल इस प्रथाका समादर भी घट गया है। इसके अतिरिक्त अङ्गरेजोंमें बड़े आदमी और छोटे आदमियोंमें कितने ही लोग विवाह नहीं करते, या कर ही नहीं सकते, यह जान कितने ही नौजवान यह समझते हैं कि विवाह करना या न करना अपनी इच्छाके अधीन है; अवश्य कर्त्तव्य संस्कार कार्य्य नहीं। अतएव पारिवारिक प्रबन्धके अन्तिम हिस्सेमें चिर-कौमार विषयक विचार बिलकुल ही अयोग्य जान नहीं पड़ता।

हमारे विचारसे चिर-कौमार व्रत धारण करनेके योग्य नरनारी पृथिवीमें अबतक बहुत ही थोड़े उत्पन्न हुए हैं। पारिवारिक धर्म्मके सुपालन द्वारा जिन सब पूर्व पुरुषोंका शरीर और मन सुसंयत हुआ है, ऐसे पूर्व्व पुरुषोंके गुण जिन सब सन्तानोंमें पूरी तरहसे प्रविष्ट हुए हैं, वेही चिर-कौमार व्रतके धारणमें अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार लोगोंकी कामप्रवृत्ति दुर्ब्बल होती है और हृदय परार्थ चिन्तासे पवित्र हो जाता है। हम यह नहीं कह सकते कि समय पाकर ऐसे मनुष्योंकी संख्या बढ़ नहीं सकती बल्कि हम देखते

आते हैं, कि उन दोनों लक्षणोंमें जहां एक भी रहता है, दूसरा भी प्रायः ही वहाँ रहता है। कामप्रवृत्तिकी दुर्व्बलता और परार्थपूत-चित्तता अनेक स्थलोंमें एक ही जगह विद्यमान रहती है।

इसके अतिरिक्त हमें दृढ़रूपसे जान पड़ता है, कि जीव संख्या और आहार सामग्रीकी वृद्धिका नियम इस समय जिस प्रकार परस्पर निरपेक्ष भावसे चल रहा है, भविष्यतमें मनुष्य गण आपसमें उस नियमको वैसे निरपेक्ष भावसे चलने न देंगे; उसे परस्पर सापेक्ष बना लेंगे। इस समय मनुष्यसंख्याकी वृद्धि जिस क्रमसे होरही है, उस क्रमसे आहार सामग्रीकी वृद्धि नहीं होती। इससे ही अनेक स्थलोंमें दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध प्रभृति दुर्घटनायें हुआ करती हैं। समाज में यह प्राकृतिक तथ्य जितना अधिक परिज्ञात होगा, उस तथ्यके ज्ञानसे प्रणोदित होने पर वैवाहिक व्यवस्थाका जितना उत्कर्ष साधित होगा, वे सब व्यवस्थाएँ जितने अधिक परिमाणसे प्रतिपालित होंगी, उतनीही ऐसी सन्तानें उत्पन्न होंगी, जिनकी कामप्रवृत्ति सहजही दुर्व्बला और परार्थप्राणता बलवती होगी। जब हमारा विश्वास और इच्छा ऐसी ही है, तब हम चिर-कौमारकी अवस्थाके पक्षपातीही हैं, कभी विरोधी हो नहीं सकते। परन्तु हम अवश्य यह कहते हैं, कि ऐसे तैसे मनुष्य इस व्रतके पालनके अधिकारी नहीं। साधारण अङ्गरेज़ोंमें भी कोई कोई विवाह नहीं करते। उसका एक मात्र कारण यह है, कि वे लोग सांसारिक धर्म्मश्रृङ्खलामें बँधना नहीं चाहते अथवा वे स्त्री पुत्रोंके पालनके भारसे आक्रान्त होनेमें नाराज हैं। वे लोग एकमात्र स्वार्थ परवश होकर ही संसारयात्रा निर्वाह करते हैं। हम ऐसे चिर-कौमारके विद्वेष्टा हैं।

यदि किसीको चिरकौमार व्रतके धारणकी सच्ची इच्छा हो तो उन्हें कई एक विषयोंको विशेष ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिये। पहले उन्हें समझना चाहिये, कि वह अपने शरीरको पूरी तरहसे विशुद्ध रख सकते हैं या नहीं? उनको ऐसे भ्रममें पड़ना न चाहिये, कि देहके अपवित्र रहनेसे भी हृदय विशुद्ध रह सकता है। देह और मनको विभिन्न पदार्थ न समझ बाहर और भीतर इस विभिन्न प्रत्यक्षके विषयीभूत होनेकी वजह वह एकही पदार्थका द्विविध आभास मात्र है; ऐसा ही समझना अच्छा है। ऐसा सिद्धान्त कभी सत्य सिद्धान्त नहीं है, कि पशुधर्म्मके आचरणमें दिव्याचारका व्यभिचार नहीं होता या छिपकर विगर्हित व्यवहारके अनुष्ठानसे आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है। अतएव इन सब बातोंका तात्पर्य्य पूरी तरहसे ग्रहण कर कोई चिरकौमार

व्रतके अधिकारी हैं या नहीं, इसे वह स्वयंही समझ ले सकते हैं। यदि इन सब बातोंका विचार कर कोई कौमार व्रत धारण करे, और पीछे वह समझ सके कि वह व्रतके पालनमें अशक्त है, तो उन्हें व्रत त्यागकर विवाह करना चाहिये। उससे संकल्प भङ्गका दोष होगा सही, किन्तु उस दोषमें कपटाचारकी अपेक्षा कम दोष है। उससे असारल्य और कपटाचारकी वृद्धि और समस्त बुद्धि तथा चित्तवृत्ति विकृत नहीं होती। सङ्कल्पभङ्गसे चरित्रकी दुर्व्बलता मात्र होती है।

चिरकौमारके व्रताभिलाषीको और एक विषय विचार कर देखना चाहिये। वह पूरी तरहसे निष्कपट प्रीतिदान अर्थात् प्रतिदान न पाकर भी प्रीतिदान कर सकते हैं या नहीं। हम ईश्वरकी उपासना करते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनके प्रिय कार्य्यका साधन करते हैं, अतएव मङ्गलमय ईश्वर अवश्य हमारा मङ्गल करेंगे, ऐसे भावसम्पन्न मनुष्यके लिये चिरकौमार व्रतका पालन असाध्य व्यापार है। ईश्वर हमारे प्रति अनुग्रह करे या न करे, हम अपने स्वभावसिद्ध धर्म्मसे उनमें अनुरक्त रहेंगे—उनके निग्रहसे भी हमारा अनुराग बढ़ेगा, जिनके हृदयमें ऐसा आत्मगौरव, आत्मप्रतीति और असीम प्रेम विद्यमान है, अथवा विद्यमान रहनेका उपक्रम हुआ है, वह चिरकौमार व्रतके धारणके पूरे अधिकारी हैं। वह स्वबन्धु, स्वकुल, स्वजाति, स्वदेश सब मनुष्यों या समस्त जीवोंके लिये अपनेको उत्सर्ग कर सकते हैं। भीष्मदेव, शुकदेव प्रभृति तेजस्वी विशुद्धात्मागण ऐसे ही मनुष्य थे। वैसी ही तेजस्विता और पवित्रताके जो आधार हो सकते हैं वेही चिरकौमार व्रतके धारणके योग्य हैं।

हमारी लिखी बातोंसे कोई अपने मनमें यह न समझे कि "चिरकौमार व्रतका अधिकारी कोई नहीं" हम सचमुच ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं। हम मनुष्योंकी क्रमोन्नतिशीलता पर बहुत ही विश्वासवान हैं। हमें यह कभी विश्वास नहीं होता कि भीष्मदेव जैसे तेजस्वी और शुकदेव जैसे पवित्रतासम्पन्न मनुष्य पृथिवीमें जन्म ग्रहण कर नहीं सकते या इस समय भी मौजूद नहीं हैं। भीष्मदेव और शुकदेव किसी समय जीवित थे। अथवा ऐसे पुरुषोंकी पहले कल्पना हो गई है; यही परवर्त्ती समयमें ऐसे महात्माओंकी उत्पत्तिका कारणस्वरूप होता है। मनुष्यकी उन्नति केवलमात्र वैषयिक व्यापारसे ही सम्बद्ध रहती है, धर्म्मप्रणालीमें व्यापक हो नहीं सकती, जो

ऐसी बातें कहा करते हैं, वे उन्नतिके बाह्य लक्षण मात्रको ही देखते हैं, प्रकृत हेतुको नहीं समझते। वे लोग इस गूढ़ तथ्यको नहीं समझते, कि मनमें उन्नतभावके प्रवेश और सञ्चयके कारणसे स्नायुमण्डल और शरीर-धर्म्मका उत्कर्ष और उस उत्कर्षका पुरुषानुक्रमिक संक्रमण मनुष्यकी उन्नतिका प्रकृत हेतु है। जब एक भीष्म उत्पन्न हुए थे तब अवश्य ही दश भीष्म, सौ भीष्म और सहस्र भीष्म हो गये हैं, हैं और हो सकते हैं।

अतएव भीष्म और शुकदेवका नाम लिख मैं चिरकौमार व्रतके धारण-की असाध्यता प्रकट नहीं करता। उन व्रतधारियोंका आदर्श मात्र दिखाता हूँ, मैंने केवल यही कहा है कि कौन कौन गुणोंके प्राचुर्यसे यह व्रत सुसम्पन्न हो सकता है। भीष्मका नाम ले अस्वार्थपरता, दृढ़प्रतिज्ञता, त्यागशीलता और भक्तिमत्ताका भी प्रयोजन दिखाया गया है और शुकदेवका नाम ले ज्ञानचर्चा और ऐकान्तिकताकी आवश्यकता दिखाई गई है। सच्चे वीर और सच्चे ज्ञानानु-रक्त मनुष्य ही चिरकौमार व्रतके पालनके अधिकारी हैं।

जिस जातिके लोगोंमें वीरभाव और विद्यानुराग अधिक है उस जातिमें ही चिरकौमार व्रतका आधिक्य हो सकता है। किन्तु बीज और वृक्षके सम्बन्ध-के समान कार्य्य कारणका सम्बन्ध अनेक स्थलोंमें ऐसा परस्पर सापेक्ष है कि उनमेंसे एककी उपस्थितिमें दूसरेकी उत्पत्ति होनेकी सम्भावना होती है। अतएव हिन्दुओंके लड़की और लड़कोंमें यथोचित पात्रका विचार कर चिर-कौमार व्रतके धारणकी राह खोल देनेसे इस देशमें भी फिर प्रकृत वीर भाव और विद्यानुरागका सञ्चार हो सकता है। सब लड़के और सब लड़कियोंको ही विवाह सूत्रमें सम्बद्ध होना होता है यह एक बड़ा दोष है।

किसी साधुशीला बुद्धिमतीने कहा है,—"लड़कियोंका विवाह न होने से कोई क्षति नहीं होती। वे अपने भाई बहन और उन भाई बहनोंके पुत्र कन्याओंके प्रति ऐकान्तिक यत्नपरायण हो सुख और स्वच्छन्दतासे समय बिता सकती हैं।"

---

३४ प्रबन्ध।

धर्म्म-चर्य्या।

हरेक परिवार समाजका एक एक अणु बन्धन है। वह सब अणु जितने प्रकारके प्रबन्धसे परस्पर सम्बद्ध हैं, उनमें धर्म्मबन्धन प्रधानतम है। सुतरां किसी समाजमें जो धर्म्मप्रणाली प्रचलित रहे, अविकृत अवस्थामें उस समाजके अन्तर्गत हरेक परिवारमें भी वही धर्म्मप्रणाली प्रचलित रहेगी। ऐसा न रहनेसे मनुष्योंमें परस्पर ममताका ह्रास, विद्वेषका प्राचुर्य्य, अयथाचारकी वृद्धि और समाज बन्धनका शैथिल्य उत्पन्न होता है।

इस समय हम लोगोंके हिन्दू समाजका अविकृत भाव नहीं है। इस समय समाज-प्रचलित धर्म्मप्रणालीके प्रति कितनेही लोगोंकी सम्पूर्ण ऐकान्तिकता की रक्षा नहीं होती। बिलकुलही मूर्ख और परम ज्ञानीके अतिरिक्त अन्यान्य कितनेही लोगोंके मनमें सन्देह का एकाध विषमय भाव घुसा हुआ है। देशका जल वायु विदूषित होनेसे जैसे उस देशके निवासियोंका कुछ न कुछ स्वास्थ्यभङ्ग होता है, वैसेही सामाजिक धर्म्म-विप्लवका सूत्रपात होने पर समाजके अन्तर्गत सब परिवारोंमें ही कुछ न कुछ दोषका संचार हो जाता है। सर्व्वतोभावसे उस दोषके अतिक्रम करनेका कोई उपाय ही नहीं है।

किन्तु यद्यपि सर्व्वतोभावसे उस दोषका अतिक्रम करना हम लोगोंके लिये साध्यातीत है, तथापि विचक्षणताके साथ चेष्टा करनेसे यह बात कही जा सकती है, कि यह कुछ उतना असाध्य नहीं। विशेषतः उन सब दोषोंके निवारणके लिये सचेष्ट होना बहुतही आवश्यक है। सामाजिक धर्म्मबन्धनका शैथिल्य आईनके जोरसे, कुछ शासन कर्त्ताओंके प्रभावसे, कुछ अन्य लोगोंकी मुखापेक्षाके बलसे चाहे, जिस प्रकार हो, एक प्रकार दूर हो जा सकता है। किन्तु पारिवारिक बन्धनका यदि कुछ भी शैथिल्य हो, तो उसके पापका प्रायश्चित और उसके दुःखका प्रतीकार इह जन्ममें भी नहीं होता और परजन्ममें भी नहीं होता। इसका क्या उपाय है, जिससे सामाजिक धर्म्मविप्लवका दोष परिवारमें संक्रामित होने न पावे? मैं जहाँ तक समझ सकता हूँ उन्हीं उपायोंको उदाहरण सहित लिखता हूँ।

(१) ऐसा समझनेसे काम न चलेगा, कि धर्म्मविप्लव उपस्थित होने पर केवल चिरन्तन धर्म्म पर ही विश्वासवान् होकर रहूँगा। बुद्धि वृत्तिको परिचा-

लन करना चाहिये और युक्तिके साथ शास्त्रार्थका निष्कर्ष करना चाहिये। अपने परिवारमें उच्छृङ्खल तर्कका प्रयोजन नहीं है सही, किन्तु अनुष्ठेय धर्म्म व्यापार-की यौक्तिकता परिवार वर्गको दिखा देनी आवश्यक है। उदाहरण—

"दुर्गापाठ सुननेसे पुण्य होता है; उसका कारण यह है कि दुर्गाकी पुस्तकमें मृत्युभयकी प्रकृति और उसभयके निवारणका एकमात्र उपाय जो अविनाशिनी आद्याशक्तिमें श्रद्धा है, वह बहुत ही सुन्दर रूपसे वर्णित किया गया है,—आज घरमें दुर्गापाठ हो रहा है—चलो हम दोनों चलकर सुनें—हम तुम्हें स्थूलर तात्पर्य्य समझायेंगे।" * * * 'मृत्युभय महिषासुर कितने ही प्रकारके रूप बदल कर आया, जैसे ही एक रूप नष्ट हुआ, वैसे ही उसने दूसरा रूप धारण किया। एक बारगी किसी प्रकार नहीं मरा। अन्तमें उसका दमन हुआ ही"।

(२) धर्म्मविप्लवके समय जो मतवाद निकले, उसीको मान लेना उचित नहीं। समाजका बिलकुल ही विगर्हित आचार अवश्य ही परिवर्ज्जनीय है। उदाहरण—

"बेटा! तुम्हें अङ्गरेजीका लिखना पढ़ना सिखानेका यही फल हुआ कि तुमने देव ब्राह्मणकी भक्ति छोड़ दी; इसके बाद अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान भी करोगे; तबतक मैं जीवित न रहूँ तो अच्छा।" * * * "
"मैं प्रतिज्ञा करता हूं, कि अभक्ष्य भोजन या अपेय पान न करूँगा। ऐसा कोई पदार्थ मेरे गलेके नीचे न उतरेगा, जिसे मैं आपके सामने न खा सकूँ।"

(३) धर्म्मविप्लवमें जिन सब भिन्न भिन्न मतवादका परस्पर विरोध हो वे सब मतवाद जिस व्यापकतर मतवादके अन्तर्भूत हों, उसके ही अवलम्बन करनेका अभ्यास करना चाहिये। जहांतक हो, सके अपने मनको विद्वेषसे दूषित होने देना न चाहिये। उदाहरण—

"अन्यान्य सभी धर्म्म मिथ्या हैं—केवल हमारा धर्म्म ही सत्य है"। * * * "ऐसा न कहना चाहिये? सभी धर्म्ममें अच्छे मनुष्य हैं। भले आदमियोंका धर्म्म सत्य नहीं तो क्या मिथ्या हो सकता है? धर्म्मका उद्देश्य मनुष्यको भला बनाना ही तो है?"

(४) सारांश यह है, कि भक्ति और प्रीति जो धर्म्मका बीज है और पूजा का प्रकृत भाव जो एकाग्रता है, उसे सदा स्मृतिपथमें जागरूक रख परिवार में प्रकृत धर्म्मभाव उद्दीपित करना चाहिये। किन्तु उन सब उपायोंका अव-

लम्बन करनेके लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है; सदा सतर्क रहना चाहिये; परिवार वर्गको मनोगत सन्देहादिकके प्रकट करनेके लिये साहस प्रदान करना चाहिये, उनकी सहायताका अवलम्बन कर धर्म्मभावको अक्षुण्ण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

इन सब परिश्रमोंसे पराङ्मुख होनेसे, या सहिष्णुताके अभावसे, या विचारकी त्रुटिसे, कितने ही सुबोध, शान्त प्रकृतिक और परिवारके प्रति विलक्षण स्नेहसम्पन्न मनुष्य भी अपने परिजनगणको धर्म्मविप्लवकी अनिष्ठकारितासे रक्षा करनेके उद्देश्यसे अपने अपने विश्वासके विपरीत आचरणमें प्रवृत्त हो समाज प्रचलित धर्म्मानुयायी कार्य्यकलापका ऐसे भावसे * अनुष्ठान करते हैं, मानो किसी प्रकार देशमें धर्म्मविप्लव उपस्थित नहीं हुआ है। "नहीं है कहने से सांपका विष भी नहीं रहता" उन्हें सचमुच ही ऐसा विश्वास हो जाता है। क्या वास्तवमें ऐसा होता है ? जब देशकी जल वायु दूषित हुई है, तब क्या घरका द्वार बन्द रखने ही से पीड़ाके हाथसे छुटकारा पाया जा सकता है ? तब व्यायामचर्य्या, जलसंशोधन, उच्चवास और पवित्राहारका पूरा प्रयोजन होता है ।

जो लोग ऐसा आचार करते हैं उन्हें हम "भांड" "कपटी" प्रभृति कटुवाक्यों द्वारा गाली दे नहीं सकते। हम यह भी शंका नहीं करते, कि वे लोग ऐसे अनृताचारवश दुर्ब्बलमना हो पड़े हैं । इस बात पर भी हमारा दृढ़ विश्वास नहीं होता कि उनके चरित्रका सारल्य दूर हो क्रमशः कुटिलता प्राप्त हुई है। हम केवल इतना ही कहेंगे कि उनके अवलम्बित उपायोंसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती। हमने सैकड़ों स्थलोंमें देखा है, कि जिन लोगोंने परिवारमें अभिनव धर्म्म सन्दिग्धताका प्रवेशद्वार बन्द रखनेकी चेष्टा की है, उन लोगोंने संस्कार कार्य्यमें बिलकुल ही उद्धत मनुष्योंकी अपेक्षा पारिवारिक धर्म्म विप्लवका अनिष्ट भोगा है; उनके पुत्रकलत्रोंने एक बारगी ही भक्तिमार्गको त्याग दिया है और अभक्ष्य भोजन, अपेय पान प्रभृति कार्यौंसे भीतरी निरङ्कुशताका जो भाव प्रकट होता है, उसमें वह एक बारगी ही डूब गये हैं ।

* गृहस्थाश्रमीका काम परिवार वर्गके लिये अनुकरणीय है । अतएव कुछ अनुष्ठान उनके लिये अत्यावश्यक है । भगवान् ने कहा है,—"उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् । "

जो लोग धर्म्मके सम्बन्धमें प्रकृत मनके भावको छिपा रखते, वे सामाजिक उन्नतिके पथको रोक रखनेकी चेष्टा करते हैं। वह चेष्टा अवैध है। वे अपने जीवन कालको एक प्रकारसे काटनेकी चेष्टा करते हैं और समझते हैं, कि उन्हें सामाजिक धर्म्मविप्लवका कोई अनिष्ट भोगना न पड़ेगा। किन्तु धर्म्मबुद्धिका निदानभूत और सांसारिक सब सुखोंका आकरस्वरूप जो अपना समाज है, वह दुःख पाने लगा, दिन दिन दौर्बल्यका अनुभव करने लगा, सांघातिक पीड़ासे लगातार जर्जरित होने लगा, उसके दुःखमोचन, बलाधान और रोगोपशमके लिये उन्होंने कोई कष्ट स्वीकार न किया। उन्होंने केवल अपने सुखके लिये ही अपने अपने परिवारको धर्म्मविप्लवके दोषसे मुक्त रखनेका यत्न किया। उनकी सङ्कीर्ण स्वार्थबुद्धिको वैफल्यमें परिणत होना ही चाहिये और ऐसा ही हुआ करता है।

प्रकृत दोष न रहनेसे कभी किसी विप्लवका बीज समाजमें अङ्कुरित हो नहीं सकता। वास्तविक हम लोगोंकी सनातनधर्म्म प्रणालीमें कितनी ही अशास्त्रीय, अयौक्तिक, अनिष्टकर प्रथाएँ मिल गई हैं। हम लोगोंमें अनेक स्थलों में ही आचारकी खींचतान बढ़नेसे धर्म भावकी अन्तस्सारशून्यता उत्पन्न हुई हैं। हम लोगोंकी जातीय उन्नतिके प्रतिबन्धक स्वरूप कितने ही कुसंस्कार समाजकी गति रोककर खड़े हुए हैं। जो असलमें इस प्रस्तावके सब दोषोंको समझ सके हैं, उन सब लोगोंका ही कर्त्तव्य है कि कायमनोवाक्यसे उन सब दोषोंके दूर करनेकी चेष्टा करें। यदि कहो, कि सब विषयोंका यत्न करनेसे परिवारमें धर्म्मभेद उत्पन्न होगा, तो हम कहते हैं कि यह भ्रम है। स्वयं बहादुरी न करके परिवारके सब लोगोंको अपने साथ एकमत समझ उन्हें अपना सहायक बना लो; विचक्षणताके साथ स्पष्टरूपसे निरूपण कर दो कि कौनसा दोष दूर करने योग्य और कौनसा गुण अनुकरणीय है। इससे तुम देखोगे कि परिवारके सब लोग बहुतही उत्साहके साथ तुम्हारे पैरके चिह्न पर पैर रखते तुम्हारे साथ चलेंगे।

पृथिवीमें अबतक जितने पैगम्बर या नरदेव उत्पन्न हुए हैं, उनमें मुहम्मदही सर्व्व प्रधान जान पड़ते हैं। ऐसा समझनेका एक कारण यह है, कि मुहम्मद अपने परिवारवर्गको सबसे पहले अपने धर्म्ममें दीक्षित कर सके। वह पहले परिजनगणमें अपने मतवादका प्रकार करनेमें कृतकार्य्य हुए। इसके बाद उन्होंने जातभाई कुटुम्बी और अन्तमें सर्व साधारणमें अपने मतवादका

प्रचार किया। हम सब लोगोंको मुहम्मद बननेके लिये कह नहीं रहे हैं। किन्तु पवित्रमना और प्रकृतदर्शी धर्म्म-संस्कारकोंका यही एक प्रकृत लक्षण है, यह बात याद रखना चाहिये। हम लोगोंमें इस समय जिन अनुचिकीर्षु संस्कारकोंकी अधिकता हो गई है, उनमें यह लक्षण दिखाई नहीं देता। बहादुरी करना ही उनके लिये बहुतही प्रयोजनीय होगया है। वह लोग विजातीय रीतिके पक्षपाती हो अपने सजातीयगणके अग्रणी हैं ऐसा दूसरोंको दिखाना चाहते हैं। उनकी बातें अलग हैं। वह लोग अपने परिजनोंके प्रति अधिक दृष्टिपात नहीं करते। हमने सुना है, कि उनमें से एक मनुष्यने अपनी माताकी आज्ञाके पालन से मुंह फेर यह कहा,—"माँ! मैंने क्या तुम्हारे लिये जन्म लिया है?—मैंने जगत्के लिये जन्म लिया है!!"

धर्म्मसंस्कारके काममें अपने परिजनके साहाय्य लेनेकी चेष्टा करनेसे बहुत ही शुभ फल उत्पन्न होता है; संस्कारके काममें पैर रखना जरा धीरे धीरे होता है। इससे प्रकृत सीमाके अतिक्रम करनेकी भी सम्भावना कम रहती।

किसी बुद्धिमती और भक्तिमती हिन्दू रमणीके साथ एक खृष्टानीकी हमने जैसी बात चीत सुनी है, यहां उसको लिख हम इस प्रस्तावको समाप्त करते हैं।

"बहन! तुम्हारी जैसी स्त्रियों को हिन्दू रहना ठीक नहीं। तुमने रोशनी पाई है, फिर अन्धकारमें क्यों रहती हो?" * * * *

"यह कैसी बातें बहन! अन्धकार कहाँ है? घरके सब द्वार और खिड़कियां खुली हैं; अन्धकार कैसा? बाहर भी कुछ उतनी रोशनी नहीं, केवल अधिक धूप और धूल छा रही है।"

---

३९ प्रबन्ध।

आचार-रक्षा।

कोई द्रव्य हो, वह कितनाही स्वच्छ क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ रोशनी रुकेगीही। यह जो हमारे देशमें अङ्गरेजी विद्याकी 'सुविमल ज्योति' फैली है, उससे भी सत्यका बहुत कुछ अपलाप हो देशके मनुष्योंका अपकार ही होरहा है। देखो, अङ्गरेजीका प्रादुर्भाव होनेसे हम लोगोंकी जातीय आचार-

पद्धतिका विलोपसाधन हुआ है। स्वप्नमें भी न समझना, कि उससे प्रबल हानि हो नहीं रही है। आचार-पद्धतिके लोपसे गृहकार्यकी श्रृङ्खला नष्ट हुई है, स्वास्थ्यमें व्याघात उत्पन्न हुआ है, लोगोंका आयुष्काल घट गया है और आत्मगौरवकी त्रुटि होनेसे जातिसाधारणमें नीचानुकरणकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

अङ्गरेजोंके धर्मके साथ उन लोगोंकी आचारप्रणाली घनिष्टरूपसे संयुक्त हुई नहीं है। अभी इसी बातपर यथेष्ट लड़ाई चल रहीं है, कि उनका धर्म अच्छा है या हम लोगोंका। इसपर अनेक विचार चल रहे हैं, कि उनका द्वैतवाद अच्छा या हमारा अद्वैतवाद अच्छा। इन विचारोंपर हम लोग जिन जिन युरोपीय पण्डितोंकी सहायता पा रहे हैं, हम लोग उन्हींको माथे चढ़ा नाच रहे हैं। किन्तु युरोपीय पण्डितगण तो यह बता न सकेंगे कि हम लोगोंकी आचार-पद्धति कैसी होना आवश्यक है। सुतरां स्वपक्ष या बिपक्ष किसीके लिये इस देशकी उपयुक्त आचार-शिक्षाकी सुविधा हो नहीं रही है।

धन्य यहूदी जाति! उस जातिकी दशा हम लोगोंकी अपेक्षा भी अपकृष्ट होगई है। हम लोग तो अपने देशमें हैं, हम सब लोग अब भी इकट्ठे हैं, वे लोग अपने देशमें भी नहीं अपनी जातिमें भी नहीं। वे लोग पृथ्वीके सब देशोंमें नाना जातिके लोगोंमें फैले पड़े हैं। तब भी उन लोगोंने अपनी आचार-प्रणालीको ठीक रखा है। इसी गुणसे यहूदी लोग चाहें जिस देशमें रहें, वे लोग उस देशवासियोंकी अपेक्षा स्वस्थशरीर, दीर्घायु और धनशाली होते हैं।

आचार-प्रणाली सामान्य वस्तु नहीं। हम लोगोंके कृतविद्यगण आचार-पद्धतिकी ओर बिलकुल ही अवज्ञा दिखा बहुतही स्वल्पदर्शिताका काम कर रहे हैं। एक विशिष्ट कृतविद्यके साथ किसी समय हमारी जैसी बातचीत हुई थी, उसे हम लिखते हैं:—

हम। धर्मकी बड़ी बड़ी बातोंपर ही हम लोग तर्क करते हैं, किन्तु हम लोगोंके धर्मके भीतर जो आचार-प्रणाली है, उसके गुणागुणपर कुछ भी विचार नहीं करते; यह हम लोगोंका एक भ्रम है।

वह। आचार-प्रणालीपर अब क्या विचार होगा? वे तो याजक-सम्प्रदायकी मनःकल्पित बातें हैं, उसमें कुछ भी नहीं।

हम। हम ऐसा नहीं मानते, कि आचार-प्रणाली याजक-सम्प्रदायकी मनगढ़न्त बातें हैं। प्रकृतिकी पूरी आलोचना द्वारा जो प्राकृतिक नियम ज्ञानि-वर्गके बोधगम्य होते हैं, आचार-पद्धतिमें वेही निबद्ध होते हैं। आचार-पद्धति साक्षात् प्रकृतिका आदेश है।

वह। प्रकृतिका आदेश क्या है? उसके जाननेके लिये किसी शास्त्र-पद्धतिके सीखनेका प्रयोजन जान नहीं पड़ता। कारण यह है कि प्रकृतिके आदेश बहुत ही स्पष्टाक्षरोंमें प्रकृतिमें सर्वत्र देदीप्यमान हैं। अन्यान्य जीवोंको—जैसे गौ, भैंस, बिल्ली, कुत्ते प्रभृतिको किसी भी आचार-पद्धतिके सीखनेका प्रयोजन दिखाई नहीं देता।

हम। यह सही है, किन्तु इसीलिये पशु पक्षियोंमें विध्वंसका प्राकृतिक नियम बहुत ही बलवान् रूपसे काम कर रहा है। कितने ही प्रकारके पशु पक्षी पृथ्वीमें उत्पन्न हो एकबारगी ही विध्वस्त हो गये हैं। किन्तु मनुष्य जिस बहुतही प्राचीनकालसे प्रादुर्भूत हुए हैं, तबसे ही वह आत्मरक्षा करते आते हैं। पशु पक्ष्यादि पृथ्वीके केवल देश विशेषमें और समय विशेषमें अवस्थिति कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य सब स्थानोंमें सब समय रहनेमें समर्थ हैं। इसका कारण यह है, कि मनुष्य देशभेद और कालभेदसे अपने आचारको भिन्न कर ले सकते हैं।

वह। तब क्या मनुष्यके लिये प्राकृतिक नियम ही यथेष्ट नहीं है।

हम। मनुष्यके लिये मनुष्य प्रकृतिके जो नियम हैं, वह यथेष्ट हैं—किन्तु पशु पक्षियोंकी प्रकृतिके नियम मनुष्योंके लिये यथेष्ट नहीं।

वह। क्या खाने पीने आदि व्यापारमें मनुष्यकी प्रकृति पशु-प्रकृति-से भिन्न है?

हम। भिन्न नहीं तो क्या है? मनुष्यकी प्रकृतिमें परिणामदर्शिता बहुतही बलवती है। मनुष्यकी प्रकृतिमें भावी सुखकी इच्छा वर्त्तमान सुखकी इच्छासे तेजस्विनी है, मनुष्यकी प्रकृतिमें कार्य-कारण-सम्बन्धीय समझ बहुत दूरकी सीमाको अतिक्रम करके चलती है और मनुष्यमें वाक्शक्ति तथा उससे उत्पन्न भाषा और लिपि-प्रणाली रहनेसे एक दूसरे मनुष्यसे वह अपनी अभिज्ञता प्रकट कर सकता है। इसी कारणसे मनुष्य-प्रकृति पशु प्रकृतिसे भिन्न है। तुम भी जैसे प्रकृतिका अनुसरण करने कहते हो, मैं भी वही कहता हूँ। परन्तु मनुष्यके लिये कहनेके लिये हम कहेंगे, कि मनुष्यकी प्रकृतिका

अनुसरण करो। प्रज्ञावान् शास्त्रकारगण भी शायद इसलिये, अर्थात् परिणाम-दर्शी मनुष्योंकी प्रकृतिका अनुसरण करनेके लिये ही आचार पद्धति बना गये हैं। मनुष्य प्रकृतिका समादर करनेसे ही परिणामदर्शिता और अभिज्ञताका समादर करना पड़ता है। जब जो अच्छा लगे, जिसमें प्रवृत्ति हो, उस समय वही करनेसे काम नहीं चलता। इसीलिये आचार-शास्त्रकी सृष्टि हुई है। यहां हम एक दृष्टान्त देते हैं। हमलोगोंके देशकी जलवायु ऐसी है, कि यहां कितने ही ऐसे रोग होते हैं जो युरोपमें नहीं होते। युरोपीय चिकित्सा-शास्त्रमें उन सब रोगोंका नाम भी नहीं। हमारे यहां कई व्रतोंका ऐसा विधान है, जिसके अनुष्ठानसे उन सब पीड़ाओंका दोष बढ़ने नहीं पाता। उन व्रतोंको हमलोगोंके शास्त्रकारोंने ही ठीक किया है। क्या उन सभोंका पालन करना आवश्यकीय नहीं? व्रत करनेसे ही उपवासादिका क्लेश स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे क्लेशका स्वीकार करना पशुप्रकृतिके विरुद्ध है। असलमें श्रेयः और प्रेय दोनोंमें चिरन्तन भेद है। * आचार-पद्धति इसी भेदको जान कर विधिवाक्य द्वारा यह दिखाता है कि कौन वस्तु प्रेय न होनेपर भी श्रेयः है। * * *

मतवादको लेकर झगड़ा करनेसे बुद्धिकी तीक्ष्णता बढ़ सकती है। किन्तु देशकी प्रकृत्यनुयायी आचार रक्षा करनेसे शरीर दृढ़, मन सबल और गृह पवित्र होता है।

* * * *

"बहू सावित्रीका व्रत करना चाहती है; किन्तु उसकी गोदमें लड़का है। सावित्री व्रत करनेसे बहुत उपवास करने पड़ते हैं, वह उसे सह न सकेगी।" * * "यह बात सही है—सावित्रीने जब व्रत किया था; तब उसका केवल विवाह हुआ था;—लड़के हुए न थे—बहू जन्माष्टमीका व्रत करे,—कभी कोई आपत्ति नहीं। तब भी वह सावित्री व्रतके बदले प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान आह्निक समाप्त कर एकाग्र चित्तसे स्वामीके मङ्गलकी चिन्ता करती हुई जल ग्रहण करे—मेरी मा सदा मेरे पिताका चरणामृत धो पीती थीं, तुम तो जानती ही हो! सावित्री व्रतके बदले यह एक महा व्रत है"। * * *

---

* "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोःश्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते॥
कठोपनिषत्।

"तुम्हारा एकादशीका व्रत करना सुन उस दिन उमेशकी बहनको बड़ा आश्चर्य हुआ—उसने कहा, कि अङ्गरेजी लिख पढ़कर भी एकादशीका व्रत करते हैं-और मेरा भाई कई वर्ष पढ़ साहब बन गया है-वह कुछ नहीं मानता"। * * * "एकादशीका व्रत किसी किसीके लिये बहुत अच्छा है। जिनके शरीरमें वात और कफका कोई लक्षण रहता है वह इस व्रतका विशेष उपकार समझ सकता है।" * * * "श्यामाचरणकी मा विधवा है। उसकी इतनी उम्र हुई, किन्तु वह सबके हाथका छुआ खाती है"। * * * "यह अच्छा नहीं। जो ठीक ठीक शुद्धाचारसे रहना चाहते हैं, उन्हें ऐसे वैसेके हाथका खाना न चाहिये। सामान्य स्पर्श दोष ही बहुत बड़ा दोष है। इससे एक मनुष्यके शरीरकी पीड़ा और प्रकृतिका दोष दूसरेके शरीरमें जा सकता है। पाकस्पर्श दोष उसकी अपेक्षा भी गुरुतर दोष है—कैसा आश्चर्य है! अङ्गरेज लोग सामान्य स्पर्श दोषको खूब मानते हैं, किन्तु ऐरे-गैरेके हाथका खाते हैं—वह लोग मेहतरका हाथका भी खाते हैं।"

३६ प्रबन्ध।

घरमें धर्म्माधिकरण।

एक एक परिवार एक एक राज्य है। राजाको राजकार्य्यमें बाहरी शत्रुसे राज्यकी रक्षा और राज्यके भीतर शान्ति संस्थापन की चेष्टा करनी पड़ती है। किन्तु परिवारके कर्त्ताको बाहरी शत्रुसे मारपीट करना नहीं पड़ता। चोर, डाकू साहसिक, फ़रेबी आदिके दौरात्म्यसे समाज-शासन और उसका प्रतिभू स्वरूप राज-शासन परिवार रूप राज्यकी रक्षा करता है। किन्तु परिवारके भीतर शान्तिकी रक्षा गृह स्वामीका कर्त्तव्य है। उसमें सामाजिक शासन या राजशासनका कोई वश नहीं। लड़कों लड़कोंका झगड़ा, लड़की लड़कीका झगड़ा, लड़के और बूढ़ोंका झगड़ा, सास बहूका झगड़ा, इन सब व्यापारोंसे घरकी भीतरी शान्तिमें सदा व्याघात पहुँचता है। अतएव इसके लिये यत्नवान् और सतर्क होना चाहिये, कि जिसमें वह सब कष्टका व्यापार होने ही न पावे और हो भी, तो अधिक नहीं, वह भी शीघ्र निवृत्त हो जाय और समधिक परिमाणसे उसका अशुभ फल होने न पावे।

जो पारिवारिक शान्ति रक्षाका मूल है, वही सामाजिक शान्ति रक्षाका भी मूल है—अर्थात् कृत्रिम अपक्षपातिता। जिस परिवारके कर्त्ता विना पक्ष-

पातके झगड़ा रोक सकते हैं, दोषीको तिरस्कारित और निर्दोषीको प्रसन्न कर सकते हैं, वह परिजनगणको शान्ति सुखसे रख केवल आप ही सुखी नहीं; बल्कि परिवारमें धर्म्मबीज बो अपने जीवनको सफल कर सकते हैं। दया, दाक्षिण्य, सौजन्य विनय, कार्य्यतत्परता आदि यावतीय सद्गुणोंके मूलमें न्यायानुगामिताका रहना आवश्यकीय है। परिवारमें उस न्यायानुगामिताका अभाव होनेसे समाजमें भी उसका अभाव होगा और सत्यनिष्ठा तथा श्रद्धाके घटनेसे समाज भी हीनबल हो पड़ेगा।

हमारे इस दुःस्थ अधःपतित देशमें क्षमा, दान शीलता आदि कोमल सद्गुणोंका जितना गौरव है उतना अधिक न्यायपरता, सत्याचार, वाङ्-निष्ठा, दृढ़ प्रतिज्ञता, अध्यवसाय आदि कठोर सद्गुणोंका गौरव नहीं। किन्तु जैसे स्त्री पुरुषोंके मिलनेसे ही संसारकी उत्पत्ति और सुख होता है, वैसे ही कोमल और कठोर दोनों प्रकारके गुणोंके मिलनेसे ही सत्कार्य्यकी उत्पत्ति और धर्म्म होता है। कोमल गुण कठोर गुणोंके अभावसे ठीक राह पर रह नहीं सकते। इसलिये अनेक स्थलोंमें ही हम लोगोंकी दया केवल बातोंमें, क्षमा अशक्तिमें और दानशीलता केवल मात्र मनही मन रह जाती है—यह सब क्रमशः वन्ध्या हो पड़ी हैं।

किन्तु हम लोगोंकी पारिवारिक व्यवस्था जिस प्रकारकी है, उससे कठिन और कोमल दोनों ही प्रकारके सद्गुणोंका यथायथ साधन हो सकता है। केवल मात्र पारिवारिक कार्य्यकी ओर कुछ मन लगाना पड़ता है। जैसे बूढ़े लोग,—"दूर हो, हमसे नहीं होता" ऐसे कह कर औदासीन्य दिखाते हुए आलस्यका सुख भोगते हैं, वैसा करनेसे काम न चलेगा। और जैसे नये लोग सामाजिक विषयोंका दोष बता अपने समाजको गाली दे निश्चिन्त हो जाया करते हैं, वैसा करनेसे भी काम न चलेगा। पारिवारिक सब कामोंमें ही विशेष रूपसे मन लगाना पड़ेगा। परिवार कोई ऐसा अलौकिक यन्त्र नहीं है जो विना यत्नके आप ही लगातार चलेगा, और आप ही आप सुख, शान्ति, धर्म्म प्रसव करता रहेगा।

लड़के लड़केमें झगड़ा—यह क्या इतना सामान्य व्यापार है, कि तुम उस झगड़ेके निदान पर विचार न करोगे, उसके क्रमको न देखोगे और उसके चरम फलको न समझोगे? लड़कोंके झगड़ेके निदान प्रधानतः तीन हैं,—(१) उन सबकी असीम स्वार्थपरता, (२) मारने और काटने तथा अँकड़ानेमें

उन सबकी स्नायु और पेशीके सञ्चालनसे होने वाले सुखका अनुभव, (३) उन सबका अपने अपने माता पितादि बड़े लोगोंके परस्पर आन्तरिक विद्वेषके भावका अनुकरण। इन तीनोंमें पहिलेके दो कारणोंसे जो सब विवाद, मारपीट, लड़ाई झगड़ा उत्पन्न होता है, वह सब लड़कोंके कुछ बड़े होने पर, उनमें कुछ भी ज्ञान आते ही प्रायः आप ही आप दूर हो जाते हैं। बचपनसे उसके निवारणकी प्रकृत चेष्टा करनेसे लड़कोंका स्वभाव विशेष रूपसे अच्छा हो जाता है; किन्तु चेष्टा न करनेसे भी बहुत ही दूषित नहीं होता। किन्तु तृतीय कारणसे जिन सब विवादोंकी उत्पत्ति होती है, उसे मूलसे ही दमन करना चाहिये। वह सब विवाद प्रायः ही भाई भाईमें नहीं होता। छोटे चाचा, बड़े चाचा, मामा भाई, मौसिया भाई आदि जाति-भाइयोंकी भाई बहनोंमें ही हुआ करता है। जब ऐसे विवादको बार बार होते देखो, अथवा विभिन्न भाइयोंका विभिन्न दल बनते देखो, तब निश्चय समझ लो, कि परिवारके भीतर अप्रकट रूपसे विद्वेष बुद्धि उत्पन्न हो गई है। सपौरियाका भाव बच्चोंका स्वाभाविक भाव है; किन्तु ऐसा न हो सहौदार्य्य भावके प्रबल होने पर समझ लेना चाहिये, कि कुछ जाति-विवादका सूत्रपात हो रहा है। तब मुहूर्त्त मात्र भी उदासीन न रहो। लड़कोंमें झगड़ा होते ही, इसका अनुसन्धान करना चाहिये, कि ऐसा क्यों हुआ। बिलकुल ही पक्षपातशून्य विचारसे जो लड़का दोषी ठहरे, उसे अवश्य दण्ड देना चाहिये। उम्रके हिसाबसे दण्डमें कमी बेशी होगी, किसीको सामान्य अनादर मिलेगा, कोई धमकाया जायगा, कोई मार खायगा, दण्ड इस प्रकार होगा, जिससे घरके लड़के, नौकर, नौकरानी सभी दोषीकी निन्दा कर दण्डको उचित कहें। जिस घरमें भाई भाईमें ही अधिक झगड़ा हो, विशेषतः यदि बड़ा छोटेको पीड़ित करे, तो इससे अंतर्भूत पक्षपातिताका दोष सूचित होता है। लड़कोंके बाप या मा अथवा और कोई किसी लड़केको कम और किसी लड़केको अधिक प्यार करते हैं उससे ऐसा ही समझा जाता है। उस विवादको भी पहिले ही की तरह शीघ्र दूर करना चाहिये और दण्ड भी पहिले ही जैसा होना चाहिये। अधिक स्थलोंमें इन बातोंके प्रकट न होने देनेमें ही भलाई है, कि मा बाप लड़कोंका पक्षपात करते हैं।

वयस्था स्त्रियोंका झगड़ा यदि घरके कर्त्ताके कानों तक न पहुँचे, तभी अच्छा। कारण, सब बातोंके कर्त्ताके कानमें चढ़नेसे स्त्रियोंकी लज्जा-

शीलता कम हो जाती है। किन्तु यदि गृहिणी बुद्धिमती, सहनशीला और पक्षपातशून्या हों तभी कर्त्ताके न सुननेसे काम चलता है, नहीं तो उन्हें अवश्य ही सुनना पड़ता है और ठीक विचार कर निन्दा, भर्त्सना, दुःख प्रकाश और क्रोध प्रकाश कर दण्ड देना पड़ता है।

जिस घरमें बूढ़े और लड़कोंका झगड़ा होता है अर्थात् युवक-युवती वृद्ध-वृद्धाके साथ झगड़ेमें प्रवृत्त होते और उनकी बातोंका रूखा उत्तर प्रदान करते हैं वह घर बहुत घृणित है। उस घरमें धर्म्मके मूल बीज भक्तिका बिलकुल ही अभाव रहता है। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश ऐसाही घर तुम्हारे हाथ हो, तो क्या करोगे? पूरे पक्षपात-शून्य बन विचार पूर्व्वक युवक-युवतियों-का दोष होनेसे, उन्हें जहाँतक सम्भव हो कठिन दण्ड दो। वृद्ध-वृद्धाका दोष होनेसे उनकी निन्दा करो। वृद्ध वृद्धा की नाराजी का भय न करो, आसपासके अन्यान्य लोगों की निन्दा का भी भय न करो। किन्तु तुमने जो उचित विधान किया है, उसे भी किसीके समझानेमें प्रवृत्त न हो—बड़ोंपर दण्ड का प्रयोग करने की वजह संकुचित भावसे रहो और उस विषयमें थोड़ी बातें करो। किन्तु और एक बात है। यदि वृद्ध-वृद्धा उम्र अधिक होनेसे अथवा पीड़ावश वास्तवमें क्षीणबुद्धि हों, तो जिन युवक-युवतियोंने उन्हें रूखा उत्तर दिया है, वही सच्चे दोषके भागी हैं। ऐसे स्थलमें उनका ही दण्ड विधान उचित है।

वयस और सम्पर्कके गौरवकी रक्षा करना हमारा जातीय उत्कृष्ट धर्म्म है। परिवारमें इस धर्म्मका पूरी तरह पालन होना चाहिये। इस मर्य्यादाकी रक्षा करते हुए भी घरमें विवादकी मीमांसा करनेके लिये पक्षपात शून्य विचार हो सकता है। बल्कि उस मर्य्यादाकी रक्षा करनेसेही असलमें पक्ष-पात शून्य विचार होता है।

जो विधवा सास अपनी पुत्रवधूसे झगड़ा करती है, उसका रोकनाही सब से कठिन काम हैं। यहाँ हम एक उदाहरण देते हैं:—"मा! आज इतना चिल्ला चिल्लाकर क्यों बोल रही थी? बाहरी घरतक आवाज आ रही थी।" * * * "शौकसे चिल्लाती थी! बहूने अब खूब मुह पर जवाब करना सीखा है, वह कोई बात ही सुनना नहीं चाहती।" * * * "कौनसी बात उसने नहीं सुनी।" * * * "तुझे इन सब बातोंसे क्या मतलब?" * * * "मतलब क्यों

नहीं है मा ! देखो न , घरमें इतना झगड़ा होना अच्छा है ? लोग निन्दा करेंगे। और देखो, झगड़ेसे कितनी ही खराबियाँ हैं, लड़के खराब होते, खाना-पीना खराब होता, संसारमें मनको सुख नहीं-मिलता और ऐसे घरको लक्ष्मी छोड़ देती है।" * * * ऐसा रह, तू अपने घर की लक्ष्मी लेकर रह, जिधर मेरी दोनो आँखें ले जायँगी उधरही मैं चली जाऊँगी—हा विधाता ! मेरे भाग्यमें यही था।' * * *
"मा ! मैं अब जाता हूं। भोजनके समय मुझे बुला लेना; किन्तु देखो, बाहरसे शोर न सुनाई दे।"

* * * * * *

"मा के भोजन करने को बुलाने पर मैं आया—अब कहो, उस समय क्या हुआ था ?" * * * "अब उन बातोंसे क्या मतलब, हुआ ही क्या ? तुम खाओ।" * * * "यही कहो न। तुमने चिल्ला चिल्ला कर बाजार लगा दिया था। जो लोग मुझसे मुलाकात करने आये थे, वे सभी झगड़ा सुन घरकी निन्दा कर गये। उन लोगोंने कहा कि तुम्हारी मा बहू को देख नहीं सकती।"
"ऐसा क्यों कहेंगे ! क्या उन लोगोंके घर झगड़ा नहीं होता है ?" * *
"होता हो, तो हो। किन्तु मेरे घर होना न चाहिये।"
* * * "अच्छा तू खा ले, अब उन बातों से मतलब नहीं।"

* * * * * *

"क्या आज सबेरे मा तुम पर नाराज हुई थीं ? मैं यह नहीं पूछता, कि वह क्या कह रही थीं, किन्तु तुमने उनकी बातों का कोई जबाब तो नहीं दिया ?" "नहीं" * * *
"मेरी लक्ष्मी हो" * * * "क्यों मा ! आज तुम्हारी बहू इतना रो क्यों रही है। मैंने घरमें जाकर देखा, कि वह बहुत रो रही है। क्या हुआ है ? * * तुम जानती हो, मैं तो उससे कभी वह सब बातें पूछताही नहीं, वह भी अपनेसे कुछ नहीं कहती। * * * तुम्हीं बताओ, कि तुम्हारी बहू क्यों रोती है ? * * न बोलोगी ? अच्छा मैं (बहन) उमासे पूछता हूं। ऐसे कामोंमें चुप रहना अच्छा नहीं।—उमा ! क्या हुआ था। तुम्हारी भाभी इतना रोती क्यों है ?" उमाने कहा, "मा ने आज भाभी को बहुत कठोर गाली दी है। वह उन्हें भाईखानी कहती

थीं।" * * * "मा! मेरी एक बात सुनो। यह सही है, कि तुम मनसे गाली नहीं देती, कारण, तुम मेरे सालों को बहुत चाहती हो, किन्तु यह बात सुननेमें बड़ी कडुई है। तुम्हीं विचार कर देखो, यदि तुम्हारी लड़की-की सास उसे भाईखानीकी गाली दें, तो तुम्हारा मन क्या कहेगा? यह काम अच्छा नहीं। ऐसा करनेसे बड़ीही निन्दा होती है। अकारण किसीके मनमें बहुत दुःख देना, लड़के, लड़की, पड़ोसी, बहू, सबकेही लिये महापाप है"। * * *

जिस घरमें सास-बहूमें ऐसाही न्याय रक्षित हुआ था दो वर्षमें वह घर निर्व्विवाद शान्तिमय-निकेतन बन गया। प्रतिवेशीगण कहने लगे, कि कोई सास बहू को इस प्रकार अपने पेटकी लड़कीकी भाँति प्यार नहीं कर सकती।

हम और एक घरकी बात कहते हैं। इस घरमें भी विधवा मा और लड़का कर्त्ता था। लड़केने लिखना पढ़ना सीखा था। माताकी भक्ति भी जानता था। उसने मा की आज्ञासे चलना ही परम धर्म्म माना था। माने कहा,— "बेटा! मेरी हड्डि भून गई है। तुम ऐसे सोनेके चांदकी तरह और तुम्हारे भाग्यमें यह उल्लू बहू मिली। मैंने भी तुम्हारे संसारमें सुखी होनेकी जो आशा की थी, वह सब निष्फल हुई। बेटा! तुम और एक विवाह करो।—मैं घरमें बहू ला सुखी होऊं।" लड़का चुप रह गया; उसने यह नहीं कहा, कि यह विवाह मेरे पिताने किया है। पत्नीका त्याग करना पिताका अपमान करना है। उसने यह भी खयाल न किया, कि स्त्रीने क्या दोष किया है। केवल वह उसकी मा को पसन्द नहीं आती तो क्या इसलिये वह निरपरा-धिनी डूबके मर जाँय। उसने यह भी विचार नहीं किया, कि उसकी पत्नी उस समय अन्तःसत्त्वा है, कहां उसे प्रसन्न रखना चाहिये कहां उसके हृदयमें शल्य-विधनेकी आज्ञा मिली। कई महीनेमें मातृ-भक्त पुत्रने दूसरा विवाह कर ससत्त्वा पहली भार्य्याको परित्याग किया। किन्तु तबसे माकी स्पर्द्धा और भी बढ़ गयी। लड़का उनकी बातसे सब काम कर सकता है यह विचार वह नाना प्रकारकी फरमाइशें करने लगीं। वह स्वयं भी बिलकुल निरङ्कुश हो गई। पांच वर्षमें माता पुत्रने एक दूसरेका मुँह देखना छोड़ दिया, दोनोंने अन्न मकान पृथक कर लिया। बहुत खिंचने से सब टूट गया। दूसरी पत्नी कहां गई, उसका कुछ ठिकाना नहीं रहा। पहिलीही गृहलक्ष्मी और घरकी मालकिन होकर रही।

निष्कर्ष यह है कि मातृ-भक्ति कहो या जो कहो, न्यायके साथ रहनेसे

ही सबकी रक्षा होती है। वही धर्म्म है, वही सबको धारण करता है। अतएव, परिवारमें न्यायपरताका एक सबसे ऊंचा आसन स्थापित कर रक्खो।

---

३७ प्रबन्ध ।

गृहकार्यौंकी व्यवस्था ।

हम लोगोंके समाजमें ऐसा कितना ही परिवर्त्तन होता जाता है, जो पारिवारिक व्यवस्थामें भी अन्तःप्रविष्ट हो कितनी विशृङ्खलता उत्पन्न कर रहा है। सद्विचारकर्त्ता गृहस्थोंका काम है, कि वह जहां तक हो सके, उस दोषका प्रतिविधान करते चलें। जिस सामाजिक परिवर्तनकी ओर लक्ष्यकर हम यह बात कह रहे हैं, थोड़ेमें उस शब्दको कहनेसे बाबुआना या चिकनापन कहा जा सकता है। हमारे देशमें एक प्रकारका चिकनापन या बाबुआना बढ़ रहा है और बढ़कर सर्व्वनाशकी तय्यारी कर रहा है। पहिलेकी अपेक्षा देशका धन घटता जाता है। पहिले जो लोग झूलन और दुर्गा-पूजा करते, उनमें कितने इस समय निरन्न हो पड़े हैं। हर वर्ष ऐसे लोगोंकी संख्या घटती जाती है, जो प्रतिदिन दोनों समय पेट भर खा सकें। पहिले जो व्यवसाय वाणिज्य देशी मनुष्योंके हाथमें था, वह धीरे धीरे विदेशियोंके हाथ होता जाता है। पहिले जो हज़ार दस हज़ार या लाख रुपये प्रतिवर्ष जमा कर सकते थे वे लोग इस समय जमाकी ओर देख नहीं रहे हैं; बल्कि ऋणमें फँस गये हैं। जो देशके भले आदमी पहिले पूरी पिराठे खाते, वह लोग इस समय रोटी खा रहे हैं। किन्तु देशकी दैन्य दशाके ये सब लक्षण दिखाई देने पर भी देशके लोगोंमें एक प्रकारका बाबुआना प्रचलित होता जाता है।

ऐसा होनेके दो कारण हैं। एक अङ्गरेजोंकी अनुकृति। द्वितीय अङ्गरेजोंके प्रवर्त्तित साम्यवादका अधिक विस्तार। कोर्ट अव् डिरेकृरने कहा—"हमारे भतीजोंका दल भारतवर्षमें राज्य-शासन करेगा; अतएव उन लोगोंको ऐसे दौलतमन्द और खुसपोशाकी हो चलना चाहिये, जिसमें बाबुआना भक्त भारतवासियोंकी आंखोंमें उनके गौरवमें त्रुटि न हो।" यह कह उन लोगोंने सिविलियन दलकी इतनी तनखाह बढ़ाई, कि पृथिवीके किसी देशमें कभी ऐसे राजकर्म्मचारियोंकी इतनी तनखाह नहीं बढ़ी थी। अब दिन पर दिन अधिक दरिद्र भारतवर्षीयगण सिविलियन लोगोंके बाबुआने पर हाथ भी बढ़ा नहीं

सकते। इस समय जितनी बड़ी बड़ी गाड़ियां, तेज घोड़े हैं, वह सभी सिविलियनगणके; उनका अपना होनेपर तो उनका है ही, देशी राजे रजवाड़ोंका होनेपर भी उनका ही है। अङ्गरेजोंकी इस नवाबीको देख देशके लोग उनके अनुकरणकी चेष्टा कर रहे हैं। जो दो या दश मनुष्य कर सके हैं, उन लोगोंने घर, गाड़ी, घोड़े, साज, लेवास, पोशाक सभी अङ्गरेजी ढङ्गसे कर लिया है। मध्यवित्त ऐसे-वैसे लोग किसी प्रकार घर, आफिस, गाड़ी, घड़ी, पतलून, कोट, केप और चुरुटके लिये चेष्टा कर रहे हैं। छोटे लोग भी ठीक इनकी दुम पकड़े चले जा रहे हैं। पेटको अन्न हो या न हो, एक किनारदार धोती और पोशाक बनवा रहे हैं। पेटभर चना फरुईका जलपान न कर एक पैसेकी जलेबी या एक पैसेका बरफ जीभ पर रख बाबुआना कर रहे हैं। ऐसा होना किसी किसी अर्थशास्त्रीके मतसे बहुत अच्छा है। किन्तु असलमें उससे कुछ भी उपकार नहीं। * तब भी देशमें धनागम होनेसे यह कुछ सहा जा सकता है, इससे मनुष्य मर नहीं सकता। किन्तु दरिद्रके लिये यह बाबुआना बहुत ही सांघातिक है। शरीरका खून बढ़नेके साथ बाबुआना बढ़नेसे स्वास्थ्य समझा जाता है, किन्तु खूनकी कमीके साथ जो बाबुआना उत्पन्न होता, वह मारात्मक क्षयरोग है। हमारे समाजमें इस रोगका सञ्चार होनेसे पारिवारिक प्रणालीमें भी बहुत कुछ दोष प्रविष्ट हो सकता है। हमलोग अङ्गरेज मात्रको ही खुश पोशाक और बाबू हो घूमते देखते हैं। किन्तु यह नहीं जानते, कि यह लोग अपने देशमें किस प्रकार रहते हैं। सुतरां जिस अनुकरण शक्तिसे हमलोग काम लिया करते हैं, पारिवारिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें हमारी वह शक्ति पूरी तरह काम कर नहीं सकती। हमलोगोंमें कोई भी अपनी आंखोंसे देख नहीं रहे हैं, कि अङ्गरेज लोग किस प्रकार अपने घरका काम चलाते हैं। हमलोग नहीं देखते, कि वह लोग स्त्री-पुरुष नित्य नैमित्तिक खर्चका हिसाब रखते हैं—उनके घरकी बीबी झाड़ू देती—रसोई करती—वर्त्तन मलती—कपड़ा धोती—इस्त्री करती--सूईका काम तो करती ही और ग्रामोंमें स्त्री-पुरुष खेतमें काम करते, गौखाना साफ करते, हम लोग कुछ भी देख नहीं सकते। हमलोगोंमें कितने मनुष्य जानते हैं, कि राजराजेश्वरी विक्टोरिया स्वयं रन्धनागारमें जा नित्य कौन कौनसा व्यञ्जन बनें

* "Luxury supports a state as the hangman's rope supports a criminal." Laveleye.

स्वयं उसकी व्यवस्था कर देती थीं और रन्धनकार्य्यमें कितनी निगाह रखती थीं ? कितने मनुष्य जानते हैं, कि उनकी कन्या एलिस् एक बड़े कुलीनके घर विवाहिता हो अर्थकी कमीसे तीन-चार लड़कोंकी मा होकर भी केवल एक वृद्धा दासीके अतिरिक्त और परिचारिकायें रख न सकीं ? एक दुग्धवती गो रखनेसे ही उनके बच्चोंको बहुत दूध मिलता, उनके भाग्यमें वह भी न हुआ। राजकुमारी एलिस् अपने हाथसे ही घरका सब काम चलाती थीं। किन्तु केवल ऐसा ही नहीं, कि वह दुःखिनी होनेकी वजहसे ही यह सब काम करती थीं। युरोपके सब देशोंके गृहस्थ या बड़े आदमी--सब घरकी स्त्रियां ही अपने अपने हाथ और अपने अपने शारीरिक बलसे घरका काम किया करती हैं। इनमें दास-दासियोंकी संख्या उतनी अधिक नहीं और अब भी घरमें झाड़ू आदि देनेका काम इञ्जनसे नहीं होता।

अङ्गरेजों की देखा देखी बाहरी आडम्बर और बाबुआनेके प्रति लालसा होने, अङ्गरेजोंके स्वदेश का व्यवहार न जानने, अङ्गरेजोंके घरकी भीतरी व्यवस्था न जानने और अङ्गरेजोंके मौखिक् साम्यवाद्से उन्मत्त होनेके कारण हमलोगोंकी अन्यान्य जो क्षति हो रही हैं, उनका तो कोई ठिकाना नहीं इसके सिवाय घरके भीतर भी बड़ा ही विप्लव संघटित हो रहा है। लड़के अङ्गरेजी सीख साहब बने हैं। लड़कियाँ बिना अङ्गरेजी सीखे ही बीबियां बनने लगीं। जिस घरमें महीनेमें एक सौ रुपया आता, उस घरकी स्त्रियां रसोई नहीं बनातीं, घरमें झाड़ू नहीं लगातीं, बिछौना न सुखाती, न उठातीं और न बिछातीं, मसाला नहीं पीसतीं, केवल शाक कूटती, बाकी सब काम नोकरानी करती हैं। वह सब किताबें पढ़तीं, कार्पेट बुनती और ताश खेलती हैं। इसका फल क्या होता है ? घर और घरकी वस्तु मलिन रहती हैं। भोजन खराब बनता और शरीर मट्टी हो जाता है। जो सब सन्तान उत्पन्न होतीं, वह क्षुद्राकार, स्वल्पबल, रुग्णदेह होती हैं, बालक सदा पीड़ित रहते, स्वल्पायुः होते अथवा अकाल ही मर जाते हैं।

देशमें कितने ही प्रकारके संस्कारका आन्दोलन चल रहा है। विशेषतः स्त्रीशिक्षा का उल्लेख तो सदा ही होता रहता है। किन्तु अयथा अनुकरण जात इन सब विपदोंसे उत्तीर्ण होनेके लिये स्त्रियोंकी जो बहुत बड़ी शिक्षा थी, उसकी रक्षाकी कोई बात सुनाई नहीं देती। यह भी कहा जा नहीं सकता, कि ऐसी बातें कब सुनाई देगीं। हां जो लोग इङ्गलेण्ड हो आये हैं, उनमें

यदि कोई अङ्गरेज परिवार की भीतरी अवस्था को समझ सके हैं और इस देश में उसका विवरण प्रचलित कर सकते हैं, तो उनके इस कामसे इस देशका बहुत उपकार हो सकता है। जब तक ऐसा नहीं होता और अङ्गरेजोंके यथा यथ अनुकरणका पथ प्रकट नहीं होता, अन्ततः तबतक स्थिर रह गृहकार्य्यमें पूर्व प्रचलित देशी व्यवस्थाओं की रक्षा करना ही ठीक है। आजकलके समय उस व्यवस्थाकी रक्षा और प्रत्यानयनके लिये जो सब सदुपाय किये जा सकते हैं उसका ही कई एक उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(१) घरके स्वामी यदि वृद्ध न हों, तो प्रतिदिन अपने हाथ कुछ काम करें।

(२) घरमें बढ़ई और राजमिस्त्रीके दो-चार औजार रहें। घरके सामान और घरकी छोटी मोटी मरम्मत, घरके प्रौढ़ लोग अपने हाथ करना सीखें।

(३) घरके कामका परिमाण समझ उनमें कितने ही कामका भार स्त्रियों पर रख देना चाहिये। अर्थात् यदि घरकी स्त्रियोंकी संख्या कम और खानेवाले लोगोंकी संख्या अधिक हो, तो वेतनग्राही रसोईदारको कामका भार देनेका प्रयोजन है सही, किन्तु तब भी घरका बहुत कुछ काम स्त्रियोंपर ही रहे। स्त्रियाँ घरकी सफाई, मसाला पीसने, बासन मांजने आदि सब कार्योंमें ही कुछ न कुछ दखल दें। नौकर, नौकरानियोंकी संख्या न बढ़ायें। स्त्रियाँ जो कर न सकें, केवल उसके ही लिये नौकर रखना चाहिये।

(४) हरेक नौकरके लिये काम बाँध दिया जाय; यदि उस निर्दिष्ट काम की अपेक्षा किसीको कुछ अधिक या विशेष फरमाइश करना हो, तो घरकी मालकिनके अतिरिक्त दूसरा और कोई न करे।

(५) घरकी अन्यान्य स्त्रियोंको काम बांटना घरकी मालकिनका काम है। वह उनके शरीरकी अवस्था और उसका विचारकर कामका भार दें और जहाँतक हो एक ही काम नित्य एक ही स्त्रीको न दें।

(६) घरकी मालकिनके लिये सभी काम अपना है; उन्होंने गोशालेमें जाकर देखा, कि गो गोबरके ऊपर खड़ी है। उसी समय उन्होंने उसे अपने हाथ साफ कर दिया। उन्होंने ठाकुरके घरमें जाकर देखा, कि सफेद चन्दन उतारा गया है; किन्तु लाल चन्दन उतारा नहीं गया। उसी समय वह अपने हाथ लाल चन्दन रगड़ डालें। उन्होंने हलदी पीसी जानेके समय

जाकर देखा, कि हलदी कुछ थोरी है। उसी समय वहाँ बैठ वह उसे बारीक बना डालें। तरकारी काटनेकी जगह जा उन्होंने देखा, कि आलूके बड़े बड़े टुकड़े हुए हैं, वह रस्सेके योग्य हैं; लटपटी तरकारीके योग्य नहीं। उसी समय वह उसे अपने हाथ काटकर दिखादें। रसोई घरमें जाकर देखें, कि दो-तीन व्यञ्जन चढ़े हैं—एक चूल्हा खाली है, उसपर कुछ नहीं चढ़ा, उसपर वह अपने हाथ चढ़ादें। वह सब घरोंमें घूमें, जो घर साफ न हो, जिसका बिछौना और तकिया इधर-उधर हो। उसी समय नौकरको बुला उसे यथोचित आज्ञा देना चाहिये। मालिक मालकिनके साथ मिल सब कामोंका समय ठीक कर दें। उसीमें कार्पेट बुनना, हारमोनियम बजाना, किताबें पढ़ना और छोटे छोटे लड़कोंके पढ़ानेका समय भी ठीक कर दें।

(७) अन्तरभवनका भोजन घरकी स्त्रियां ही परोसें। स्वयं गृह-स्वामिनी या स्थल विशेषमें और कोई स्त्री बातों बातोंमें यह कह दें, कि भोजनकी सामग्रीमें किसने क्या क्या बनाया है।

(८) गृहस्वामिनी देखें की खाना पीना समाप्त होते ही घर साफ किया जाय। जिसमें थालीका जूठा कउआ इधर उधर न छितरावे। जिसे जूठा दिया जाता हो, वह उसी समय जूठा उठा ले जाय।

अन्तमें हमें और एक बात कहना है। हमने जिस प्रकार घरकी व्यवस्था बताई है, वैसा करनेसे किसी दूरदर्शी शासनकर्त्ताकी तरह कुछ कठोर भाव धारण कर चलना पड़ता है। तुम्हारा अर्थागम इतना है, कि तुम बिना क्लेश दो चार अधिक नौकर, नौकरानी और दो एक अतिरिक्त रसोईदार या रसोईदारिन रख सकते हो। कदाचित् तुम्हारे घर घोड़ा, गाड़ी है, उसके लिये सईस, कोचवान, घसियारा आदि वेतन भोगी नियुक्त हैं। इन सबके रहते भी घरकी स्त्रियोंसे शारीरिक परिश्रम करानेसे वह सब असन्तुष्ट हो सकती हैं। उनके असन्तोषके दूर करनेका यह उपाय है, कि उन्हें शारीरिक परिश्रमकी प्रयोजनीयता समझा दी जाय, या नित्य तुम स्वयं कुछ कुछ परिश्रमका काम कर कुछ दृष्टान्त दिखा दो, कुछ नौकरोंके घटादेनेसे जो रुपये बचें, वह धर्म्मकार्य्यमें लगाये जा सकते हैं। कुछ बचे हुए उन्हीं रुपयोंसे स्त्रियोंके लिये जेवर बनवा उन्हें पुरस्कार दे सन्तुष्ट किया जा सकता है। सब घरोंमें ऐसा उपाय हो नहीं सकता। जिस घरकी स्त्रियोंका जैसा शील और जितनी शिक्षा है, उस घरमें इसमेंका कोई उपाय अधिक, कोई अल्प कार्य्यकारी होगा और

कोई अकिञ्चित्कर होगा। इसमें सन्देह नहीं, कि अन्तिम उपाय सबसे निकृष्ट है। किन्तु उसमें एक गुण है। वह बहुत ही शीघ्र प्रतिवेशिनियोंके मनमें बैठ जायेगा और ऐसा होनेसे उन लोगोंके घर भी तुम्हारे ही घर में जैसी व्यवस्था होने लगेगी।

---

३८ प्रबन्ध ।

काम करना ।

बहुत दिनकी बात याद आई; हमारे समाध्यायी किसी मनुष्यने हमसे कहा था,—"सुनो! यदि सचमुच ही अच्छी तरह अङ्गरेजी सीखना चाहते हो, तो मैंने जैसा किया है, वैसा करो। अङ्गरेजीमें पढ़ो, अङ्गरेजीमें लिखो, अङ्गरेजीमें बातें करो, अङ्गरेजीमें चिन्ता करो और अङ्गरेजीमें स्वप्न देखना भी सीखो।" जिसने यह बात कही, वह पढ़नेमें हम लोगोंकी श्रेणीमें सबसे उत्कृष्ट छात्र था। हम अङ्गरेजी पढ़ते और अङ्गरेजीमें ही पत्र लिखते थे सही, किन्तु अङ्गरेजके अतिरिक्त और किसीसे अङ्गरेजीमें बात करते न थे। अङ्गरेजी में चिन्ता करनेकी तो हमने कभी चेष्टा ही न की। बल्क यदि चिन्ताके समय खोपड़ी तोड़ अङ्गरेजी भाव मनमें आते, तो उसी समय हम अपनी मातृभाषामें उन भावोंकी आलोचना कर समझते, कि भाव ठीक हैं या नहीं। ऐसा करने से अङ्गरेजीमें विचार करना और अङ्गरेजीमें स्वप्न देखना हमारे भाग्यमें कभी नहीं आया।

किन्तु हमें कितने ही काम काज अङ्गरेजीमें ही करने पड़े हैं। अङ्गरेजीमें विचारका अभ्यास न करनेसे अङ्गरेजीमें लिखना हमारे लिये कुछ कष्टकर होता था और बार बार यह विचार कर देखना पड़ता था, कि अङ्गरेजीमें जो लिखा, वह विशुद्ध है या नहीं, उसमें अनर्थक शब्द विन्यास तो नहीं आया, कोई बात जो लिखा है, वह उसकी अपेक्षा संक्षेपमें और विशद-रूपमें लिखी जा सकती है या नहीं। सुतरां हमारा अङ्गरेजी लिखना वैसा शीघ्र होता न था। दूसरे लोग, यहां तक कि जो हमसे थोड़ी अङ्गरेजी जानते, वह शीघ्र लिखते थे, किन्तु हम ऐसा कभी कर न सके। अङ्गरेजी लिखनेमें हमें विलम्ब होता और कागजमें बहुत काट कूट रहता था।

किन्तु हमें कितने ही काम अङ्गरेजीमें करने पड़े, कितनी ही बड़ी बड़ी

चिट्ठियां और रिपोर्ट अङ्गरेजीमें लिखने पड़े, प्रतिदिन ५०। ६० पचौंका जवाब अङ्गरेजीमें देना पड़ा है और दूसरोंकी लिखी अङ्गरेजीका दोष संशोधन कर अनेक स्थलोंमें उसे शुद्ध बनाना पड़ा है। किन्तु हम शीघ्र शीघ्र अङ्गरेजी लिख न सके। अङ्गरेजीमें विचार करनेके अनभ्यासके कारण बहुत बड़ी बाधा रहने पर भी हमने उन सब कामोंको जैसे पूरा किया और उन सब कामोंके अच्छा करनेकी प्रशंसा पाई, वह कहते हैं।

किन्तु उस बातके कहनेके पहले हम और एक बात कह रखना चाहते हैं। हमारे आत्मीय बन्धु बान्धव जब हमसे मिलने आते, उस समय हमारे हाथ चाहे कोई काम क्यों रहे, हम निरुद्विग्न चित्तसे उनसे बात चीत किया करते थे। कई काम पड़े रहनेके कारण उनसे बात चीतमें अन्यमनस्कता या चञ्चलता प्रकट करते न थे। उनमें किसीसे मुलाकात हो जाने पर हम एक बारगी ही अपना काम काज भूल उनसे बातें करने लगते थे। वह लोग जानते थे कि इतना काम रहने पर भी जो इस प्रकार समय बिताता है, उसका कारण इसकी लघुहस्तता है।

किन्तु असलमें ऐसा नहीं था। किसी विषयमें हममें तेजी न थी। क्रमसे बहुत दिनोंके अभ्यास वश किसी विषयमें कुछ लघुहस्तता उत्पन्न हुई थी सही, किन्तु वह सामान्य विषयमें और बहुत ही सामान्य मात्रासे, अङ्गरेजी लिखनेमें कुछ भी नही।

तब हम अङ्गरेजीमें इतना काम कैसे करते थे? काममें हम बहुत समय लगाते थे। इतना समय पाते कहांसे थे? नीचे हम वही बात कहते हैं।

किन्तु उस बातके कहनेसे पहले हम और कई बातें कह डालना चाहते हैं। हमें काम काजमें बड़ा ही आनन्द आता था। हम ऐसा विचार कभी न करते, कि यह पराया काम कर रहे हैं। जो करते, उसे अपना ही काम समझते। कैफियत देनेके समय शायद परायेका काम जान पड़े और इससे आनन्दमें त्रुटि हो, इसलिये हम ऐसा काम करते, जिससे कैफियत देना न पड़े। अङ्गरेज मालिकका काम कर मनमें ऐसे भावका रखना बहुत ही कठिन है। वह लोग प्रायः ही देशी मनुष्योंके मनमें वैसा भाव रहने नहीं देते। क्रमशः इतना प्रभुत्व बताते हैं कि मनुष्यके मनमें यह भाव बस जाता है, कि मालिक अङ्गरेज हैं, काम उनका है, हम उनके अनुज्ञापालक नोकर मात्र हैं। किन्तु हमारे पहलेसे ही उस विषयमें सावधान होनेके कारण हो, अथवा शुभादृष्ट वश हो

हम कभी ऐसे दुर्भाग्यमें नहीं पड़े। हमारा काम सदा अपना निजका काम और स्वदेशका काम था।

और भी एक बात है। बचपनसे हमारा ऐसा संस्कार था, कि भोगमें प्रकृत सुख नहीं, कामके सम्पादनमें ही सुख है। हम ठीक बता नहीं सकते, कि यह संस्कार कैसे हुआ। परन्तु इतना याद आता है, कि पिताजी हमारे पढ़नेके समय सदा कहते, "छात्राणामध्ययनं तपः"। फिर हमारे बड़े हो दीक्षाग्रहण करने पर नित्य सबेरे एक बार सुनाते,—"यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनं"। हमारा दृढ़ विश्वास भी यही था, कि एकाग्रचित्तसे काम पूरा करनेके लिये परिश्रम करना ही प्रकृत पूजा है। अब हम यह कहते हैं, कि काम करनेके समय हम समयका संग्रह कैसे किया करते थे।

(१) हम समस्त द्रव्य और कागज पत्रका सजा रखना खूब जानते थे। कागज, कलम, दावात, और जिन सब पत्रोंको उत्तर देना पड़ता, उन सबको यथा स्थान रखते; वह सब ढूँढनेमें हमारा समय जाता न था।

(२) मैं अङ्गरेजी पुस्तकोंमें जो कुछ पढ़ता, मातृभाषामें मनही मन उसका अनुवाद किये विना न छोड़ता। सुतरां हमारा मन बहुत कुछ स्थिर रहता, कि किस विषयमें कैसा सिद्धान्त होना चाहिये। राय स्थिर करनेमें हमें बहुत कम समय लगता था। कई पुस्तकोंके अतिरिक्त अङ्गरेजी किताबोंमें इतना शब्दोंका आधिक्य और पुनरुक्तिका बाहुल्य है, कि मातृभाषामें उसका मानसिक अनुवाद करना बहुत ही जरूरी है। इस प्रकार एक बार छांट न लेनेसे भूसीका भाग अधिक और चावलका भाग कम रह जाता है। फलतः मातृभाषामें अनुवाद रूपी सूप द्वारा अङ्गरेजी ग्रन्थोंके छांट लेनेका परामर्श हम सभी अङ्गरेजी पाठकोंको देते हैं।

(३) हमने कभी अङ्गरेजी शब्द विन्यासका परिपाट्य लिख लेनेके लिये अच्छे अच्छे अङ्गरेजी शब्दों या भावोंका अभ्यास नहीं किया। हम नहीं कह सकते, कि इससे हमारा उपकार हुआ या अनुपकार। तब भी हम इतना कह सकते हैं, कि अङ्गरेजी शब्दोंके विन्यासपर कुछ भी नशा न रहनेसे कामके समय अर्थात् पत्रादि लिखनेके समय शब्द ढूँढ़नेमें हमें थोड़ा ही समय लगता था।

ऊपरके (२) और (३) चिन्हित बातों द्वारा हमारा यह कहना है, कि इसका निश्चय करनेके लिये, कि कौन बात किस प्रकार कहना या करना चाहिये,

अङ्गरेजी शब्दों और अङ्गरेजी शब्दसमष्टिका जोड़नारूप जो विषम अन्तराय है, वह अन्तराय हममें नहीं था और इसीसे हमें मतलब ठीक करनेमें कम समय लगता था। केवल इतना ही कष्ट और झगड़ा रहता, कि मतलब कैसे प्रकट करें। इसका भी समय कुछ निद्रासे, कुछ भोजनसे और कुछ मित्रोंसे बातचीतके समयसे संग्रह कर लेते थे। इसके अतिरिक्त हमें घरके ऊटंक नाटकमें तो फंसना पड़ता ही न था, इसलिये हमें बहुत समय मिलता था। इस प्रकार समयका संग्रहकर हम धीर हो आरामसे धीरे धीरे अङ्गरेजी लिखते थे। प्रायः अपना प्रतिपक्ष बन हम मन ही मन बहस करते, कि क्या लिख रहे हैं। प्रतिपक्षकी आंखसे हम आप ही अपनी भूल पकड़ते—अपनी ही आंखोंसे हम अपनी भूल सुधारते, इससे खूब काट कूट होता। किसी किसी पत्रको हम बदल बदल कर दो तीन बार लिखते।

एक बार हम किसी दूर स्थानमें गये थे। घरमें आकर देखा, कि बहुतसे कागजपत्र जमा हो गये हैं। उसी समय हम सब पत्र लेकर बैठे। पढ़ते पढ़ते जिन सबका जवाब देना हमने उसी समय आवश्यकीय समझा, उन्हें छाँटकर अलग रखा। जिनका उत्तर विचार कर देना और कुछ कागज पत्र देख कर जवाब लिखना ठीक जान पड़ा, उन्हें दूसरी ओर छाँटकर रखा। पहली थाकका उत्तर लिखा। जबतक वह काम समाप्त न हुआ, तबतक उठे नहीं। "बहुत देर हुई, खाने पीनेके बाद कागज-पत्र लेकर बैठते तो अच्छा था।" "यह तो ठीक है, किन्तु इन चिट्ठियोंको विदा किये बिना खाना पीना भी अच्छा न लगेगा।" घरमेंसे प्रायः ऐसी बातें सुननेमें आती थी।

"आज तीसरे पहर अमुकके आनेकी सम्भावना है; बहुत कुछ काम बाकी है; समाप्त न करनेसे बात चीतका सुख न मिलेगा; तुम्हें भी कोई काम हो, तो उसे इसी समय समाप्त कर डालो।" * * "रात, दो पहरको, बैठे बैठे यह क्या हो रहा है? न खाना न सोना, तबीयत खराब हो जायेगी।" "नहीं, तबीयत खराब न होगी। मैं एक बार सो चुका हूँ। और इसे लिखना ही होगा कल न भेजनेसे"—"क्या होगा?"—"कुछ बहादुरीमें त्रुटि"— "होने दो।" सचमुच ही उस रात लिखना पढ़ना नहीं हुआ, किन्तु अन्यान्य रातोंको होता था।

३९ प्रबन्ध।

एकान्नवर्त्तिता।

उत्तर पश्चिम और विहार प्रदेशमें मिताक्षराके अनुसार और बङ्गालमें दायभागके अनुसार व्यवहार प्रचलित है। मिताक्षरा और दायभागमें एक बहुत ही गुरुतर विषय पर मतभेद है। मिताक्षरामें पैतृक धनसम्पतिके लिये जाताजात समस्त सन्तान सन्तति का एक एक प्रकार का हक माना जाता है, दायभागमें वैसा हक माना नहीं जाता। दायभागके मतसे धनसम्पत्तिमें पिता का ही निव्यूढ़ स्वत्व है—वह स्वेच्छानुसार उसका दान और विक्रयादि कर सकते हैं।

भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशमें प्रचलित व्यावहारिक दो स्मृति शास्त्रोंमें ऐसा प्रभेद क्यों हुआ, इसकी सर्ववादिसम्मत कोई मीमांसा की जा नहीं सकती। तब भी एक प्रकारसे ऐसा कहा जा सकता है, कि वाणिज्य वृत्ति की अधिकतासे धन सम्पत्तिके विभागके अनुसार व्यवस्था हुआ करती है और बङ्गालमें सुनाव्या नदियोंके प्राचुर्य्यवश पश्चिमोत्तर और बिहार प्रदेश की अपेक्षा यहां बहुत दिनोंसे वणिक्वृत्ति की सुविधा और प्रादुर्भाव होता आया है। आजकल इस देशके समस्त व्यवसाय युरोपीयगणके हाथमें हो जाने पर भी उन सब प्रदेशों की अपेक्षा बङ्गालमें वणिक्वृत्ति परायण देशीय लोगों की संख्या अधिक है। यह कहा जा नहीं सकता कि इस तथ्यके साथ हम लोगोंके दायभागकी व्यवस्थाका कार्यकारण रूप कोई सम्बन्ध है या नहीं। परन्तु बङ्गालियोंके व्यवस्थाशास्त्रके इस प्रकार होनेसे उनमें पैतृक-सम्पत्तिके विभाग की सुविधा हुई है और ऐसा होनेसे भाई-भाईके पृथगन्न होने की प्रथा भी अन्यान्य प्रदेशों की अपेक्षा यहां अधिक प्रचलित हुई है; ऐसी बात कही भी जा सकती है। ऐसा नहीं, कि बङ्गालियोंमें पृथगन्न होना लोक निन्दा नहीं, किन्तु पश्चिमोत्तर और विहारमें उसकी जितनी निन्दा और अन्तराय है, वंगालमें उतना नहीं। वस्तुतः दायभागकारगण मनुसंहिताके एक वचन * को जान बहुत ही स्पष्टाक्षरमें पृथगन्न हो रहने की प्रशंसा कर

* एवं सहवसेयुर्व्वा पृथग् वा धर्म्मकाम्यया।
पृथग् विवर्द्धते धर्म्मस्तस्माद्धर्म्म्या पृथक् क्रिया॥

गये हैं। किन्तु प्रदेशीय धर्म्मशास्त्रके एक प्रकार प्रशंसा कर उत्तेजना देने पर भी बङ्गाली लोग पृथगन्न होने की इच्छा नहीं करते और पृथगन्नवर्त्ती परिवार की निन्दा किया करते हैं। ऐसा होने का कारण—चाहे जो हो, इस देशके लोगों की दारिद्र्य दशा उसमें एक मुख्य कारण है, इस विषयमें हमारे मतमें कोई सन्देह नहीं है। यदि बङ्गालियोंके प्रति परिवारमें एक मनुष्य ही कृति और उपायक्षम न हो अनेक कृति और उपायक्षम होते, तो पृथगन्न हो रहने का कष्ट कम होता, दायभागकारोंने जैसा कहा है, वैसे धर्म्मकार्य्य का भी आधिक्य होता और पृथगन्नवर्त्तिता, परिवारकी सम्पत्तिशालिताव बलवत्ताका परिचायक होनेसे निन्दनीय न हो विशेष प्रशंसाके योग्य ही गिना जाता। वस्तुतः पैतृक धन विभागके सौकर्य्य, सब भाइयोंमें कुछ कुछ उपार्ज्जन की क्षमता, उन्हें परस्पर स्वतन्त्र भावसे काम करने का अधिकार यह सब देशके मङ्गल और उन्नतिके लिये बहुत ही प्रार्थनीय हैं। इन सब विचारोंसे हमारी इच्छा होती है, कि लोग पृथगन्नवर्त्तिता की निन्दा न कर उसकी प्रशंसा ही करना सीखें।

किन्तु एकान्नवर्त्तितामें भी बहुतेरे गुण हैं। कृषिप्रधान देशमें और दरिद्रताके बाहुल्यमें एकान्नवर्त्तिताका बहुत ही प्रयोजन और अवश्यम्भाविता है। इसका उल्लेख न करनेपर भी एकान्नवर्त्ती परिवारमें अनेकानेक धर्म्मभावोंका विशेष उत्कर्ष और संरक्षण होता है। प्रधानके प्रति वश्यता बहुत ही बड़ा गुण है। इसकी शिक्षा एकान्नवर्त्ती परिवारमें ही मिलती है। परार्थके लिये अपने उपार्जित धनांशके नियोगसे स्वार्थ संकोचका अभ्यास होता है, यह भी सामान्य गुण नहीं। एकान्नवर्त्ती परिवारमें ही इस गुणका अभ्यास होता है। फलतः वश्यता, त्यागशीलता, समदर्शिता आदि अनेकानेक मूल धर्म्मकी शिक्षायें एकान्नवर्त्तिताके फल हैं और उन सब फलोंके उत्पन्न होनेसे ही हमारे देशमें इसकी प्रशंसा होती आयी है।

उस प्रशंसाके भीतर और भी एक प्रबल कारण हो सकता है। इस देशमें समस्त परिवारोंके एकान्नवर्त्ती होनेकी वजह ही लाईफ इन्शुअरेन्स या जीवन बीमाका प्रयोजन नहीं है। "पुअर ला" या दरिद्र पालन आईनकी भी आवश्यकता नहीं। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है, कि युरोपीयगणके अनुमोदित उन सब व्यवस्थाओंके अभावसे इस देशमें यदि एकान्तवर्त्ती परि· वार न होता, तो दुःख और कष्टकी परिसीमा न रहती। सब परिवारोंकी

एकान्नवर्त्तिता इस देशमें उल्लिखित व्यवस्थाओंके कामको बहुत ही सुन्दर-रूपसे संसाधित कर देती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथगन्नर्त्तिताके कितने शुभ फल और एकान्नवर्त्तिताके कितने शुभ फल हैं। दोनों प्रकारके शुभ फलोंका एकत्र समावेश करना ही अच्छा है। हमारी समझसे यदि विजातीय रीति-नीतिके प्रादुर्भाववश हम लोगोंके जातीय धर्म्म भावकी त्रुटि न हो, तो उल्लिखित दोनों प्रकारके शुभ फलोंका एकत्र समावेश हो सकता है। विशेषतः जब देश इतना दरिद्र है और देशके लोग भी एकान्नवर्त्तिताके पक्षपाती हैं, तब जातीय धर्म्म भावका संरक्षणकर एकान्नवर्त्ती हो रहना ही अच्छा जान पड़ता है। जिस प्रकार से एकान्नवर्त्तिताकी रक्षा की जा सकती है, और उसका अशुभ फल अधिक परिमाणसे उत्पन्न हो नहीं सकता, शुभ फल ही हो सकता है उसका उपाय है।—

(१) सुस्थ शरीर मनुष्यमात्रको कुछ न कुछ उपार्जन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। एक को दूसरेका गलग्रह हो रहना न चाहिए।

(२) अपने लोगोंमें सबसे बड़ेको घरका कर्त्ता मानना और उसके उपदेशके अनुसार ही चलना चाहिये।

(३) चाहे जिसके हाथ उपार्जित हो, वह सब कर्त्ताके हाथ समर्पित होना चाहिये।

(४) कर्त्ताको उचित है, कि (१) सबसे सलाह ले काम करना। (२) खर्च और आमदनीका पूरा पूरा हिसाब रखना। (३) सबके प्रति समदृष्टि रखना।

इन नियमोंके यथायथरूपसे प्रतिपालित होनेसे ही भाई लोग एकान्नवर्त्ती हो स्वधर्ममें रह सकते हैं। किन्तु इस समय जैसा समय है, उससे और भी एक नियम रखना चाहिये। वह नियम यह है,—

(५) पारिवारिक सब खर्च पूरा कर जो बचे, वह आमदनीके हिसाबसे भाइयोंकी अपनी अपनी सम्पत्तिके रूपमें गिना जाय। इसपर हम एक दृष्टान्त देते हैं।—

राम, हरि और कृष्ण तीन भाई थे—रामकी वार्षिक आमदनी ३ हजार, हरिकी चार हज़ार और कृष्णकी दो हजार थी। कुल नौ हजार थी। इसमें घरका वार्षिक खर्च ४ हजार था, सुतरां खर्च काटकर ५ हजार बचता था।

उस पाँच हजार में,—

(१) ९ : ५ : : ३ : $\frac{१५}{९}$ = १$\frac{२}{३}$ हजार रामकी निज सम्पत्ति ।

(२) ९ : ५ : : ४ : $\frac{२०}{९}$ = २$\frac{२}{९}$ हजार हरिकी निज सम्पत्ति ।

(३) ९ : ५ : : २ : $\frac{१०}{९}$ = १$\frac{१}{९}$ हजार कृष्णकी निज सम्पत्ति ।

जिस परिवारमें आर्यधर्म-प्रणालीके प्रति अधिक मर्यादा है, उस परिवारमें उल्लिखित नियमको रख चलनेसे ही सब ठीक रहेगा। उससे एकान्नवर्त्तिताके सभी शुभफल फलेंगे और परवर्त्ती पुरुषोंमें विवाद विसम्वाद कम होगा ।

किन्तु एक बात है। यह धर्म्मवृद्धिकी उपयोगी व्यवस्था है। इसकी पूरी रक्षा कर चलनेसे दूसरे एक विषयमें धर्म्मकी रक्षा कर चलना पड़ता है। किसी भाईको उचित नहीं, कि अपनी आमदनी दूसरेकी अपेक्षा कम रहते अपने परिवार (स्त्री-सन्तानादि) की संख्या संवर्द्धित अथवा अपने खर्चको अधिक बढ़ायें। ऐसा करनेहीसे वह अपना भार दूसरेपर रख गलग्राहिताके दोषसे दूषित होंगे ।

"हमारे इस दरिद्र देशमें किसी मनुष्यको भी सुस्त, अकर्मण्य और उपार्जन में अक्षम होना उचित नहीं।" * * * "परन्तु यदि कोई रुपया कमा न सके तो क्या वह मर जायगा ?" * * * "उसे मरनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु सन्तानादि उत्पन्नकर दूसरेपर बोझ रखनेका उसे अधिकार नहीं।— भिखारीको ब्रह्मचारी बनना चाहिये।" * * * "क्या इसीसे जितने दिनतक नौकरी नहीं मिली, अपने हाथ लकड़ी चीरते और बाहर रहते थे ?" * * * "हो सकता है मनमें कुछ ऐसा ही आ गया था।"

---

४० प्रबन्ध ।

अर्थ-सञ्चय ।

हम लोगोंका देश बड़ाही दरिद्र है। यह इतना दरिद्र है, कि कितनेही लोग मन में इसकी धारणा कर नहीं सकते। "उन्नीसवीं शताब्दी चल रही है" "देश की उन्नति हो रही है"—अङ्गरेज़ों की बार-बार यह बातें सुन कृतविद्यगण तोतेकी तरह इन शब्दों का उच्चारण रट रहे हैं। "उन्नीसवीं शताब्दी भी अङ्गरेज़ोंकी है—उन्नति भी अङ्गरेज़ोंकी है" ! इन सब उक्तियोंसे हमारा

तुम्हारा कोई सम्पर्क नहीं। इतिहास ऐसी बात नहीं कहता, कि हर समय हर जाति ही उन्नति नहीं करती। जैसे उम्र बढ़नेके साथ साथ बालककी देह पुष्ट होती है सही, किन्तु वृद्धोंके लिये ऐसा नहीं। वैसेही अङ्गरेज़ोंकी उन्नति उन्नीसवीं शताब्दीमें होती है, किन्तु हमलोगों की उन्नति नहीं होती। हमारी अवनति ही हो रही है।

समाजकी अवनतिके अनेक चिन्ह हैं *—वे सभी दरिद्रताके सूचक हैं अतएव एक दारिद्र्यको ही अवनतिका लक्षण माना जा सकता है। पण्डितोंने हिसाब कर देखा है,—१८८० ईस्वीमें ब्रिटन द्वीपमें प्रति मनुष्यके हिस्सेकी वार्षिक आमदनी ३३०, फ्रांसमें २६०, पुर्त्तगालमें ८०, तुरस्कमें ४० और भारतवर्षमें २१ रूपये थी। इन सब देशोंमें किसीके लिये कोई ऐसी बात नहीं कहता, कि वह लोग दोनों समय पेटभर भोजन नहीं पाते। भारतवर्षके सम्बन्धमें कहा गया है, कि यहांके पांच करोड़ मनुष्य, अर्थात् समस्त जन संख्याका पांचवां हिस्सा आधे भोजनसे दिन बिताता है।

इस क्षुधुक्षापीड़ित निरन्न देशमें दानधर्म्मका बड़ाही समादर है। यहांके लोग मानो शुष्ककण्ठ चातक पक्षीकी तरह सदा ऊर्ध्वमुख हो बिन्दु पातकी प्रत्याशा किया करते हैं और कदाचित् कहींसे कणामात्र पातेही आनन्दसे कोलाहल कर उठते हैं। इस देशमें दानधर्म्मकी जो इतनी प्रशंसा है, वह बहुत कुछ चातक पक्षीकी सहर्ष कलकल ध्वनि है।

किन्तु सर्व्वत्र ऐसाही नहीं। इस देशके मनुष्योंका प्रगाढ़ धर्म्मभाव भी इस प्रशंसाका बहुत कुछ कारण है। इस देशके लोगोंमें परकालके प्रति श्रद्धा इतनी दृढ़ है, कि वह लोग इहलौकिक कार्य्यकलापको बिलकुलही अकिञ्चित्—कर समझते हैं। पृथिवी तो सदा की वासभूमि नहीं; सांसारिक सुख अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रहता। अतएव पार्थिव विषयके सञ्चय करनेमें वृथा कष्ट पानेकी आवश्यकताही क्या है। यदि किसीको दान करनेकी क्षमता हो, तो वह हाथके सुख और मनके आनन्दसे दान कर ले। लोग यश गायेंगे, परकालमें भी दिव्यगति होगी। यक्षकी तरह रूपयेकी पोटली अगोरकर क्या होगा। आंख मूँदनेपर कोई किसीका नहीं—कहांके पुत्र—कहांके कलत्र।

* जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्म्मणः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयतां॥

तब क्या आर्य्यजातियोंमें पारिवारिक स्नेह ममता अन्यान्य जातियोंसे कम है? यह किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। किन्तु वह स्नेह ममता विचारके दोषसे पूरी तरह कार्य्यकरी होने नहीं पाती। जैसे जीवन बीमा करानेसे किसी किसीकी मितव्ययिता घट जाती है, वैसेही सम्मिलित परिवारमें रहनेसे एक प्रकारसे हमलोगोंका भी जीवन बीमा हो जाया करता है। हम लोग खर्च दबाकर चलना नहीं सीखते। यदि मर जायँ, तो हमारे जो भाई रोजगारी हैं; वह अवश्य ही हमारी कन्याका विवाह और पुत्रोंको शिक्षा तथा हमारे परिवारको रोटी-कपड़ा देंगे। यह भाव कहीं परिस्फुट और कहीं अपरिस्फुट रूपसे हम लोगोंके हृदयमें रहता है। इसीसे कन्या, पुत्र, कलत्रादिके प्रति समूह स्नेह हो कर भी इस देशके लोगोंके लिये सञ्चयशीलताकी अपेक्षा व्ययशीलता ही अधिक प्रशंसाकी वस्तु हो गयी है। सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्थामें स्त्री पुत्रादिके लिये मोटी रोटी और कपड़ेका ठिकाना रहा—शास्त्रके शासनसे स्थूल दृष्टिमें इहलोककी अपेक्षा पर लोकके लिये अधिक आस्था उत्पन्न हो गई—दारिद्र्य प्रपीड़ित समाज लगातार दान धर्म्म के प्रति उत्तेजना करने लगा; इन सब कारणोंसे आर्य्यसन्तान अन्यान्य जाति समूह की अपेक्षा अधिक इन्द्रिय-संयमशील, आसव व्यवहार विवर्जित, शान्त स्वभाव और परिणामदर्शी हो कर भी क्रमशः सञ्चयशीलता गुणको छोड़ रहे हैं। इसीसे दिखाई देता है, कि किसीके बहुत दिनों तक ४।५ सौ रुपये महीना पानेपर भी मर जानेके बाद उनकी स्त्री पुत्रादिके भरण पोषणके लिये चन्देकी किताब घुमानी पड़ती है। इसीसे देखनेमें आता है, कि किसी धनवान् मनुष्यके एक बहुत बड़ा मकान आधा बनवा मर जानेपर उनके लड़के उस मकानके ईंट कबाड़ बेंच खाते-पीते हैं। इसीसे देखनेमें आता है, कि कोई सम्पन्न मनुष्य जैसे ही मरे वैसे ही कर्जके दोषसे उनका घर, स्त्रीके गहने, सामान आदि सभी नीलाम पर चढ़ाये जाते हैं। इसीसे यह प्रशंसा सुनाई देती है, कि फलानेकी इतनी आमदनी थी, किन्तु जमा एक पैसा नहीं। फलाने स्वयं कर्जदार होकर भी दान करते हैं। फलाने जो पाते वही खर्च कर डालते हैं। उनका कहना है, कि लड़कोंके लिये कुछ न रखना ही अच्छा है; धनवान्के पुत्र प्रायः बदचलन होते हैं और निकम्मे निकलते हैं।

हमारे विचारसे अमितव्ययिताकी प्रशंसा समाजके लिये मङ्गलकर नहीं। जो कुछ आमदनी हो, वह सभी खर्च कर देना गृहस्थधर्म्मका अनुकूलाचरण

नहीं और ऐसा करना पारिवारिक प्रणालीका सच्चा तात्पर्य्य नहीं है ।

दान धर्म्मकी प्रशंसासे यदि अमितव्ययिता बढ़ जायँ, तो दान करनेमें सक्षम लोगोंकी संख्या क्रमशः घटती जायँगी । आत्मसंयम, भविष्यदर्शन, उपायोद्भावन आदि अनेक उन्नत शक्तिकी खर्वता हो जायगी । कृपणतामें बहुत दुःख और अनेक दोष होते हैं। किन्तु वह लोग प्रायः संयताचारी, अविलासी और वाङ्निष्ठ होते हैं । दूसरी ओर खर्च करने वाले लोग प्रायः ही विलासी और कितने ही स्थलोंमें अनृताचारी हो पड़ते हैं । जिस समाजमें शक्ति सञ्चारका प्रयोजन है उसमें कृपण लोगोंकी संख्याका बढ़ना अच्छा, खर्च करने वाले लोगोंकी संख्या बढ़ना ठीक नहीं। इस देशके जितने समाजकी बात हम जानते हैं, उनमें मारवाड़ी और जैन समाजकी प्रणाली अच्छी जान पड़ती है । वह लोग सदा बहुत ही दीन—दरिद्रके भावमें रहते हैं । उनकी स्त्रियां भो अपने हाथ घरका सब काम करती हैं । उन लोगोंमें मोटा कपढ़ा पहने, पानीसे भीगने और पैदल चलनेमें करोड़पतियोंका भी अपमान नहीं । वह लोग जिस व्यवसायमें हाथ लगाते, उसीमें सफलता पाते हैं । अनायास ही किसीके कुछ मांगनेपर वह लोग देते भी नहीं । किन्तु कोई ऐसा मारवाड़ी बनिया नहीं, जिसकी सहायतासे और भी दो तीन मारवाड़ी निरन्न दशासे उठ अच्छी अवस्थामें न आये हों । वह लोग दानधर्म्म और सञ्चयशीलता दोनों हीका मिलान समझते हैं । इनके घर लक्ष्मी खानदानी होती हैं । तब भी आजकल दिखाई देता है, कि उन लोगोंमें भी संसर्ग दोषके संक्रामित हो जानेसे किसी किसी मारवाड़ी बनियेका पुत्र विलासी, अमिताचारी और निर्द्धन हो पड़ा है ।

यह बातें सभी देशके विज्ञ लोग कह गये हैं, कि गृहस्थको कुछ न कुछ सञ्चय करना चाहिये । अङ्गरेज दार्शनिक बेकनने कहा है, कि जितनी आमदनी हो, उसका आधा जमा करना चाहिये । अङ्गरेज जाति बहुतही उन्नतिशील है । उनके प्राचीन दार्शनिक लोग जो विधि बना गये हैं, उसकी अपेक्षा आजकलके अङ्गरेजोंने उसे बहुत बढ़ाया है । इस देशके मजिस्ट्रेट या कमिशनर आदि कोई कोई अङ्गरेज ऐसे सञ्चयशील हैं, कि वह अपनी मासिक तनखाह दो तीन हजार रुपयोंमें से एक सौ, डेढ़ सौ वा बहुत जोर लगाया, तो केवल दो सौ खर्च करते हैं । हम अपने देशवालोंको इतना बचानेके लिये नहीं कहते । हम अपने देशवासियोंसे कहते हैं, कि तुम्हारे शास्त्रने जो कहा है,

उस राहपर चलना ही तुम्हारे लिये यथेष्ट होगा । शास्त्रने कहा है *, भविष्यत् कालके लिये आमदनीसे एक चौथाई रखना, आधेमें नित्यनैमित्तिक क्रिया कलाप करना, और एक आना ऋण दे उसका सूद बढ़ाना। भगवान् मनुने कहा है, कि तीन वर्षके खर्चके योग्य अथवा एक वर्षके योग्य, तीन दिनके योग्य, अन्ततः एक दिनके योग्य धान्य जमा करना चाहिये । † वास्तवमें सब लोगोंके लिये समानभावसे सञ्चय करना सम्भव नहीं। जिस मनुष्यकी आमदनी प्रति पलमें दस रुपये हैं उसका प्रति पलमें पाँच रुपया खर्च नहीं होता । उसका आधेसे अधिक जमा होता है । जिन कमिश्नर साहबका वेतन तीस दिनमें तीन हजार और दैनिक आमदनी १००) रुपये हैं, उनका अधिकसे अधिक खर्च दैनिक छ सात रुपये हो सकता है; सुतरां आधेसे अधिक जमा होता है। किन्तु एक मुन्सिफ, डिपटी या माष्टर, जिनकी तनखाह तीन सौ रुपये हैं, उनके कच्चे-बच्चे इतने हैं, और उनपर जातिभाइयोंका इतना भार है, तथा उनके खाने और घरका खर्च इतना है, कि किसी प्रकार तीन सौमें दो सौ खर्च किये बिना किसी तरह काम चला नहीं सकते । २०-२५ रुपये महीनेके अमले, मुहर्रिर या मास्टर अपने परिजनमें रोटी और मोटा कपड़ा जुटानेमें ही व्यग्र हैं, वह इतनी सामान्य आमदनीसे आधा या चौथाई भी कैसे बचायेंगे ? इसके बाद दूकानदार और कारीगर। इनकी आमदनी १०।१५ रुपये है, उससे वह घर खर्च कर कितना बचायेंगे ? और जो मजदूर हैं, उनकी तो एक दिन की आमदनी एक दिन भी पूरी नहीं पड़ती। अतएव जितनी आमदनी हो, उसका आधा या तिहाई अथवा चौथाई बचाने का जो उपदेश है, वह सब लोगोंके लिये सुविधा जनक नहीं। इसी से जान पड़ता है, कि मनुसंहितामें ऐसा कोई नियम बांधा नहीं गया । कोई तीन वर्षके लिये जमा करे, कोई एक दिनके लिये ही जमा करे। हम भी ऐसा ही कहते हैं—सब को ही कुछ न कुछ सञ्चय करना चाहिये । जो रोज

* पादेन तस्य पारक्यं कुर्यात् सञ्चयमात्मवान् ।
अर्द्धेन चात्मभरणं नित्यनैमित्तिकं तथा ॥
पादस्यार्द्धार्द्धमर्थस्य मूलभूतं विवर्द्धयेत् ।
एवमारभतः पुंसश्चार्थः साफल्यमृच्छति ॥

† कुशूलधान्यको वास्यात् कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥

कमाते, वह रोज कुछ न कुछ सञ्चय करे; जो महीना पाते, वह महीनेमें सञ्चय करें; जो वार्षिक पाते, वह वर्षमें सञ्चय करें। किन्तु कुछ न कुछ सञ्चय सबको ही करना चाहिये। और एक यह नियम है, कि खर्च के पूर्व-भाग से सञ्चय करना चाहिये। खर्चके अन्तिम भागसे नहीं। समझ लो कि आज तुमने मजदूरीमें दो सेर चावल पाया है, उसमें तुम कुछ भी रख नहीं सकते, रसोई बनानेसे सभी चावल खर्च हो जायगा। तब भी तुम एक मुट्ठी चावल गगरीमें रख दो, बाकी चावल बना डालो। तुम महीनेमें दस रुपये पाते हो, इससे तुम्हारा खर्च पूरा नहीं पड़ता। तब भी तुम दो आने पैसे किसी महाजनके पास या सेविङ्ग बंकमें रख दो; बाकीसे अपना खर्च चलाओ। इस प्रकार जो रखना हो, उसे पहले ही रख दो। और एक नियम है। जो जमा हो गया, जहां तक हो सके उसे तोड़कर खर्च न करो। जमा रुपयेको कभी अपना रुपया न समझो। वास्तवमें उसपर किसीका निजस्व नहीं। जो तुम रोजगार करते हो, उसमें तुम्हारे परिजनका अंश है, तुम जो जमा करते हो, उसमें भी उन लोगोका अंश है। तुम जमा धनमें से यदि पारिवारिक विशेष प्रयोजनके अतिरिक्त अलग खर्च कर डालोगे, तो कुछ पर-स्वापहारी बनोगे। इस लिये धर्म्मशील मनुष्यकी आंखोंमें सम्मिलित परिवार की अवस्था अमितव्ययिताके प्रतिकूल रूपमें ही जान पड़ती है।

सञ्चयशीलता बढ़ानेके अर्थ गृहस्थ लोगोंके लिये निम्नवर्त्ती कई एक नियम यत्न पूर्व्वक पालनीय हैं।

(१) सबकोही कुछ सञ्चय करना चाहिये।

(२) खर्चसे पहले जमा करना चाहिये, खर्चके बाद नहीं।

(३) जमासे सहजही खर्च करना न चाहिये।

(४) जिसकी आवश्यकता नहीं, वैसी कोई वस्तु खरीदना न चाहिये।

(५) जो खरीदना, वह नकद दाम देकर, उधार न लेना चाहिये।

(६) आमदनी और खर्चका हिसाब अपने हाथही रखना चाहिये।

---

४१ प्रबन्ध ।

पहचान न सके ।

हमारे साथ पढ़नेवालोंमें कोई कोई किसी किसी विषय को अधिक याद रख सकते थे । राजाराम जिस इतिहासको एकबार पढ़ते उसकी वर्णित घटनावलीकी सभी तारीखें उन्हें याद रहतीं । मधुसूदन जो पुस्तक पढ़ते, उसके अच्छे अच्छे पदोंको कभी न भूलते । बङ्कविहारी जो पढ़ते, उसका एक चित्र अपने हृदय पर खींच रखते । वह अच्छी तरह बता सकते थे, कि पुस्तकमें कौन विषय कहां है और यह भी वह वर्णन करते थे, कि किस प्रकार कौन घटना संघटित हुई थी । ऐसा देख हम समझते, कि जिसकी जिस ओर अभिरुचि होती, उसकी स्मृति-शक्ति उस ओर विशेष कार्य्यकारिणी होती । अब भी हम ऐसा ही समझते हैं, किन्तु कुछ भिन्न रूपसे । इस समय ऐसा भी कारण दिखाई देता जान पड़ता है, कि किसलिये विभिन्न मनुष्योंकी विभिन्न विषयमें अभिरुचि होती है । इस समय हम समझ गये हैं, कि चिन्तन और मननादि क्रियाका कर्त्ता चाहे जो हो, उसका कारण मस्तिष्क है । मस्तिष्कमूलसे स्नायुरूप शाखा निर्गत हो विभिन्न इन्द्रिय रूप पत्र पुष्पमें परिणत होती है । स्नायुरूप शाखा जैसी पुष्ट और सबल होती है, उसके सीमान्त देशमें विकसित पुष्प पत्ररूपी इन्द्रियां भी वैसी ही पुष्ट और सबल होती हैं । पक्षान्तरमें प्रबल इन्द्रियोंकी परिचालनासे जैसे सुखका अनुभव होता है, दुर्बल इन्द्रियोंकी परिचालनासे वैसा सुख जान नहीं पड़ता । इसलिये जिसकी जो इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय की अवलम्बनरूप स्नायु प्रबल है, उसके उस स्थानके काममें सुखका अधिक अनुभव है और उसमें ही अभिरुचि होती है । जिसकी श्रवण स्नायु अच्छी है, शब्द उसके मस्तिष्कमें पहुँच विशेष सुखकर व्यापार उत्पन्न करते हैं । जिस की दर्शन स्नायु अच्छी है, उसकी आंखोंमें देखी हुई वस्तु का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, मस्तिष्कमें उसका प्रतिबिम्बजात कार्य्य विशेष सुख का हेतु होता है । सब इन्द्रियोंके लिये ही ऐसा है । स्नायु शाखा की पुष्टताके तारतम्य का कारण है । यह कारण अधिक परिमाणसे पैतृक और कुछ शिक्षा का है । जिसके पिता का श्रवण स्नायु अच्छा नहीं, उसके स्वयं भी उस स्नायुके अच्छे न होने की सम्भावना है । किन्तु यदि वह स्नायुकी विशेष पर्य्या-

लोचना करें अर्थात् सङ्गीत विद्यादि सीखें, तो पैतृक दोष सुधर सकता है। या उनका पुत्र उनकी अपेक्षा सबल श्रवण स्नायु लेकर जन्म ले सकता है। फलतः इस विषयमें 'प्रारब्ध' और "पुरुषार्थ" की मर्य्यादा निर्णीत हुई है और शिक्षा का फल चिरस्थायी हो सकता है, ऐसा प्रकट होनेसे उत्कर्ष लाभ का पथ भी उन्मुक्त हो जाता है।

ये बातें यहीं तक रहें। सब लोगों की सब इन्द्रियां और इन्द्रियस्नायु समान सबल नहीं होतीं। एक मनुष्य की भी सब इन्द्रियां और उनकी मूल स्नायु समान नहीं होती। इसलिये भिन्न भिन्न मनुष्यों की विभिन्न विषयोंमें अभिरुचि और एक मनुष्य की भी एक विषयमें जैसी अभिरुचि होती, वैसी दूसरे की नहीं। किन्तु ऐसा ही नहीं, कि इन सब कारणोंसे अभिरुचिका ही भेद होता है। इससे मस्तिष्क शक्ति का भी यथेष्ट तारतम्म होता है। मस्तिष्क शक्ति का नाम ही स्मृति है। इसलिये देखा जाता है, कि कोई कोई किसी किसी विषय को अधिक या कम याद रख सकते हैं।

चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियोंके सम्मिलित कार्य द्वारा द्रव्यकी आकृति जानी जाती है। फिर केवल आँखों द्वारा भी ऐसा ही होता है। चक्षुस्नायुके मूलमें जो मस्तिष्कका भाग है, उसके द्वारा ही आकृतिकी संस्मृति हुआ करती है ऐसा समझ सकते हैं। चक्षु, चक्षुस्नायु अथवा उस स्नायुके मूलमें स्थित मस्तिष्क भाग, इनमें एक या दोनोंमें या सबमें दौर्बल्यका कोई हेतु रहनेसे द्रव्यकी आकृति सहजही ग्रहण की जा नहीं सकती। यदि आकृति ग्रहण हो भी तो उसकी धारणा वैसी दृढ़ नहीं होती।

हमारे शरीरमें वैसा कोई दोष है मालुम पड़ता है। हम नहीं कह सकते, कि हमें द्रव्यकी आकृति धारणा में उतना विलम्ब होता है या नहीं; किन्तु हममें आकृतिकी स्मरणशक्ति बहुत कम है। बचपनमें यदि किसी नई राहसे कोई हमें ले जाता, तो हम उस राहको पहचान कर न लौट सकते। कितनीही बार द्रव्य देखकर भी हम उसके आकार-प्रकारको भूल जाते थे, किन्तु उसका नाम और उस सम्बन्धकी कोई बात सुननेसे वह हमें अच्छी तरह याद हो जाता था। हमें याद आता है, कि पाँच छः वर्ष की उम्रके समय हमारे पिता हमें ले एक बागमें जाया करते थे; भिन्न भिन्न वृक्ष और उसके पत्ते फूल फल दिखा वह हमें उसका नाम बताया करते। जिस नामको हम एक बार सुनते, वह हमारे मनमेंही रहता था; किन्तु यदि दो प्रकारके वृक्ष और फल एकही

प्रकारके होते, तो हम ठीक ठीक नाम बता न सकते थे; इसमें प्रायः भूल होती थी ।

उम्र बढ़नेके साथ साथ बहुत कुछ वह दोष मिट गया । अब वैसी मोटी बातोंमें भूल हुआ नहीं करती । किन्तु तब भी अनेक समय भूल होती है, इससे बहुतही अप्रतिभ होना पड़ता है । * * "तुमने मकरसे एक भी बात न की । तुम्हारे न बोलनेसे वह खफा हो उठ गया ।" * * "वह जो बैठा था, वह मकर था ?" * * "नहीं तो और कौन था ? उस दिन तुमने उससे इतनी बातें कीं, आज एक बारगीही पहचान न सके—उसे बड़ा दुःख हुआ होगा ।" * * * "लड़केको चित्र खींचना क्यों सिखाते हो ?" किसी आत्मीयसे ऐसी बात पूछनेपर मैंने कहा था,—"अपनेमें आकृतिके ग्रहण करनेकी व धारणाकी शक्ति कम है । लड़कोंमें यह दोष न आने देनेके लिये उसे दो तीन वर्ष चित्र खींचना सिखायेंगे ।" "हम नहीं समझते कि तुम्हारी आकृति ग्रहण और धारणाशक्ति कम है । तुम कितनेही स्थानोंमें घूमते हो, कितनेही लोगोंसे मेल मुलाकात रखते हो—कभी किसीने कहा, कि तुम उन्हें पहचान न सके ? आकृति ग्रहण और स्मृतिके कम होनेसे अवश्यही ऐसी बातें सुनाई देतीं ।" "हम प्रायः आदमीको पहचान नहीं सकते; किन्तु उस विषमताको दूर करनेके लिये हमने एक उपाय निकाला है । जहाँ जिसके साथ मुलाकात होती, उसे हम एक कापीमें नामादि और स्थान सहित लिख लेते हैं । फिर वहां जानेसे पहले हम कापी देख नामादि याद कर लेते हैं । तुम्हारे आनेसे पहले यहां जो जो लोग आये, उन सब लोगोंका नाम हमने लिख रखा था । इसलिये भवानी बाबू व श्री-नाथ बाबूके आने पर ठीक ठीक बात चीत कर सका ।" "तब दिखाई देता है, कि लोग जो यह कह अभिमान करते हैं, कि वह मुझे पहचान न सके, यह बड़े ही अन्यायका अभिमान है ।" "कुछ अन्याय है ही, इसमें सन्देह नहीं, हमारे सम्बन्धमें यह बड़ा ही अन्याय है । इसमें भी सन्देह नहीं, कि हमारे जैसे आँख रहते अन्धे भी बहुत हैं । उस दिन एक साहबने हमारे पुत्रको उलहना दिया कि अमुक स्थानमें मुलाकात होनेसे तुम्हारे बाप हमें पहचान न सके ।' "तुम इतने सावधान होकर भी 'पहचान न सके', इस अभिमानसे निस्तार न पा सके ।' * * * "बहुत कुछ पा सके हैं ।"

---

४२ प्रबन्ध।

घरमें मृत्यु-घटना।

संसारमें रहनेसे कभी न कभी मृत्यु घटना देखनी ही पड़ती है। सुहृद-वियोगकी यन्त्रणा सहनी ही पड़ती है। ऐसी दुर्घटना अनिवार्य्य है। इस दुःखके घटानेका एकमात्र उपाय है; समय बिताना।

हमारे अदृष्टमें इस दुर्घटनाका योग कई बार हुआ है। हमने अपघात-से स्वजनकी मृत्यु घटना देखी है। हमने चिकित्साके दोषसे भी प्रीतिभाजन-को खोया है। हमने अचिकित्स्य व्याधिकी पीड़ासे प्रियजनके वियोगदुःखको भोगा है। अपने किसी किसी सुहृद्को क्रमशः हीनशक्ति हो पञ्चतत्त्वमें मिलते देख सदा मनस्तापसे दग्ध हुए हैं। हमने अपने प्रियतमको एकाएक रोगाक्रान्त हो एक बारगी ही गायब होते देखा और वज्राहतकी तरह चेतना शून्य भी हुए। अपने मना करते रहने पर भी परिवारकी लापरवाही-से हमने बच्चोंको पीड़ित और विनष्ट होते देख भीतर ही भीतर जले हैं। हम बहुत दिन बचे हैं—मृत्युको हमने अनेक रूपमें देखा।

किन्तु उन सब दुर्घटनाओंका वर्णन कर हमारी किसीको दुःख देनेकी इच्छा नहीं। संसाराश्रममें रह जब कोई स्त्री-पुरुष यमकी यन्त्रणासे निपी-डित हों, तब उस समय उनके लिये हम कुछ उपदेश प्रदान करते हैं। (१)वह अपनी दुःखकी अवस्थामें अपने परिचित अन्याान्य स्त्री-पुरुषोंमें जो उस प्रकारकी यातना पा चुके हैं, उनको याद करें। (२) जो दुर्घटना हुई है, उससे यदि अपनी अपेक्षा अधिक अथवा समान परिणामसे कोई परितप्त हुआ हो, तो उसे धैर्य्य देनेके काममें लगना चाहिये, इससे अपना दुःख कम होगा और शास्त्रके आदेशका भी पालन होगा। (३) पुत्रशोकसे गर्भधारिणी माता या पिताको जो दुःख होता है, पत्नी वियोगसे पुत्र कन्याओंको जो दुःख और निरा-श्रयता होती है, मातृवियोगसे पिताको कष्ट और बन्धु वियोगसे बन्धु और परि-वारवर्गकी कातरता—इन सब दुःखोंके प्रति लक्ष्यकर यथासाध्य उन सब दुःखोंसे सहानुभूति प्रकट करना चाहिये। ऐसा करनेसे जिसकी वियोग यन्त्र-णासे पीड़ित होते हैं; उसके ही प्रतिनिधित्वको प्राप्त करेंगे। (४) अपने दुःखके प्रति अधिक मन लगानेसे कर्त्तव्यसाधन नहीं होता। इससे दुःखका भार बढ़ता, अस्थिर और अधीर होना पड़ता, अयौक्तिक, अधर्म्म और अशास्त्रीय अकार्य हो जानेकी सम्भावना बन जाती है।

---

४३ प्रबन्ध।

चिकित्सा कराना।

हमारे घर जो डाक्टर आते, वह सभी अनुग्रह कर हमसे सलाह ले औषध की व्यवस्था करते थे। ऐसा होने का मूल कारण यह था, कि घरके सब लोगों की स्वास्थ्यरक्षा का यत्न करना हम अपना कर्त्तव्य समझते थे। डाक्टर को हम अपना प्रतिनिधि समझते थे। ऐसा विचार कर चलनेसे घर में किसीके बीमार होनेसे हमें अपनी आँखों उसके शरीर की अवस्था देखना पड़ती थी, अपने हाथ उसकी कुछ सेवा शुश्रूषा भी करनी पड़ती थी। सुतरां बीमारीके भाव और गति को मन लगा समझने का प्रयोजन और सुयोग होता था। डाक्टर लोग भी समझ गये थे, कि हमसे पूछ वह पीड़ाके प्रकृत लक्षण को अनायास ही समझ सकेंगे। इसलिये हमारे घरके चिकित्सक डाक्टर लोग हमारी सलाह लेना उचित समझते थे।

किसी समय हमारे घरके चिकित्सक किसी कारणसे दूसरे स्थान में चले गये थे। एक बालक को बहुत ही कठिन ज्वर बिकार रोग उपस्थित हुआ। लाचार एक अङ्गरेज डाक्टर को बुलाना पड़ा। उन्होंने आ लड़के को देखा और औषध का व्यबस्था-पत्र लिख दिया। हमें अभ्यास था कि डाक्टर से पीड़ाकी व्यवस्था और औषधके प्रयोग का फल पूछना। उसी अभ्याससे हमने उनसे भी पूछा। पूछा, कि असली रोग क्या और जिस औषधकी व्यवस्था हुई है, उसका फल क्या होगा। अङ्गरेज पहले कुछ अवज्ञासूचक हँसी हँसे; इसके बाद उन्होंने हमारे मुखपर विशिष्ट कष्टका लक्षण देख या चाहे जिस कारणसे हो, कुछ कोमल स्वरसे कहा, "फिर कहूंगा।"

डाक्टर साहब चले गये। हमने उनके दिये व्यवस्थापत्र को दवाखानेमें भेज दवा मँगवाई। पहले औषधकी एक मात्रा हमने पीली; कुछ देरके बाद औषधकी आधी मात्रा लड़केको पिलायी। सन्ध्या समय डाक्टर साहब आये। रोगी की नाड़ी देख उन्होंने घड़ी निकाली; इसके बाद उन्होंने फिर नाड़ी देखी। तब सिर उठा पूछा, कि उसे कितने दस्त आये। मैंने कहा पांच बार। "पांच बार!!! क्या हरेक बार अधिक हुआ था?" "कुल दो सेर एक छटांक हुआ"। "दो सेर एक छटांक, तुमने ठीक ठीक वजन कैसे मालूम किया?" "मैंने तौला था—वह जो तसला दिखाई देता है, उसीमें पाखाना फिरा मैंने तौल कर

देखा था।" डाक्टर साहब कुछ गम्भीर मुख हुए। रोगीके घरसे बाहर निकल उन्होंने कहा,—"दस्त होनेसे कोई खराबी नहीं हुई,, बहुत कुछ विकार बाहर निकल गया। अब दूसरी दवा दी जायगी।" * * * 'क्या इससे अधिक दस्त आनेसे और अच्छा होता ?" * * * " इतनेहीसे रोगी अधिक दुर्व्वल होगया है, और अधिक होनेका प्रयोजन नहीं।" * * * "तब जो हमने पूरी खुराक दवा न दे आधी खुराक दी, वह अच्छा किया।' * * * "क्या कहा ?" * * * "इस दवाकी शीशी देखिये। हमने चार बार औषधि खिलाई है; किन्तु शीशीसे कुल तीन खुराक कम हुआ है। इस तीन खुराकमें एक खुराक मैंने खाई और दो खुराकमें आधा आधा कर चार बार लड़केको खिलाई।" * * * "तुमने स्वयं दवा क्यों पी ?" * * * "औषधिकी ताकत देखनेके लिये।" * * * "कैसी ताकत देखी ?" * * * "आधे घण्टेमें मुझे जुलाब हुआ, जोरसे दस्त आया और शरीरमें पसीना आगया। अपनी शरीर पर इतनी ताकत देख हमने बच्चेको आधी दवा दी।" डाक्टर साहब सिर नीचा कर कुछ देर चुप रह गये, हमने फिर कहा,—"मेरी स्त्री सारे दिन बालकके पास ही थी। उन्होंने कहा, कि बालकको छः घण्टेमें आठ बार खांसी आई। क्या उसका फेफड़ा कुछ खराब हो गया है ?" डाक्टर साहबने कहा, "ऐसा ज्वर चाहे एकही बार क्यों न हो, किन्तु वह क्रम क्रमसे प्रायः सभी अङ्ग पर कुछ न कुछ आक्रमण करता है; किन्तु घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं अबसे मैं जिस औषधिकी व्यवस्था करूंगा, उसका फल आपसे पहले ही कह जाऊंगा।" डाक्टर साहब जिस समय यह सब बातें कह रहे थे, उसी समय हमारे घरके डाक्टर आ उपस्थित हुए। उन्होंने यह बातें सुन कहा,—" मैं ऐसाही किया करता हू। वह अपनी आंखों सब देखा करते हैं। अपने हाथ रोगीको औषधि देते हैं और सेवा करते हैं; इनसे सलाह ले इनके घर चिकित्सा करनेमें विशेष सुविधा होती है। विशेषतः अपनी राय दे बहादुरी दिखाना नहीं चाहते। उनकी यह इच्छा रहती कि चिकित्सक समझें, हमने जो जो देखा है, वह सब सुनें, इसके बाद व्यवस्था करें। फिर यह भी बता दें, कि व्यवस्थाका फल कैसा होगा! ऐसे मनुष्यसे अवश्य सलाह लेनी चाहिये।" डाक्टर साहबने कहा.—"मैंने आज तक अङ्गरेज या हिन्दुस्तानी रोगीकी सेवाका इतना यत्न नहीं देखा। तुमने जैसा कहा, यहाँ ऐसाही काम करना चाहिये।" यह कह डाक्टरसाहब जोरसे

हाथ मिला चले गये । जबतक वह जीते रहे, तबतक हमपर उनकी अनुकूल दृष्टि रही ।

---

४४ प्रबन्ध ।

रोगीकी सेवा ।

जिस घरमें रोगीकी सेवा अच्छी नहीं होती, वह घर अच्छा नहीं । उस घर में स्नेह और ममता कम है । स्वार्थपरता अधिक है । आत्मत्यागकी शक्ति कम है । विलासिता अधिक है । उस घरके स्त्री पुरुष सहज ही धर्म्मपथसे भ्रष्ट हो पड़ते हैं । वह लोग उन्नतजीवनके अधिकारी हो नहीं सकते ।

जिस घरमें रोगीकी सेवा अच्छी होती, उस घरमें कई विशेष लक्षण हैं; उनमें हम कई एक लिखते हैं ।—

(१) उस घरके सामानोंमें ऐसे कितने ही द्रव्य दिखाई देते हैं, जो रोगीके लिये विशेष उपकारी और प्रयोजनीय हैं । जैसे जल गरम करनेका केटल, फ्लानेल और मलमलके टुकड़े, खल बत्ता, हमामदस्ता, मेझर ग्लास, गरमजलमें न फटनेवाली बोतल, अच्छी निकी, सोणी, बेडप्यान क्लिनिकल, थर्म्मामीटर और औषधिका बक्स या अलमारी ।

(२) उस घरमें स्त्री या पुरुष किसीके बीमार होते ही, चाहे वह कितनी ही सामान्य बीमारी क्यों न हो, घरके मालिक उसी समय समाचार पाते हैं ।

(३) उस घरमें यदि कोई कठिन बीमारी उपस्थित हो, तो घरके लड़के तक उसके लिये विशिष्ट रूपसे आज्ञा पाते हैं ।

(४) अधिक पीड़ासे घरके सब लोग शान्तभाव धारण करते; कोई किसीसे कलहमें प्रवृत्त नहीं होता । कोई ऊँचे स्वरसे बातें नहीं करता । घरके विद्वान् लोग भी साहबी चालसे चर्रमर्र करते नहीं चलते । लड़के भी धीरे धीरे पैर रखते चलते हैं ।

(५) रोगीके समीप रहनेके लिये पहरा बदलनेकी तरह दिन रातमें पारिवारिक स्त्रियां और पुरुषों का पहरा बदला करता है । जो सेवामें नियुक्त होते, उनके काम को घरके लोग आपसमें बांट लेते हैं । घर का सब काम ठीक तरहसे चलता रहता है । बासनकी ठनक, घरके सामानों की ठनक कुछ भी सुनाई नहीं देती ।

(६) रोगीको पथ्य और औषध यथासमय दिया जाता है। शीघ्रता भी नहीं और विलम्ब भी नहीं। कुछ भी विपर्य्यय नहीं। घरके कितनेही लोग रोगीको पथ्यादि देनेमें सक्षम होते हैं।

(७) रोगका लक्षण देखना और चिकित्सकको उससे अवगत करना, परिवारके कितने ही लोगोंके लिये साध्य होजाता है।

(८) रोगीकी चिकित्सामें कम खर्चका नाम भी नहीं रहता है।

इसका हम कोई अन्दाज कर न सके, कि रोगीकी सेवा कहांतक करनी चाहिये। इस विषयमें हमारे परिवारका गुण हमारी आंखोंमें अपरिसीम जान पड़ा है। उस समय समस्त परिवारका रुपया और मन एक हो जाता है। हमने अपनी आंखों अङ्गरेजोंकी बीमारीमें उनके घरकी सेवा और चिकित्सा देखी है। पीड़ित मनुष्यकी स्त्री यदि थोड़ी रात भी जागी और ठीक समय पर हाजिरीका खाना न खा सकी, तो उनकी बड़ी प्रशंसा होती है। बीमारके भाई यदि उनके घर आये और नोकरोंसे दो तीन बार पूछ गये, कि भाई कैसे हैं, अवसरके साथ उन्होंने बीमारीके सम्बन्धमें दो एक बातें कर लीं, तो उन्होंने भाईका कर्त्तव्य पूरा कर लिया। मित्र अङ्गरेज यदि घरके दरवाजेपर आ अपने नामका कार्ड रख गये, तो वह सामाजिक नियमसे छुटकारा पा गये। इस विदेशमें अङ्गरेजोंकी बीमारीके समय वेतनभोगी खानसामा आदि द्वारा जो सेवा होती है, वही होती है। इन लोगोंके स्वदेशमें भी परिवार वर्गको बहुत कुछ करना नहीं पड़ता। वेतन ग्राहिणी धात्री अथवा दयावती उदासिनीगण इनके रोगोंकी सेवा करती हैं।

यहां हम और एक बात कह रखते हैं। अस्तबलमें यदि एक घोड़ा बीमार हो जाय, तो अस्तबल के सब घोड़े भाग जाने की चेष्टा करते हैं। गोशाले में एक गोके बीमार होने पर दूसरी गो उसे देखते ही पूंछ उठा भागना चाहती है, कुत्ते, बिल्ली, बकरी, भेड़, मयना, सुग्गा, आदि सभी पशुपक्षियों का ऐसा ही हाल है। प्रायः कोई अपने जातिके पीड़ितके पास जा उसके शरीर को झाड़ने या चाटने की चेष्टा नहीं करते। अतएव पीड़ितकी शुश्रूषा पाशव धर्मका विपरीत कार्य्य है। जिस मनुष्य जातिमें पाशवभाव कम है, वह जातीय मनुष्य पीड़ित की सेवा में उतना ही अधिक यत्नशील होता है। अतएव रोगी की सेवाके लिये अंगरेजी रीति हमलोगोंके योग्य नहीं।

यदि रोगीकी सेवाकी कोई सीमा होती, तो वह सीमा बाहरसे निर्दिष्ट

होनेकी नहीं। वह सीमा सेवा के उद्देश्यसे ही पाई जाती है। सेवाका उद्देश्य है रोगी को रोगसे छुड़ाना। रोगी के मन में भयका संचार होनेसे रोगमुक्तिकी चेष्टा विफल होती है। इसलिये इस भावसे सेवा करनी चाहिये जिससे रोगी समझ न सके, कि उसके लिये परिवार बहुत ही भीत हुआ है। तुम स्त्री, पुत्र, या भाई हो, तुम रोगीकी सेवामें नियुक्त हो, तुम्हारे भोजनका समय आया, इस अवसरमें जो रोगीके घरमें बैठेगा, वह आया। तुम्हें भोजन करनेका अवसर मिला। किन्तु तुम जाना नहीं चाहते। इससे रोगी क्या समझेगा, क्या वह नहीं समझेगा, कि तुम उसकी बीमारीसे बहुत डर गये हो? फिर यह समझ क्या वह भी भीत न होगा? अतएव तुम ऐसा न करो। धैर्य्यावलम्बनकर भोजन करने जाओ। तुम माँ हो, बच्चा बीमार हो तुम्हारी गोदमें सोया है—तुम रात दिन उसके मलिन मुखमण्डलको ओर एक दृष्टिसे देख रही हो। खाने भी नहीं जातीं, सोना भी नहीं चाहती, एक बारगी ही अपना शरीर गला रही हो। यदि बच्चा तुम्हारा दूध पिये, तो तुम्हारा शोक-विह्वल हृदय-शोणित दूषित हो रहा है, तुम्हारा जो दूध उसके लिये सबसे अच्छा पथ्य है, वह विषवत् बन रहा है। इससे तुम अधीरा हो शिशुका कोई उपकार कर नहीं रही हो, उसे दूषित स्तनसे विष पिला साक्षात् उसकी वधभागिनी बन रही हो। फिर समझ लो, कि वह दूधका बच्चा नहीं; तुम्हारा रोना, हाहुताश, उपवास और अनिद्राके असली वजहको समझनेमें समर्थ है। तब तो वह बड़ा भीत होगा। किन्तु ऐसा काम करना न चाहिये, जिससे रोगी भीत हो। अतएव धैर्य्यावलम्बन करो, अपने शरीरको ठीक रखो, बच्चेका सबसे अच्छा पथ्य न नष्ट करो। इसीसे प्राचीन गृहिणीगण कहती हैं,-
"बीमार लड़केको गोदमें ले आँसू गिराना अशकुन है।"

तब क्या रोगीके आगे हँसी खेल विद्रूपादि कर यह दिखाना चाहिये, कि हम उसके रोगसे भीत नहीं। बल्कि ऐसा करना अच्छा, तब भी अधीर और भयविह्वल होना अच्छा नहीं। किन्तु ऐसे बनावटी व्यवहारोंमें भी बहुत दोष हैं। जो बनावटी और मिथ्या है उसका फल कभी उत्तम नहीं होता। रोगी उस बनावटसे नाराज होता है। अथवा यदि नाराज न हो, तो तुम्हें निर्मम और हृदय-शून्य समझेगा। अथवा स्वयं हँसी-खेलमें पड़ अपनी नाड़ीको चञ्चल और स्नायुमण्डलको विलोडित कर डालेगा। अतएव ऐसी बनावट भी बुरी है।

रोगीका सेवक सदा रोगीके प्रति तन्मनस्क हो रहे। उसे जो कष्ट हो रहा हो, वह विना उसके कहे और विना इशारेके समझना चाहिये तथा उस कष्टके दूर करनेका जो उपाय हो, उसे उसी समय करना चाहिये। किसी प्रकार व्यस्तताका लक्षण दिखाना न चाहिये। स्वयं धीर, शान्तमूर्त्ति हो पीड़ितरूप देवताकी पूजा करनी चाहिये।

पीड़ितके सेवक और देवताके साधकमें बहुत कुछ सादृश्य है। साधकको स्थिरासन हो बैठना पड़ता है। चुलबुले लोग, जो सदा कभी एक बगल बैठते कभी दूसरी बगल, एक तरहसे बैठ नहीं सकते, वे अच्छे सेवक नहीं कहाते। साधकको निश्चल-दृष्टि होना पड़ता है। उनके हृदयमें ध्यानगम्य इष्ट मूर्त्ति सदा जागती रहती है। सेवकको भी पीड़ितकी पहली मूर्त्ति और पहले भावोंको अच्छी तरह याद रखना चाहिये। ऐसा होनेसे व्याधिजनित लक्षण विपर्य्यय उनकी समझमें आता है। साधकके लिये तन्मनस्क होना बहुत ही आवश्यक है। सेवकको भी पीड़ितके प्रति तन्ममस्क हो रहना चाहिये। ऐसा न होनेसे वह समझ न सकेंगे, कि उसे किस समय किस वस्तुकी आवश्यकता हुई, रोगीको बातोंसे या इशारोंसे अपना प्रयोजन प्रकट करना पड़ेगा, रोगी मनुष्य वैसा कर भी नहीं सकते और करना चाहते भी नहीं; यदि करना पड़े तो असन्तुष्ट और दुःखी होते हैं। जिन सेवक या सेविकामें साधकके ये सब गुण मौजूद हैं, उसके रोगीके घरमें जाते ही रोगीको प्रसन्नता होती है। वह घरमें आते ही समझ जाते हैं, कि थोड़ा जल चाहिये, दो चार मुनक्का चाहिये, शरीरका चद्दरा थोड़ा पैतानेकी ओर खींच देना चाहिये, तकिया कुछ ऊँची कर देना चाहिये, फूलोंको बटोर कुछ दूर वा समीप रखना चाहिये, शीतल हाथ कपाल पर लगाना चाहिये, थोड़ा दबा हलका हाथ रखना चाहिये इत्यादि इत्यादि। वह धीरे धीरे स्वयं सब काम करने लगते हैं। इससे बीमारके चेहरे पर मृदुहासकी आभा झलकने लगती है। वह सेवासे कृतार्थ होजाता है।

परिजन गण उल्लिखित भावसे रोगीकी सेवा करें। गृहस्वामी सबको सतर्क कर दे, कि बीमारका बिछौना, तकिया, वस्त्रादि घरके किसी मनुष्यके वस्त्रादिसे मिलाया न जाय। उसका मल, मूत्र, क्लेदादि घरसे अधिक दूर फेंका जाय और वह स्थान साफ रखा जाय। उसके व्यवहारमें आनेवाले बरतन घरके और सब बरतनोंसे अलग रहें। जहां तक बने, सेवक लोग जिस कपड़ेसे रोगीके घरमें

रहें, उस कपड़ेको बिना बदले घरके अन्यान्य लोग, विशेषतः बालक बालिकाओंके समीप न जायँ। गृहस्वामी पीड़ाका प्रकृत विचार कर यह सब आज्ञा दे दें। सब परिजन उनकी आज्ञा का पालन करें। गृहस्वामीकी आज्ञाका परिजन लोग इसलिये पालन करें, कि घरकी स्त्रियां विशेषतः बीमार लड़केकी मां इन सब विषयोंमें भ्रमान्ध हो लड़केके विष्ठा मूत्र आदिसे घृणा करनेमें अकल्याण समझ इस आदेशके पालनमें शिथिलयत्न होती हैं। वास्तवमें बीमारके मलमूत्रसे घृणा करना अकल्याण है सही, और ऐसा करना भी न चाहिये, किन्तु हम घृणा दिखा नहीं रहे हैं, केवल स्पर्श दोषके दूर करनेका उपाय बता रहे हैं। लड़कोंकी मां इस बातको कभी न भूले, कि एक माताके गर्भ से उत्पन्न लड़कोंमें बीमारी सहज ही संक्रामित होती है। वहाँकी पीड़ा छोटोंपर जितनी दौड़ती है, छोटों की बीमारी बड़ोंपर उतनी नहीं दौड़ती। युवा और पौढ़ मनुष्यकी पीड़ा भी संक्रामकधर्म्मी होती है। वृद्धकी बीमारी कम संक्रामक है।

---

४५ प्रबन्ध।

भोजनादि।

पारिवारिक सब कामोंमें भोजन एक प्रधान काम है। भोजनकी व्यवस्था बहुत विचार कर करनी पड़ती है। इस काममें भी दिव्य भाव लाना पड़ता है; वस्तुतः धर्म्मशास्त्रके अनुसार यही नित्य-यज्ञ है और गृहाश्रमी समस्त मनुष्य इस यज्ञके पूर्णाधिकारी हैं।

इस नित्य यज्ञके देवतागण शरीरी हैं, साक्षात् परिदृश्यमान्, सन्तोषासन्तोष प्रकाशमें सक्षम और बाध्य हैं। यह समझमें नहीं आता कि अशरीरी देवता निवेदित होम नैवेद्यादि पा उसे ग्रहण योग्य समझे या नहीं। किन्तु भोजन रूप नित्य यज्ञ जिनकी प्रसन्नताके लिये उत्सृष्ट होता है, वह उसके दोष और गुणको बता सकते हैं।

घरके स्वामीको चाहिये, कि वह घरमें प्रस्तुत जिस किसी खानेकी सामग्रीको भोजन करें, अवश्य अवश्य उसके दोष गुणको बता दें। वह यदि न कहेंगे, तो कभी उनके घरकी रसोई अच्छी न बनेगी। इस विषयमें हमारे एक बहुत ही मित्रसे एक बके बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा,—"आपके घरकी

रसोई अच्छी बनती है, किन्तु तब भी मैं देखता हूं, कि यदि कभी एक व्यञ्जन भी बिगड़ जाता हैं तो आप उस व्यञ्जनके दोषको प्रगट कर देते हैं । किन्तु मैं ऐसा नहीं करता । देखिये, कि बहू, गृहिणी आदि जो सब रसोई बनानेमें लगती हैं, वह कितना परिश्रम करती हैं; उनमें जहाँ तक सामर्थ्यहै, वहाँ तक करती हैं । उनके कामकी प्रशंसा न करनेसे निष्ठुरता होती है । हमें घरमें जो मिलता, उसे ही अच्छा समझ हम खा लेते हैं" । हमने कहा,—"हमारी प्रणालीमें कुछ निष्ठुरता है तोही किन्तु शिक्षा प्रदानका काम जिस विषयमें हो, उसमें कुछ कठोरता रहनी ही चाहिये । यदि घरकी रसोई अच्छी बनवाना चाहो, तो कठोरताके प्रयोगसे इतना न डरो । जो काम करो वह अच्छा करो, इस संस्कारमें अपनेको डालो और परिवारको भी इसी में बद्धमूल करो । यह एक धर्म्मबीज है" ।

हमारा यह दृढ़ संस्कार है, कि जिस घरकी रसोई अच्छी नहीं, वह घर भी अच्छा नहीं । अर्थात् उस घरकी स्त्री और पुरुषोंको यज्ञ करनेका अभ्यास नहीं होता । वह लोग कुछ आलसी, कुछ अयत्नपर, कुछ सुख्याति विमुख और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुखदुःखके समझनेमें कुछ अनुभूतिशून्य हो जाते हैं । जिस घरकी रसोई अच्छी अर्थात् जिस घरमें नित्य-यज्ञ का व्यापार ठीक अभ्यस्त है, उस घरका नैमित्तिक यज्ञ भी अर्थात् अतिथि-सत्कार, ब्राह्मण-सज्जनका भोजनादि, बहुत ही अच्छी तरह निर्व्वाहित होता है ।

रसोई अच्छी बनानेका उपाय गृहस्वामीके शिक्षादानमें प्रवणता है । इससे ही बहुत कुछ होता है, किन्तु यदि रसोईके विषयमें शिक्षा देनेकी कुछ क्षमता हो, तो सोनेमें सुहागा मिल जाय । पुरुषसे रसोईके सम्बन्धमें शिक्षा पानेसे स्त्रियां बहुत ही लज्जिता होती हैं, वह शीघ्र सचेत हो स्वयं अच्छी रसोई बनाना सीखती हैं । जिस घरके स्वामी रसोईमें मन लगाते हैं, और बता सकते हैं, कि किस प्रकार नये नये प्रकारका व्यञ्जन बनाना चाहिये, उस घर की स्त्रियां रसोईके कामको गौरवसूचक समझती हैं और उसमें उत्कर्ष तथा पूर्णता साधन कर सकती हैं ।

घरकी रसोई अच्छी बननेमें और एक बाधा है । उसे भी घरके स्वामीको यत्नके साथ दूर करना चाहिये । रसोईकी सामग्री अच्छी होनी चाहिये । यज्ञीय द्रव्यको बहुत ही यत्नके साथ संग्रह करना चाहिये । किन्तु आजकल ऐसी मिलावटका अभ्यास हो गया है, कि बिना क्लेशके कोई वस्तु अच्छी नहीं

मिलती। तेल, घी, दूधादि प्रायः ही अच्छा नहीं मिलता। अन्न और तरकारी भी यत्न पूर्व्वक न देख खरीदनेसे अच्छी नहीं मिलतीं। अतएव द्रव्य संग्रहके विषयमें घरके स्वामीको दृष्टि रखनी चाहिये।

देशाचार है, कि पवित्र होकर रसोई बनाना चाहिये। शास्त्रका आदेश है, कि यज्ञीय द्रव्यको पवित्र हो बनाना चाहिये। स्नान कर अथवा हाथ मुँह धो और कपड़े बदल रसोई घरमें जाना चाहिये। इससे रसोई बनानेमें विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है और रसोई भी अच्छी होती है। आर्य्यजातिके अतिरिक्त अन्यान्य जातियोंमें और चाहे जो गुण हों, उनकी पवित्रता रक्षाके लिये कोई यत्न नहीं होता। बहुत बड़े अङ्गरेजोंके भी बावर्ची खानेमें प्रवेश करते ही घृणा उत्पन्न होती है। रसोई दारोंके हाथ, पैर, मुँह, वस्त्रादि बहुत ही मैले, घरमें असह्य दुर्गन्ध, भोजनपात्रादिके साफ करनेकी प्रणाली बहुत ही निन्दनीय है। भोजनकी सामग्रीके रसोई घरमें तय्यार हो बाहर आनेपर, तब परोसने-वाले साफ सुथरे हो द्रव्यादिको सुन्दर रूपसे सजाते हैं। किन्तु हमलोगोंके शास्त्रमें अन्नको प्रजापति और ब्रह्म कहते हैं। हमलोगोंका कर्त्तव्य है, कि पहलेसे लेकर अन्ततक उसकी पूरी पवित्रता रक्षा करें।

अङ्गरेजोंकी भोजन प्रणालीसे हमलोगोंके सीखने योग्य अधिक कुछ नहीं। वह लोग नित्य मांस भोजी हैं। अङ्गरेज लोग जितना मांस खाते हैं, उतना और कोई युरोपीय जाति नहीं खाती। इस देशमें इतना मांस खाना सहा जा नहीं सकता। अङ्गरेज लोग तीव्र शराब पीनेमें अनुरक्त हैं। किन्तु २५ वर्ष पहले वह लोग जितनी तीव्र शराबका सेवन करते थे आजकल उतना नहीं करते। हमलोगोंके देशमें शराब पीनेसे आयु क्षय होती है। अङ्गरेज लोग सड़ा मांस और सड़ी मछली खाते हैं। बिना मांस मछली सड़ाये वह लोग खाते ही नहीं। हमारे देशमें ताजा खाना है सड़ा खाना एक बारगी ही मना है। अङ्गरेज लोग चीनका बरतन और कांचके ग्लास और कटोरीका व्यवहार करते हैं। यह बहुत ही चमकीली चीज है। विचार कर देखने से यह बनावटी प्रस्तर है। हम समझतेहैं, कि देशाचार क्रमशः उन पात्रों का व्यवहार प्रचलित करेगा। तब भी वह देशी कुम्हारों द्वारा तय्यार हो, तो अच्छा है। अङ्गरेज लोग टेबुल बिछा कर कुरसी रख कर खाते हैं। उनकी खाने की सामग्री अधिकांश सूखी होती है। किन्तु जब वह कभी रस्सेदार तरकारी खाते हैं, तब कपड़ा खराब होनेके भयसे एक तौलिया लटका लेते हैं। उस समय

कुरसी पर बैठनेकी शोभा उतनी चित्ताकर्षण नहीं करती। हम लोगोंके खाने की सामग्री अधिकांश ही सरस और सजल है और इस देशमें वैसा ही होना चाहिये। सुतरां हम लोगोंको टेबुल पर बैठनेमें सुविधा नहीं है। अङ्गरेज लोग चमचका व्यवहार करते हैं, हाथसे नहीं खाते। उनका यह व्यवहार भी हमें बुरा जान नहीं पड़ता। तब भी हम लोगोंके भोजनमें कांटा और छुरी निष्प्रयोजन है। अङ्गरेज लोग स्त्री पुरुष एकत्र भोजन करते हैं। हमारे विचारसे यह प्रथा अच्छी नहीं। उससे स्त्रियोंकी लज्जाशीलतामें व्याघात पहुँचता है। परन्तु यज्ञीय द्रव्यका शक्ति और प्रीतिपूर्व्वक निवेदन शास्त्रीय है। अतएव भोजनके समय घरकी स्त्रियां समीप बैठ खिलायें और घरकी स्त्रियां ही परोसें। हाथमें द्रव्य रखकर परोसना न चाहिये। यज्ञीय भोगादिके जैसे श्रुवसे दिया जाता है, वैसे ही परोसनेके समय भी चमच, कलच्छी, कटोरी आदि द्वारा करना चारिये। बच्चे समीप बैठकर खायें। नित्य भोजनमें ऐसा ही व्यवस्था होनेसे भोजनमें शीघ्रता नहीं होती। इससे खानेके समय कितनी प्रकारकी बातें, कहानियां और गप्पें लड़ती हैं। हँसी खेल भी चलता है, राक्षसभाव नहीं रहता, मुँहकी विकृति और शब्द भी नहीं होता, अङ्गुलीमें अधिक भोजनकी सामग्री नहीं लिपटती और कितने ही पथ्यापथ्यका भी विचार चलता है।

पथ्यापथ्यका विचार कुछ अङ्गरेजी ग्रन्थोंसे हो सकता है, किन्तु उससे सम्पूर्ण रूपसे शिक्षा नहीं मिलती। उनकी विचारप्रणाली रासायनिक शास्त्र-सम्मत है। असलमें शारीरिक-शास्त्र-ज्ञान-समुद्भूत नहीं। इन लोगोंमें एक पण्डितने देखा, कि गेहूंमें इतना अमुक पदार्थ है, इतना अमुक पदार्थ है, इतना तीसरा पदार्थ है; किसी दूसरे पण्डितने बताया, कि चावलमें यह यह पदार्थ इतने इतने अंश हैं; एकने दूधका, एकने मांसका, इस प्रकार सबने सब मूल निकाला। किन्तु उस प्रणालीमें वास्तविक पथ्यापथ्यका निरूपण नहीं होता। पहले तो उस प्रणालीका परीक्षा-विधान बड़ा ही कठिन है। बहुत ही विख्यात पण्डितोंका भी, एकसे दूसरेका मत नहीं मिलता। दूसरे मनुष्यके पेटमें उस सामग्रीके पड़नेसे जैसा विश्लेषण होता है, उससे शरीरके लिये पालनीय जो सब गुण उत्पन्न होते हैं, सामान्य रासायनिक विश्लेषण द्वारा उनके वह सब गुण पहचाने जा नहीं सकते। तीसरे इस देशकी उत्पन्न और प्रचलित भोजनकी सामग्री, युरोपके उत्पन्न

खाद्य सामग्रीसे बहुत कुछ भिन्न है। इसलिये युरोपीय पण्डितोंके परीक्षा-विधानसे हम लोगोंका खाद्य सामग्रियोंका गुणागुण समझना कठिन है। फल यह है, कि जैसे औषधका गुणागुण औषधके खानेसे ही प्रकट हुआ है, वैसे ही खाद्य सामग्रीका गुणागुण, जिन लोगोंने उसे खाकर जाना है, वही यथार्थ जान सके हैं। हम लोग अपने प्राचीन चिकित्सा शास्त्रसे ही पथ्यापथ्यका विचार कर जिस समय जिसकी विधि है, वैसे ही खायेंगे। जिसकी विधि नहीं, निषेध भी नहीं, वह भी खायेंगे, जिसका खाना मना है, वह न खायेंगे।*

पथ्यसेवी होना एक व्रत है। जिन्हें इस व्रतका बचपनसे अभ्यास है, वह रोगयन्त्रणासे बहुत कुछ बचे रहते हैं, दीर्घायु होते हैं। और सदा कर्म्मक्षम शरीर धारण कर सुख भोगते हैं। जो समझते हैं, कि पथ्य सेवियोंका भोजनसुख कम है वे भ्रान्त हैं। ऐसा ही नहीं, कि पथ्य सेवियोंको

* १। ग्रीष्मऋतुका पथ्यापथ्य।— पुराना चावल, पुराना गेहूँ, पुराना जव, काले मूँगकी दाल। जङ्गली पशुपक्षियोंका मांस। जवका सत्तू ठण्डे जलमें खूब पतला घोलकर। दूध, गो, या भैंसका (चीनी मिलाकर) केला, किशमिश, कटहर, आम। लघुपाक, स्वादु स्नेह (घृत तैलादि) से तैय्यार हुआ द्रव्य। निर्म्मल हलका ठण्डा पानी, दिनमें सोना, पङ्खेकी हवा।

२। वर्षाका पथ्यापथ्य।—पुराने चावल, गेहूँ, जव, धोई मूँगकी दाल। शुष्क देशवासी पशुपक्षियोंका मांस। मांसरस। लघु आहार। दिव्याम्भः (वर्षाका पानी)। पकाया जल। ऊँची जगह शयन। ठण्ढी हवा, दिनमें निद्रा, नदी जल और अधिक जलीय द्रव्य मना हैं।

३। शरत्का पथ्यापथ्य।—चावल, गेहूँ, धोई दाल, चनेकी दाल। मरु देशीय पशुपक्षीका मांस। मांसरस। घी, शहद, दूध, ऊख, आंवला, परवल। अंशूदक, अर्थात् जिस जलमें सूर्य्य और चन्द्रकिरण विशेषरूपसे लगते हो। पित्त प्रकोपकी वस्तुओंका खाना मना है।

४। ५। हेमन्त-शिशिरका पथ्यापथ्य।—गेहूँ, उसके लड्डू, खीर और ऊखकी चीजें, चर्बीवाली चीजें, आनुप पशुपक्षियोंका मांस, बिलेशय जन्तुका मांस, स्नेहपूर्ण उष्णवीर्य्य द्रव्य। गरम घरमें वास। बहुत ही शीतल जल मना। दिनमें सोना मना।

६। बसन्तका पथ्यापथ्य।—अच्छी तरह व्यायाम, अच्छी तरह उद्वर्त्तन और स्नान। पुराना गेहूँ, जव, चावल। जंगली मांस। घी, शहद व सोंठका शरबत। तीता कड़ुआ, कसैला आदि द्रव्य खाना। दिनमें सोना मना है।

खानेमें बहुत छान-बीन करनी पड़ती या स्वादहीन सामग्री खाई जाती है। असली पथ्यमें एक विशेष गुण है। वह थोड़े अभ्याससे बहुत ही सुस्वाद बन जाता है। उसे ग्रहण करनेसे भोजनका सुख और अधिक आनन्द होता है। वह पुष्ट भी करता और हृष्ट भी करता है। और एक बात है। सब लोगोंके लिये सब समय एकही प्रकारका पथ्याहार नहीं होता। धातुभेद और कार्य्य भेदसे पथ्यका भेद होता है। एक मनुष्यके लिये सब समय एकही पथ्य नहीं होता। जो बहुत दिनोंके पथ्यसेवी हैं, वह संस्कार गुणसे ही समझ सकते हैं, कि किस समय क्या खानेसे वह अच्छे होंगे।

भोजन पेट भर करना न चाहिये। किन्तु पथ्यसेवियोंमें प्रायः ही अति भोजन दोष नहीं होता। वह लोग भोजनके गूढ़तम सर्व्वाङ्गीण सुखके इतने पक्षपातवाले होते हैं, कि केवल रसनाकी तृप्तिसे उन्हें पूरे सुखका अनुभव नहीं होता।

दैहिक सभी कार्य्योंमें समय बंधा रहना चाहिये। भोजनके लिये भी वैसा ही नियम है। व्रतचारियोंकी बात अलग है। किन्तु साधारणतः गृहस्थोंके भोजनके लिये चार समय हैं। एक सबेरे, दूसरा दोपहर, तीसरा सन्ध्या, चौथा रात एक पहरके बाद। किन्तु नोकरीके और स्कूलके गरजसे आज कल इस समयमें बहुत कुछ हेर फेर हो गया है। सबेरे और दोपहरका भोजन एक कर शहरोंमें लोग नौ बजे भोजन करने लगे हैं। अधिक रात बिता भोजन करना अच्छा नहीं। कारण, भोजन करनेके बाद ढ़ाई या तीन घण्टा जागते रहना चाहिये; अधिक रात्रिमें आहार करनेसे उस नियमका पालन नहीं होता। सुतरां इससे स्वास्थ्य खराब होनेकी सम्भावना है।

अङ्गरेज लोग भोजनके बाद पान नहीं खाते, बल्के पान खानेको पशुओंके रोमन्थनके साथ तुलना करते और इसीसे नये बाबू आज कल पान खानेका साहस नहीं करते। किन्तु भात, रोटी, आदि, शस्य खाने वालोंके लिये पानका खाना ही सुव्यवस्था है। अतएव, भोजनके अन्तमें अच्छी तरह कुल्ला कर दो चार पान खाना चाहिये और इसके बाद फिर अच्छी तरह कुल्ला करना चाहिये। शास्त्रमें भी यही विधि है।

भोजनके सम्बन्धमें और एक बहुत मोटा भ्रम होने लगा है। नये बाबू चाहें जो कारण हो समझते हैं,—निद्रावस्थामें भोजनका परिपाक जाग्रत अवस्थासे अच्छा होता है और इसीसे वह लोग रातको अधिक आहार करते हैं। वास्त-

वमें निद्रावस्थामें सभी स्नायुशक्ति दुर्व्वल रहती है, उस समय कोई शारीरिक काम तेजके साथ निर्वाहित नहीं होता । आहारका परिपाक भी शीघ्र न होता । इसलिये दिनके आहारकी अपेक्षा रातका आहार अधिक करना न चाहिये । किन्तु आजकल मांस और पोलावके खानेकी व्यवस्था रातको ही की जाती है ।

सुस्थ और सबल मनुष्यको शय्यासे सवेरे ही उठना चाहिये । शय्यासे उठतेही मलत्याग, दन्तधावन, स्नान आदि शरीरके निर्मलतासाधक सब कार्यों-का अभ्यास करना चाहिये । इसके बाद ही व्यायाम करना चाहिये—जैसे डंड, मुद्गर, बैठक प्रभृति । एक बारगी अधिक व्यायाम करना अच्छा नहीं । किन्तु धीरे धीरे उसे अधिक बढ़ानेसे बहुत ही उपकार होता है । हम लोगोंके देशमें व्यायाम करनेका सच्चा समय प्रातः काल है । किन्तु, अङ्गरेजी स्कूलों और कालेजोंके लड़कोंको सन्ध्या समय व्यायाम करनेकी आज्ञा दी गई है ।

स्त्रियोंके लिये भी व्यायाम की आवश्यकता है । किन्तु जिन सब व्यायामोंके कामसे शरीरकी कोमलता नष्ट हो वह सब उनके लिये मना है । नियमितरूपसे घरका काम करनेसे भी बहुत कुछ व्यायाम हो जाता है । उखली या ढेंकीसे चावल छांटा जाता है, चकरीमें दाल दली जाती है, और घरमें झाड़ू और मसाला प्रभृति पीसनेसे बहुत शारीरिक परिश्रम हो जाता है । समय विशेष और अवस्था विशेषसे स्त्रियोंके लिये व्यायाम या और कोई अतिरिक्त शारीरिक परिश्रम, सभी मना है ।

४६ प्रबन्ध ।

शयन और निद्रादि ।

विश्रामके लिये कुछ समय न मिलनेसे शरीर नहीं ठहरता । किन्तु विश्राममें भी बहुत कुछ इतर विशेष है । जो दौड़ता है या बहुत देर चलता है, वह स्थिर हो बैठने या सोनेसे ही विश्राम लाभ करता है । जो हाथ चला लकड़ीका काम कर रहा है, या कपड़ा बुन रहा है, ऐसे ही ऐसे कामोंसे क्षणकाल के लिये हाथ रोकनेसे उसकी श्रमजनित क्लान्ति दूर होती है । अर्थात् शरीरके विशेष विशेष अङ्ग प्रत्यङ्गके सञ्चालनसे जो परिश्रम होता है, वह उन अङ्गोंके कार्यसे अपसारित करनेसे ही दूर होता है । किन्तु सब अङ्ग प्रत्यङ्गोंके और सब प्रकारके कामोंके भीतर रहनेवाले स्नायुमंडलको विना निद्राके विश्राम नहीं मिलता ।

जो मनुष्य जितना अधिक काम करता, अर्थात् चलता फिरता है, और चिन्ता करता है, उसे उतनी निद्राकी आवश्यकता होती है। बच्चे अधिक चञ्चल हैं, उनके स्नायुमण्डलमें काम अधिक होता है, इसीसे वह अधिक सोता है। वृद्धका चलना फिरना कम है, मस्तिष्कका काम भी कम अथवा पहलेके अभ्यासवश थोड़ा ही जान पड़ता है, इसीसे वृद्धकी निद्रा कम है। यह बात ठीक नहीं, कि जहांतक चलना फिरना बढ़ाया जाय वहींतक नींद बढ़ेगी। जैसे अधिक व्यायाम करनेसे अधिक भूख लगती और परिपाक करनेकी शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु इसकी भी एक सीमा है वैसे ही अधिक चलने फिरनेसे निद्रा अधिक आती है, किन्तु इसकी भी एक निर्दिष्ट सीमा है। हमने देखा है, कि अतिरिक्त व्यायामके बाद भूख लगनेकी बात तो दूर रही, आहार करनेकी रुचि भी नहीं होती और परिपाक शक्ति बढ़नेकी जगह घटती है; वैसे ही अधिक चलने फिरनेसे या चिन्ता व मस्तिष्कके चालनसे एक बारगी ही निद्रा नहीं आती, बल्के अनिद्राका रोग लगजाता है। शरीर पोषण और पालनके लिये व्यायामादि परिमित रूपसे ही होना चाहिये और वह परिमाण मनुष्य मनुष्यके लिये अलग अलग है।

जैसे सुनिद्राके लिये परिमित रूपसे परिश्रमका प्रयोजन है, वैसे ही कितने बाहरी बन्दोबस्तकी भी आवश्यकता है। पहले सोनेका घर ठण्ढा हो और उसमें वायू तथा प्रकाशका अच्छा प्रवेश द्वार हो। किन्तु लेटने या सोनेके समय अधिक प्रकाश या वायुका समागम मना है। शय्यासे कुछ दूर-पर वायु आनेकी राह खुली हो और किरॉसिन तेल या गैसकी रोशनी घरमें न हो। पत्ते और फूलादि भी घरमें न रहे। घर जितना खुलासा रहे उतना ही अच्छा; उसमें चाहे कुछ हो या न हो, भोजनकी कोई सामग्री रखना न चाहिये। खानेकी सामग्री रखनेसे ही उसके गन्धसे वायु दूषित और चीटी, मक्खी और मच्छरका उपद्रव अधिक होता है।

द्वितीयतः शय्या। शय्या साफ और कोमल हो। किन्तु बहुत ही कोमल शय्या अच्छी नहीं। एक घरमें एक शय्या रहना ही अच्छा है। यदि पति पत्नीको शय्यायें एकही घरमें रखना हो, तो दोनों शय्या कोठरीके दोनों किनारे-पर होनी चाहियें। एक शय्यापर दोका सोना ठीक नहीं। लड़कोंके बिछोने बगलके एक घरमें होने चाहिये।

तृतीयतः स्त्रीसंसर्ग। यहूदियोंके शास्त्रमें ऋतुसे विरत होनेका समय

पांच दिन रखा गया है। इस पांच दिनके बाद और सात दिन छोड़ स्नान करना और शय्यापर जाना उनके शास्त्रकी विधि है। यह समय सब लोगोंने अवधारित किया है, कि यह नियम बहुत ठीक है। यहूदि जातिके सन्तानोंकी अकालमृत्यु अन्यान्य सब जातियोंकी अपेक्षा कम होती हैं। हमलोगोंमें तीन रात बीतानेकी व्यवस्था है *। विज्ञान द्वारा अब तक जितनी दूर जाना गया है, उससे अनुमानमात्र होता है, कि सामान्यतः रजः संयमसे पहले यदि संसर्ग हो तो स्त्री पुरुष दोनों ही में कुछ बीमारियां हो सकती हैं।

गर्भग्रहण और गर्भदानका ठीक समय रातके भोजनके बाद ३ या ३॥ घण्टे बाद है। उदरमें आहार पचनेसे पहले स्त्री-संसर्ग मना है। स्त्री या पुरुष किसीके शरीरमें कुछ ग्लानि रहनेसे भी स्त्री-संसर्ग मना है। दिनमें स्त्री-संसर्ग बिलकुल ही मना है। सदासे प्रसिद्ध है, कि दिनमें संसर्ग बहुत दूषित है। †

पर्व दिनोंमें—अर्थात् पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी, चतुर्दशी और अष्टमीमें भी स्त्री-संसर्ग मना है। हम समझते हैं, कि इस शास्त्रीय विधिकी प्रतिपोषक कई युक्तियाँ हैं। किन्तु उन सब युक्तियोंका उल्लेख न कर यहाँ केवल हम एक बात कहेंगे। स्त्री-पुरुष अन्योन्य अभिलाष पूरणकी इच्छाकर कितने ही समय परस्पर संसर्गी होते हैं। दोनों हीके मनमें जो इस प्रकार परार्थकी समझ उत्पन्न हो प्रवृत्तिकी उत्तेजना होती है वह अनेक समय भ्रममूलक होता है। वह भ्रम सहजही दूर नहीं होता। सुतरां विधिके प्रतिपालनके उद्देश्यसे निवृत्तिका अभ्यास करना अच्छा है। शास्त्रने उस विधिकी सृष्टिकर स्त्री-पुरुषोंको बहुतही धर्म्म्य और हितजनक राह दिखाई है। असलमें रेतःक्षयसे आयुका क्षय होता है, इसे भगवान् वेदव्याससे लेकर नये दार्शनिक डारविन साहब तकने दृढ़रूपसे माना है। सुतरां महीनेमें जितनी रातें बिना संसर्गके बीतें, अच्छा है। रुग्ण, दुर्बल, क्षीणजीवी मनुष्योंमें आसङ्गलिप्सा अधिक बलवती होती है, अच्छे सबल आदमीमें कामकी आतुरता कम होती है।

* स्नानकी व्यवस्था चौथे दिन है। किन्तु व्यक्ति भेदसे व्यवस्था भेदका होना आवश्यक है। रजः संयत होने पर ही स्नान करना चाहिये, उससे पहले स्नान करना मना है।

† प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। प्रश्नोपनिषत्।

अजातरजा—कुमारीगमन बड़ाही महापाप है। गर्भिणी स्त्रीके गमनमें भी बहुत दोष है। हमने सुना है,—कोई कोई कहते हैं, कि स्त्री-संसर्गसे बिलकुलही अलग रहनेसे विशेष विशेष रोग उत्पन्न होते हैं। यह बिलकुल ही झूठी बात है। यदि मनमें कामका उद्वेग हो और उसको दमन न कर उसी-की चिन्तामें अनुरक्त हो, तथा धीरे धीरे उसे बढ़ाते हो, तो दो एक स्थलों-में बीमारी उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। नहीं तो केवल संसर्गविरतिसे कोई पीड़ा नहीं होती; बल्कि शरीर दृढ़ होता है, शीत और गरमी सहनेकी क्षमता उत्पन्न होती है, परिश्रमकी शक्ति बढ़ती है, रोग आक्रमण नहीं करता और आयु बढ़ती है। स्त्रीत्यागी देवव्रत (भीष्म पितामह) इच्छामृत्यु हुए थे, रुग्नदेह नहीं हुए थे।

हमने कई एक सुविज्ञ मनुष्यों द्वारा बारबार आदिष्ट और अनुरुद्ध हो यह सब बातें खोलकर लिखी हैं। जिन लोगोंने हमसे ऐसा लिखानेका अनु-रोध किया, उन लोगोंका कहना है, कि माता-पिता अपने पुत्र और कन्याओंको यह सब तथ्य नही सिखाते। प्रति स्त्री-पुरुषको यह सब प्राकृतिक नियम अपनी अभिज्ञताके बलसे संग्रह करना पड़ता है। इसका संग्रह करते करते जीवन-का समय बीत जाता है। परवर्त्ती स्त्री-पुरुषोंको फिरसे सीखना पड़ता है। देशके प्राचीन शास्त्रोंमें इन सब विषयोंका जो विशेष उपदेश है, सो उन सब शास्त्रोंकी आलोचनायें लुप्त हो जानेसे, उसे अब कोई नहीं जानता। घरके स्वामी और स्वामिनीके भी इन सब तथ्योंकी अवश्य प्रति-पाल्य विधिके न जाननेसे युवक युवती कुछ भी सीखने नहीं पाते। इस देशमें इतने रोगोंकी वृद्धिका बहुत कुछ कारण जैसे दैन्यदशा, आचारका विपर्य्यय, उदरान्नके लिये कठोर चिन्ता और अपने भावी विषयमें बहुतही शङ्काएं हैं, वैसे ही दाम्पत्य नियम सम्बन्धी अज्ञान भी बड़ा कारण है।

हमारी पत्नीने हमसे किसी समय कहा था,—"यह सब बातें लड़कों-को सिखाई जाती तो अच्छा होता।" हमने कहा,—"धीरे धीरे हम सब बातें उन सबसे कह देंगे, न कहनेसे कितनाही दोष होता है।" * * "दोष होताही है, न जानकर भी आगमें हाथ डालनेसे हाथ जलता ही है।" * * "ठीक बात है। मैं अवश्य सिखाऊँगा, तुम देखोगी, कि हमारे लड़कोंके लड़के होनेपर वह सब हम लोगोंके सामने उसे गोदमें उठा उसका आदर करेंगे; लज्जित न होंगे।" * * * "लड़कोंको

अपने मा बापके आगे लड़कोंका आदर करते लज्जा जान पड़ती है।" * * * "मा बाप बराबर ऐसाही भाव बताते हैं जिससे लड़के समझते हैं, कि उनका लड़का होना बड़े दोषकी बात है!"

४७ प्रबन्ध ।

दल-संगठन ।

हरेक परिवार एक छोटा राज्य है । यह छोटे छोटे राज्य एक बड़े राज्यके भीतर है। इस बड़े राज्यका नाम समाज है । अतएव समाजके शासनको मानें उसके अङ्गीभूत हो परिवारको चलाना पड़ता है। जिस देशमें राजा और समाज-में भिन्नभाव नहीं, बल्कि राजा और उनके प्रतिनिधि राजपुरुषगण ही समाजके नेता और रक्षिता हैं, उन सब देशोंमें भी राजशासनके अतिरिक्त एक समाज-शासन होता है। किन्तु वहाँ पर राजशासन और समाज-शासनमें व्याप्य व्याप-कका भेद मात्र दिखाई देता है। वहां राजशासन जिन जिन विषयोंको ग्रहण करता समाज-शासन उनका ग्रहण तो करता ही है, इसके अतिरिक्त अन्यान्य कामोंमें भी समाज-शासनका हाथ फैलता है । चोरीका निषेध राजशासनसे भी होता और समाज-शासनसे भी होता है। किन्तु "ऐसा वस्त्र पहनना चाहिये" इत्यादि बातें समाज-शासनमें ही सुनाई देती हैं। राजशासन इन सब विषयोंमें कुछ नहीं कहता। वस्तुतः राजशासनकी अपेक्षा समाज-शासन अधिकतर व्यापक है। किन्तु ऐसा होनेपर भी भारतमें समाज-शासनका गौरव कम नहीं। जिस देशमें राजा और समाजका भिन्न भाव है, जिस देशमें राजा और राज-पुरुषगण समाजके रक्षिता और नेता न हों उसके प्रति उदासीन या लापरवाह अथवा घृणा या विद्वेष करते हैं, वहां समाज-शासनका बल सङ्कुचित हो जाता है। समाज-शासनके कुण्ठित होनेसे क्रमशः जातीय भाव भी विलुप्त हो जाता है, मनुष्योंमें परस्पर सहानुभूति घट जाती और धर्म्मबुद्धिका मूल अशक्त हो पड़ता है।

हमारे इस पराधीन देशमें इस समय ऐसा ही हो रहा है। हमारे राजा भिन्नजातीय और भिन्न धर्म्मावलम्बी हैं; कितने ही स्थलोंमें वह हमारे सामाजिक नियमों और शासनोंके विद्वेष्टा हैं। किसी अपराधके लिये धोबी-नाऊ या हुक्का बन्द करना या उसे एक घरिया बनाना आदि सामाजिक शासनके साथ राजपुरुषगण

सहानुभूति प्रकाश कर नहीं सकते। बल्कि जिसके प्रति वैसा समाज-शासन विहित हुआ है, वह मनुष्य यदि राजद्वारमें जा नालिश करें तो राजपुरुषों की दृष्टि इसी ओर घूमती है, कि किसी प्रकारके दण्डविधिमें डाल सामाजिक शासनके अधिकारी समाजके नेताओं को दण्डित किया जा सकता है या नहीं। "आक्रमण", "भयप्रदर्शन," "मिथ्यापवाद" प्रभृति अपराधके सम्बन्धमें अङ्गरेज़ी दण्डविधि आईनकी धारायें इतनी दूर व्यापिनी है, कि किसीके भी समाज-शासनसे दण्डित होनेसे दण्डविधि आईनकी किसी न किसी धारामें समाजशासक दण्डित न होगा ऐसा नहीं हो सकता है। तब भी यदि समग्र समाजके लोग एक हो जायें, यदि असली अपराधीके प्रति सबकी ही घृणा हो, तो अपराधीके साथ समाजके लोगोंकी बातचीत भी बन्द हो जानेसे, विघ्न और विपत्तियोंका अतिक्रम कर समाज-शासन अप्रतिहत प्रभावसे काम कर सकता है। समझलो कि किसी मनुष्यने किसी गृहस्थकी युवती विधवा कन्याको कुपथगामिनी बनाया। अङ्गरेज़ी आईन तो उसका दोष न मानेगी। किन्तु हिन्दू समाजकी आंखोंमें वह अपराध बहुत बड़ा है। अपराधीको अजाती बना दण्ड दिया गया। यदि ग्राम सहित, देश सहित हिन्दूओंके मनमें इस अपराधके ऊपर सच्चा हिन्दू सन्तानोचित विद्वेष बंध जाये, तो अपराधी अपने आप या देश में कहीं दास दासी या आत्मीय स्वजन न पायेगा। तब लाचार उसे समाजके पैरों पड़ समाज द्वारा विहित हिन्दू धर्म्मानुमोदित प्रायश्चित्तादि शारीरिक और आर्थिक दण्ड ग्रहण करनेपर बाध्य होना पड़ेगा। उस दण्डके दृष्टान्तसे और लोग भी आत्मसंयम सीखेंगे। वह लोग ऐसे अपराधके करनेका साहस न करेंगे। किन्तु बात यह है, कि इस समय वैसा होता नहीं। देशमें धर्म्मभावकी कमी होनेसे अपराधी मनुष्यको एकाकी रहना नहीं पड़ता। अर्थबल रहने अथवा समाजके नेताओंमें परस्पर ईर्षा और विद्वेषभाव रहनेसे कौशल पूर्व्वक उसे विशेष रूपसे उत्तेजितकर अपराधी मनुष्य एक नया दल बाँध ले सकता है।

(१) "वह कहते हैं, कि हमें अजाती कर देंगे। क्या वह समाजके सोलह आने हैं ?। हम भी ब्राह्मण सज्जनको दस पाँच रुपये दिया करते हैं; हमें भी लोगोंका बल है। देखें उसके दलमें कितने बिरादरी और हमारे दलमें कितने बिरादरी होते हैं।" (२) "जब तुम हमारे पास आये हो, तब तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। देखें, किसको सामर्थ्य है, कि तुम्हें जाति बाहर करे।

अपने लिये ऐसा और दूसरेके लिये ऐसा नियम ! वाह वा ! कैसे भले आदमी हैं ! एक बार वह अपने दोषोंको तो याद कर देखें ! अपने भाञ्जेका चरित्र याद कर देखें !" (३) "तुम्हें उसने अजाती बनानेको धमकाया है ? कल जिसका बाप एक अँगोछा ओढ़ बाजारमें ढाई रुपये महीनेका रोजगार करता था, आज ठेकेदारीके चुराये पैसेसे कुछ जमाकर क्या मनमाना काम करेगा ? शर्म्मा जीते रहते, तो ऐसा होने न पाता । अब भी यथेच्छाचार का जमाना नहीं है ।" ऐसी बातोंका प्रयोग और उसके अनुसार काम कितनेही स्थलोंमें दिखाई देता है ।

समाजमें धन लोभ और ईर्षा-विद्वेषके बढ़नेसे धर्म्मके प्रति लोगोंकी घृणा कम होनेसे समाजशासन क्रमशः दुर्ब्बल हो पड़ा है और कई दल बँध गया है । अपराधीका पक्ष लेते किसीको लज्जा या सङ्कोच नहीं होता । समाजमें जो प्रधान है, वह परकालका उतना भय नहीं करते, दूरदर्शिताके अभावसे वह लोग समाजमें नैतिक शासनके लिये भी उतने एकाग्र नहीं होते । सुतरां समाजका एक अंश दुष्टके दमनकी चेष्टा करता है तो दूसरा अंश आग्रहके साथ अपराधीको साहाय्य देनेमें प्रवृत्त होता है । प्रकृत प्रस्तावमें दल बँध जानेसे दुष्टका पालन ही मानों परम धर्म्म जान पड़ता है । दलके बाँधनेसे यहाँतक धर्म्मका लोप होजाता है, कि जातिभाइयोंमें अशौच ग्रहण और एकत्र घाट स्नान प्रभृति सनातन धर्म्मानुयायी देशव्यापी प्रथाओंमें भी व्यतिक्रम हो नैतिक अवनतिकी बहुत शोचनीय अवस्थाको सूचित करता है । फिर भी, उस दल बाँधनेमें किसी दुष्टके दमनका नाम भी नहीं रहता है । आजकल अधिकांश दल विषय सम्पत्तिके लिये या केवल धनगर्व्वित जातिभाइयोंमें ईर्षाके कारण मतान्तर होनेसे ग्राममें पुरुषानुक्रमिक रूपसे होता है । ऐसा दल बिलकुलही धर्म्महानिकर है । साधारण लोगोंको पवित्र रखनेके लिये सामाजिक शासन-का बहुतही प्रयोजन है और पहलेही कहा गया है, कि दल बँधनेसे सामाजिक शासनकी कार्य्यकारिता बहुत कुछ नष्ट होती है । मनुष्यकी दुष्प्रवृत्तिके दमनके लिये अङ्गरेजोंमें भी सामाजिकशासन घट रहा है सही, किन्तु अब भी बहुत प्रबल है । एक समय वह लोग धर्म्ममतवादके सम्बन्धमें भी समाजके शासनका प्रयोग करते थे । रोमन केथलिकगण और प्रोटेष्टन्टगण, दोनोंही समाजोंमें प्रतिपक्षीय मतावलम्बियोंको स्थान नहीं देते थे और बलपूर्व्वक ऐसी चेष्टा करते थे कि सबही क्याथलिक हो जायें या सब प्रोटेष्टन्ट हो जायें ।

केथोलिक और प्रोटेष्टन्टका विवाहादि और आहारादि तक समाज शासनमें नहीं था। केथोलिक धर्म्मावलम्बिनीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान राजासन पाती न थी और आज भी उसी प्राचीन समयकी अवस्था प्रबल है। इस समय मतवादादिके सम्बन्धमें उनका सामाजिक शासन उतना प्रकट नहीं है सही, किन्तु आचार, व्यवहार, वेश और भूषणके सम्बन्धमें बहुतेरे शासन हैं। कितने ही नैतिक दोषोंको अङ्गरेज लोग सामाजिक दोष नहीं मानते सही, फिर कितने ही समय स्वजातीय पक्षपातिताके लिये समस्त नीतियोंपर लात मारना उचित समझते हैं सही, किन्तु जो उनके समाजमें दोष माना जाता है, उनके लिये सामाजिक शासन दृढ़ रूपसे चलाया जाता है। सर चार्लस डिलकी, पार्नेल प्रभृति विशिष्टरूप उच्चपदस्थोंके चरित्र सम्बन्धीय अपराध अङ्गरेज समाजमें मार्ज्जनीय समझा न गया। समाजके शासनसे इन दोनों हीने बहुत उपयुक्तरूपसे कष्ट पाया। न्यायान्यायके निर्विशेषसे सब अवस्थाओंमें अङ्गरेजोंका पक्ष समर्थन न करनेसे, वह लोग अपनेमें सामाजिक दण्डका प्रयोग करते और उस दण्डका प्रयोग होनेसे उनकी समाजमें किस प्रकार काम चलता है, वह लार्ड रिपनके अलवर्ट बिल, जष्टिस ह्वाइटकृत अङ्गरेज हत्याकारीका-प्राणदण्ड और लार्ड लिटनके फुलर मिनिटके सम्बन्धमें देशीय अङ्गरेजोंका व्यवहार और दण्डके भयसे क्या होता है, वह डिफेन्स एसोसियेशन, तथा नानास्थानके युरोपीय अपराधीके सम्बन्धमें युरोपीय जूरियोंके विचार और अङ्गरेज सदस्य निर्वाचन समितिके समस्त व्यवहारोंको याद करनेसे स्पष्ट समझमें आता है। वह लोग भी जातिबाहर करते हैं, सामाजिक दण्डसे दण्डित मनुष्योंका अभिनन्दनादि नहीं करते। उन्हें क्लबमें आने नहीं देते। इस देशके अङ्गरेज राजपुरुषगण बहुत कुछ प्रकाश्य भावसे अपने सामाजिक दण्डके प्रयोगमें साहाय्य पहुंचाया करते हैं। सुतरां उनके समाजकी बिलकुल ही अप्रतिहत क्षमता है। तब भी दुष्टाचारके विरुद्ध उस क्षमताका प्रयोग कम होता है, दलसे अलग होना ही उनमें सर्व्वप्रधान अपराध गिना जाता है।

एक बात यह भी है, कि शहर अञ्चलमें परस्पर कामके सम्बन्धमें जैसा एकबारगी औदासिन्य उत्पन्न हो रहा है, वह किसी अंशमें हितकर नहीं। इसकी अपेक्षा ग्रामोंका दल अच्छा। वह समाजकी भग्नावस्थाका द्योतक है। शहरके काम समाजके एकबारगी ही लोप हो जानेकी सूचना देते हैं। तब

भी दलमें कुछ शासन रहता है; बहुत कुछ लोग आंखोंकी लज्जासे भी मानते हैं। प्रकाश्य आन्दोलनके उपेक्षा करनेकी निर्लज्जता सबमें नहीं होती और सब अपराधियोंके लिये ही अर्थ खर्च करके दल बंध नहीं जाता। इसलिये दलके सम्बन्धमें अब भी ग्रामोंमें बहुत कुछ अपराधियोंका शासन होता है।

इस समय यही अवस्था एकान्त प्रार्थनीय है, कि सोलहआने समाजको मिला एक मात्र दल हो और दुष्टाचारके शासनमें समस्त सामाजिक बल प्रयुक्त हो। दलके प्राबल्यसे क्षमतापन्न अपराधियोंको सुविधा और निरीह भले आदमियोंको कष्ट हो यह बहुत ही बुरी बात है। समाजमें जो नेता हैं, उनको याद रखना चाहिये कि सामान्य ईर्षा दोषसे दलके पालन द्वारा वह लोग अपने अपने परिवारमें भविष्यतके लिये अशान्तिका अव्यर्थ बीज बोते हैं। दलप्रधान ग्राममें पारिवारिक शासन और भ्रातृवात्सल्यादि गुण घट जाता है। "घरमें आग लगा देंगे, बाहरी शत्रु और दूसरी जातिके हाथ घर बेचेंगे।" इन सब दुष्प्रवृत्तिका मूल दल बंधना ही है। इतिहास साक्षी देता है, कि यही भारतवर्षके सर्वनाशका एकमात्र कारण है। अभिमान छोड़ विनीत हो, यहांतक, कि साधारण लोग पहले उसे हीनता कहेंगे—उसे भी स्वीकार कर दल तोड़ देना चाहिये। जो ऐसा कर सकते वही बड़े हैं। अन्तमें लोग उन्हें बड़ा ही समझेंगे। हम जानते हैं, कि किसी ग्राममें दो दल थे। एक दलके प्रधानने हरेक आदमीके घर जा कहा, कि "बड़ोंके समयसे हम लोगोंमें दो दल चला आ रहा है। आप लोग दूसरे ग्रामके दलमें हैं। किन्तु यह नहीं मालूम कि उस समय क्यों दो दल बना। अब हम लोग एक ग्राममें दो दल बनाके क्यों रहें।" इसके बाद उस ग्राममें एक दल बन गया।

और एक मनुष्य ग्राममें किसी दलमें साथ देते न थे। उनके साथ जिनका खानापीना था, उनमें झगड़ा पड़नेपर भी वह सब लोगोंसे पहले जैसा बर्त्ताव रखते थे। वह सब दलमें जाते। सब दलके लोग उनके घर आते। वह दलके झगड़ेसे बाहरही रहे। दलके झगड़ेमें न पड़नेसे अवस्थापन्न मनुष्य दलके झगड़ेमें सहजही फँस नहीं सकते। जिनकी बात हम कहते हैं, उन्होंने कभी म्यूनिसिपलिटीके इलेक्शनमें रायदेहन्दाका काम नहीं किया। वह कहते थे,—"हम लोगोंके अपने ही दलके झगड़ेसे सर्व्वनाश हो गया है, फिर विलायती दलकी आमदनीका प्रयोजन ही क्या है?"

अन्यवर्णके दलको अपने लोगोंमें भी कितने ही लोग समझते हैं। विलायतसे लौटे हुए मनुष्योंके विषयमें इस समय एक दल बँध गया है। देखते हैं, कि विलायतसे लौटे हुए वैद्य कायस्थ और तेली तकको लेकर सब वर्णोंमें दल बँध गया है। यह कहा नहीं जा सकता, कि यह कितनी बड़ी मूर्खता है। कोई वैद्य या कायस्थ प्रायश्चित्तकर जातिमें उठे तो इससे ब्राह्मण में झगड़ा क्यों हो? यदि वैद्य और कायस्थ समाजके कुछ लोग उन्हें जातिमें लें और उनके उपयुक्त प्रायश्चित करायें, तब फिर वह पतित हो क्यों रहें? उपयुक्त प्रायश्चित्त करनेसे और पूरी तरह दीनता स्वीकार करनेसे समाजका कर्त्तव्य है, कि अपराध क्षमा करे। "क्षमा नहीं होगी" ऐसे अहिन्दूपनका पोषण ठीक नहीं।

इस प्रकार समझके चलनेसे समाजके नेता और सम्पन्न मनुष्यगण दल बाँधना तोड़ दलकी तीव्रताको घटा सकते हैं। किन्तु समय समयपर ऐसा हो जाता है, कि एक न एक दलमें न पड़नेसे लोगोंके बचनेका उपाय नहीं रहता। किसी दलमें जानेका विचार न रहनेपर भी आत्मीय कुटुम्बके दलके झगड़ेसे अपने ऊपर बिपत् आ पड़ती है। आजकल लोगोंकी नीचता भी इतनी बढ़ गई है, कि यजमान अन्याय कार्य्योंमें पुरोहितोंसे राय लेनेकी प्रार्थनाकी हिम्मत करते और ऐसाही न्यायान्याय अनेक स्थलोंमें दिखाई भी देता है। पुरोहितोंमें धर्म्म और शास्त्रचर्चाकी त्रुटि और सामान्य धन लोभ ही इस प्रकार शोचनीय अवस्थाका मूल है। कितने ही लोग अधीन, प्रजा और प्रतिपालित मनुष्योंको बलपूर्व्वक दलमें मिला लेते हैं। यहाँ-तक कि दल बाँधे हुए पण्डा लोग एक स्थानमें पुरुषानुक्रमिक किसी देव मन्दिरके पुजारीको केवल दलके लिये हृतसत्व बनानेमें भीत नहीं होते। इन सब अधर्म्म और अत्याचारोंके लिये प्रत्येक परिवारको क्या करना चाहिये? धीरभावसे उत्पीड़न सहनेके अतिरिक्त और कोई उपाय दिखाई नहीं देता। सब अवस्थाओंमेंही न्यायपर दृढ़ रहनेके अतिरिक्त दूसरा कोई उपदेश मानना न चाहिये। इससे कुछ ऐहिक कष्ट होनेसे भी परकालमें उपकार होगा और परिवारमें विशुद्ध आत्मप्रसाद लाभ द्वारा इह लोकमें भी पुत्रोंके चरित्रके उत्कर्षके सम्बन्धमें महत् उपकार होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

४८ प्रबन्ध ।

पञ्चाशोर्द्धे वनं व्रजेत् ।

पचास वर्षकी उम्र होनेपर लोगोंको गृहाश्रम छोड़ वनमें जाना उचित है। इस शास्त्रीय उपदेशका तात्पर्य्य कुछ विचार कर समझना चाहिये। पहले यह बात है, कि पचास वर्षका शब्द यहाँ गौण अर्थसे माना जायगा। उससे शरीरकी एक अवस्था विशेष प्रकट होती है। उम्रके गिनानेके लिये नहीं है। जिस अवस्थामें शरीरकी वृद्धि और वृद्धिके बाद जो साम्यावस्था होती है, उसकी भी समाप्ति होती और फिर जरा या वार्द्धक्यकी स्थिरतर प्रवृत्ति होती है, पचास वर्ष शब्दका प्रकृत तात्पर्य वही अवस्था है। बराबर पचास वर्ष बीत जानेपर इस देशमें शरीरकी वह अवस्था आ पहुँचती है। शास्त्रीय वचनका अर्थ इस प्रकार न समझनेसे कितनेही स्थलोंमें भूल होती है। सबका शरीर समान नहीं। किसीके शरीरमें ६०।६५ वर्षकी उम्रमें भी अच्छी ताकत रहती है। कोई ४०।४५ वर्षमेंही बुढ़ापेमें आ जाते हैं। परिवार, स्वजन या समाजका कोई उपकार करनेकी क्षमता नहीं रहती। असलमें वह समाज और स्वजनगणके लिये एक भार हो जाते हैं। उपकार करनेकी क्षमता दूर होनेसेही समाज छोड़ देना चाहिये। दूसरी बात यह कि वनमें जाना चाहिये। इस बातका भी मुख्य अर्थ माना जा नहीं सकता। शास्त्रका अभिप्राय ऐसा नहीं, कि सब बूढ़े मनुष्य वनमें जायें। इस समय देशमें जितने वन हैं, उनमें देशके सब बूढ़े मनुष्य रह नहीं सकते। सबके वन पहुँचनेपर, बन भी आबाद हो जायगा। फिर वह बन रहे हीगा नहीं। तब शास्त्रका अर्थ यह समझा जाता है, कि अपना शरीर परोपकार साधनमें असमर्थ होने से ही संसार त्याग स्थानान्तर चले जाना चाहिये।

ऐसा करनेसे समाजको अक्षम अकर्म्मण्य लोगोंका भार वहन करनेसे छुटकारा मिलता है। फिर भिक्षा प्रदानके कई प्रकृत पात्रोंकी सृष्टि होनेसे, जिसे तिसे भिक्षा देनेका जो दोष है, वह भी समाजमें संगठित हो नहीं सकता। परिवारके लिये यह विशेष उपकार होता है, कि गुरुलोगोंकी बात न माने काम करनेसे परिवारके लोगोंकी जो धर्म्महानि होती है, वह भी न होती। घरके स्वामी वृद्ध अक्षम व स्थविर होते ही यदि घरके बाहर चले जायँ, तो प्रौढ़गण स्वयं ही समझ बूझकर घरका काम चला सकते हैं। तुम बूढ़े

हुए हो, इस समय कैसा समय है, उसे तुम समझ नहीं सकते हो। तुम अपने पहलेके संस्कारके अनुसार किसी कामको करना या न करना चाहते हो। किन्तु तुम्हारे लड़के अच्छी तरह देखते हैं, कि तुम उस विषयमें भूल कर रहे हो। तुम जिस कामके लिये आज्ञा देते या मना करते हो, उसमें बहुत धनक्षति या मानहानि अथवा काम बिगड़नेकी सम्भावना है। वह लोग क्या करें? तुम बाप मा या और कोई बड़े बूढ़े हो। तुम्हारी बात न माननेसे तुम्हें बहुत ही बुरा जान पड़ेगा। तुम्हारी बात माननेसे उनका नुकसान होता है। तुम्हारी वञ्चना करनेके अतिरिक्त उनके लिये दूसरा उपाय नहीं। किन्तु ऐसा करनेसे क्या वह कपटाचारी न होंगे? और इससे उनका स्वभाव दुष्ट और तुम्हारे प्रति उनके चित्तकी श्रद्धा दूर न होगी? अतएव जिसकी धर्म्मोन्नतिके लिये तुमने चिरजीवन इतना यत्न किया है, इस समय उनके बीच रह उनकी माया न छोड़ सकनेके कारण उनके धर्म्ममें व्याघात न पहुँचाओ। उनके जीवनपथमें कांटा न बनो। तुम जिनकी चिरभक्तिके पात्र थे, उनकी वञ्चनाकी सामग्री न बनो। उनकी गाली न सुनो। उन्हें छोड़ चले जाओ। यदि अपनी जीविकाका कोई उपाय हो, तो कोई बात ही नहीं; तुम स्वतन्त्र हो रह सकते हो; शास्त्रालोचना, धर्म्मचर्च्चा, शिष्टालापादिमें बाकी जीवन बिता सकते हो। यदि अपने पास कुछ न हो, और पुत्रादिपर ही सब कुछ निर्भर करना पड़े, तो उनपर जितना कम व्यय भार दे सको, उतना ही अच्छा है। किन्तु तब भी स्वतन्त्र हो रहनेकी चेष्टा करो। अपने अवश्य करणीय काम अपने हाथ करनेसे शरीर बहुत मजबूत रहता है। अतएव अपने हाथ बनाके खाओ। अपने व्यवहारका जलादि स्वयं संग्रह करो। अपने बासन आप ही मांजो। इससे तुम अच्छे रहोगे, खर्च भी कम लगेगा, लड़कोंपर भार भी कम पड़ेगा। यदि पुत्रादिसे सहज ही साहाय्य पानेकी संभावना न हो, तो बल्के भिक्षा मांगकर खाओ, तब भी उनके गलेके ग्रह न बनो। कारण, बड़ोंके गल ग्रह बननेसे पुत्रादिकी धर्म्महानि होनेकी सम्भावना है।

हमारी इन सब बातोंसे लोग समझेंगे, कि हम वृद्धोंको निर्मम बनने अर्थात् परिजनके प्रति प्रीतिममता परिशून्य होनेको नहीं कह रहे हैं। हम प्रीति और ममता बढ़ानेके लियेही कह रहे हैं, और परिजनगणकी धर्म्मरक्षाके अनुकूल जो व्यवहार है, उसीका उपदेश दे रहे हैं। तुम वृद्ध और अक्षम हो गये हो, अपने घरसे अलग हो रहो। तुम अपने परिजनगणको अपनी

आज्ञाका लङ्घन और अपनी नाराजीके भयसे अपनी वञ्चना करनेपर बाध्य न करो। एकान्त मनसे तुम्हारी सेवा शुश्रूषा करनेसे भी उन लोगोंकी धर्म्मवृद्धि होती है सही, किन्तु वह तुम्हारे स्वतन्त्रभावसे रहनेपर जैसे अविमिश्रित भावसे होगी, उनके बीच पड़े रहनेसे वैसे अविमिश्रित भावसे न होगी। तुम्हारे उन लोगोंसे दूर रहनेपर वह लोग सुविधा पातेही तुम्हारे पास आयेंगे, तुम्हारी सेवा कर सुखी और धर्म्मके भागी बनेंगे। जब वह लोग घरके झगड़ेसे तङ्ग हैं, राजद्वारमें नालिश कर वकील मुखतारको समझानेमें उद्विग्न हैं, सन्तान-सन्ततिकी पीड़ा दूर करनेके लिये व्याकुल हैं, उस समय तुम्हारी सेवा भी उनके लिये कष्टदायक होगी। उस क्लेश और उस पापके भारसे तुम्हें परिजनगणको अवश्य विमुक्त रखना चाहिये। फ्रान्सियोंकी आईनके अनुसार तिरसठ वर्षके बूढ़े मनुष्य उपार्जनक्षम लड़के से एक आने से तीन आने पर्यंत और पौत्रसे उसका आधा खुराकी लेनेका दावा रख सकते हैं, किन्तु हम वह बात अथवा इस देशमें प्रचलित अङ्गरेजी आईनकी बात नहीं कहते। उस आईनके अनुसार प्रसविनी माताका भी खाने-कपड़ेके लिये योग्य लड़केपर नालिश चल नहीं सकती। हमारे समाजने इस विषयमें जैसी अभिमति धारणकी है, उसीको कुछ स्पष्ट समझाना इस प्रबन्धका उद्देश्य है। कारण इस समय अनेकानेक परिवारमें योग्य सन्तानोंके पिता अर्थोपार्जनसे आसक्त दिखाई देते हैं और पुत्रोंपर वह जो भार देते हैं, उस भारके वहनसे पुत्रगण अनेक स्थलोंमें घबड़ा अपने प्रकृत धर्म्मपथको देख नहीं सकते।

क्यों?—हमने उनके लिये इतना किया, वह हमारे लिये कुछ भी न करेंगे? करेंगे क्यों नहीं। किन्तु उनका दूसरोंके लिये क्लेश पाना सुन तुम्हें क्लेश होता, है या नहीं? वह तो होता नहीं; बल्के जिसके लिये वह कलेश पाते हैं, उसपर तुम्हारा क्रोध होता। तब अपने ही ऊपर कुछ क्रोध क्यों नहीं होता? यह बात नहीं—तुमने जब पुत्रादिके लिये इतना किया है, तो क्या उनसे प्रत्युपकार पानेकी आशासे किया है? यदि ऐसा ही किया है, तो लोग जो कहते और शास्त्र भी कहता है, कि माता पिताका ऋण परिशोध नहीं होता, वह मिथ्या बात है। असलमें ऐसा नहीं। माता पिता पुत्रादिके लिये जो करते हैं, वह ऋण है ही नहीं और ऋण न होनेके कारण उसका परिशोध भी नहीं है।

पारिवारिक प्रबन्ध ।

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०

प्रणीत ।

प्रथम संस्करण ।

श्रीकुमारदेव मुखोपाध्याय द्वारा प्रकाशित ।

श्रीयुत गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबड़,
बनारस सिटीमें मुद्रित ।

१९१७

मूल्य १) एक रुपया ।

पारिवारिक प्रबन्ध ।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ ॥ मनुसंहिता ॥

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय सी० आई० ई०

प्रणीत ।

प्रथम संस्करण ।

श्रीकुमारदेव मुखोपाध्याय द्वारा प्रकाशित ।

19988

मूल्य १) एक रुपया ।

विज्ञापन ।

निम्नलिखित पुस्तकें चूँचुड़ा बङ्गालके विश्वनाथ फण्ड कार्य्यालयमें अथवा असीधाम असीसंगम बनारस शहरमें श्रीकुमार-देव मुखोपाध्यायको लिखनेसे मिलती हैं ।

विषय-सूची ।

विषय.	पृष्ठ.

उत्सर्ग।

मैं कौन हूं, और किस हेतु उत्पन्न हुआ? जिस प्रकार वृक्षमें पत्ते होते हैं क्या वैसे ही मैं भी तो नहीं हुआ? मेरा यह 'मैं' पदार्थ कुछ प्राकृतिक शक्तियोंका आवेश तो नहीं है? तो मेरा रहना ही क्या, और न रहना ही क्या?

मन कुछ चाहता है परन्तु पाता नहीं–क्या चाहता है यह भी नहीं जानता। जो लोग शैशवमें मुझे गोदमें लिये रहते और अपना कहते थे, उनमेंसे अनेक अब नहीं हैं और जो हैं वे भी न रहेंगे। पृथ्वी श्मशान भूमि है–यहां रहनेसे क्या प्रयोजन?

मनका यह भाव था, ऐसे समय एक देवीमूर्त्ति मेरे सामने आई–मेरे दोनों नेत्रोंसे नेत्र मिलाये—मेरे हाथोंमें हाथ दिये–बोली 'मैं' तुम्हारी हूं।'

'मेरा' कोई है, तो 'मैं' एक व्यक्ति हूं! मैं रहूंगा, कार्य करूंगा, बढ़ूंगा और बढ़ाऊंगा। इति स्थिति-विधायिनी।

अन्तर्दृष्टि अतीत कालकी ओर गई और फिर पृथ्वी श्मशानभूमिके समान नहीं जान पड़ी। वर्त्तमान काल देवीकी हास्य-प्रभासे रञ्जित होकर आशाके पटलपर चित्रित भविष्यत्कालके साथ मिल गया। धरातलपर एक रमणीय उद्यान प्रतिष्ठित देखा। यह उद्यान देवीकी क्रीड़ाभूमि है।–इति आश्रम विधायिनी।

क्रीड़ारस अनन्त धाराओंमें प्रवाहित होने लगा। समग्र विश्व-ब्रह्माण्ड इस उद्यान–वाटिकामें प्रतिभात हो गया। आद्याशक्तिमें आकर्षणीका स्वरूप उपलब्ध हुआ। जड़ जगत्में चिन्मयता देख पड़ी।–इति लीलामयी।

मुखकी हँसी अब मुखमें नहीं समाती! पद पद पर फूल खिल उठते हैं, प्रति दृष्टिपातपर चन्द्रमाकी किरणें बरस पड़ती हैं।—इति आनन्दमयी।

किसी वस्तुका अभाव नहीं–किसी विषयकी अस्थिरता नहीं। सब कुछ ठीक है। जिसपर दृष्टि पड़ती है वही उछलने लगता है। जिसमें हाथ लगता है वही शोभामय हो जाता है।–इति गृहलक्ष्मी।

देखते ही देखते एक एक करके कई शिशुमूर्त्तियां इस उद्यान वाटिकामें देख पड़ीं। उनके शरीरमें देवीके और अपने दोनोंके अवयव एकत्र सम्मिलित देखें। हृदय ममतासे भर गया। उन सभोंको नितान्त अपना समझा। और समझकर कृतार्थ हो गया।—इति वरप्रदायिनी।

वर पाकर बड़ा ही आनन्द और उत्साह हुआ! जड़ जगत्को प्रत्यक्ष चिन्मय जगत् देखा। अपनी शक्तिको असीम समझा। बिना भयसे कांपे और बिना रागद्वेषके चित्तरूपी पर्वत इतना उन्नत हुआ मानों आकाश छूने लगा और श्रमशीलता, कार्यतत्परता व प्ररिणामदर्शिता इस पर्वतके शिखरपर दृढ़ होकर जा बैठीं।—इति सामर्थ्य-विधायिनी।

ऐ! यह क्या हुआ? वह—वह सबसे प्रथम—वह साक्षात् देवतुल्य शक्तिसम्पन्न-कहां चला गया?-अब यहां न रहूंगा। वृक्ष वाटिकासे बाहर निकलकर वह जहां गया है वहीं जाऊंगा! बाहर निकलनेको था-इतनेमें हाथ पकड़ लिया-पास ही एक पेड़ था उसकी ओर उङ्गली दिखलाई। पेड़के नीचे बहुतसी कच्ची फलियां पड़ी थीं। नेत्रोंमें आँसू भरकर रूंधे कण्ठसे गद्गद होकर कहा—'जितनी बौर होती है उतने फल नहीं लगते।' मैं समझ गया। रुक गया।—इति प्रबोधदायिनी।

यह क्या हो गया?—वे कहां हैं?—जिनको नितान्त अपना समझता था वे भी अब इतने आत्मीय प्रतीत नहीं होते। मानों सभी मुझसे दूर होते जाते हैं! मैं फिर संसारमें 'अकेला' हो गया! मेरे लिये पृथ्वी फिर 'श्मशान' बन गई! ज्यों ही मनमें इस प्रकार सोचने लगा त्यों ही वहांसे अशरीरिणी वाणी निकली-"शोक न करो-अब तुम पहलेके समान 'अकेले' नहीं हो सकते, पृथ्वी अब पहलेकी भांति तुम्हारे लिये 'श्मशान' नहीं हो सकती।—तुम्हारा हृदय शून्य नहीं है—तुमने जान लिया है कि पृथ्वी कर्म्मक्षेत्र है।"-इति हृदयाधिष्ठात्री।

क्या जगत् अब भी मेरा कर्म्मक्षेत्र है? मैं क्यों और किसके लिये काम करूं? मेरा हृदय एकदम टूट गया है, मुझमें साहस नहीं। उसी समय हृदयसे वाणी निकली—'जगत् श्मशान नहीं है, आवास-वाटिका भी नहीं है। इस बातकी शिक्षा तुम पा चुके हो कि यह कर्म्मक्षेत्र है। तुममें साहस नहीं तो साहस किसमें है? यदि साहस नहीं है तो मरनेसे क्यों नहीं डरते?'—इति यम-भयनिवारिणी।

जो प्रकृतिशक्ति उल्लिखित दस प्रकारके रूपोंमें मुझे प्रत्यक्षगोचर हुई हैं उनके प्रति उत्सर्ग करके भक्ति और प्रीतिके साथ भारतीय स्त्री पुरुषोंके हाथोंमें यह पुस्तक समर्पण करता हूं। लेखक।

———o———

सूचना।

आकाशमार्गपर सूर्य चलते हैं, तुम भी देखते हो—मैं भी देखता हूँ। परन्तु सूर्यकी जो विशेष किरण तुम्हारे नेत्रोंपर पड़कर जैसा प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती है वही किरण मेरे नेत्रोंपर पड़कर वैसा सूर्यदर्शन ज्ञान नहीं उत्पन्न करती। हम दोनों एक ही सूर्यके दो भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब देखते हैं। सबके लिये ऐसा ही है। तुम जो सूर्यको देखते हो तो अपने नेत्रोंकी ज्योतिसे देखते हो, दूसरेके नेत्रोंकी ज्योतिसे नहीं।

मनुष्यके सम्बन्धमें सत्यका ज्ञान भी ठीक इसी प्रकार है। जिस प्रकार सूर्य एक है उसी प्रकार सत्य भी एक है। परन्तु एक व्यक्ति सत्यका जैसा ज्ञान प्राप्त करता है अन्य व्यक्ति ठीक वैसा ही ज्ञान नहीं प्राप्त करता। जिस प्रकारके शरीर और प्रकृतिके साथ मैंने संसारमें जन्म पाया है और जो शिक्षा और साहस प्राप्त किया है वेही मेरे पक्षमें सत्यप्राप्तिके लिये ज्योतिके समान हैं। तुमने पिता मातासे जो देह और स्वभाव पाया है और जिस प्रकार प्रतिपालित और शिक्षित हुए हो वही तुम्हारे सत्यज्ञान पानेका उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिकी जानकारी भिन्न है, अतएव सत्यके पानेका पथ भी भिन्न है।

विभिन्न किरणोंसे उत्पन्न सूर्य्यका विभिन्न प्रतिविम्ब जैसे साधारणतः एक प्रकारका होता—यहांतक एक, कि उसपर भिन्न भिन्न मनुष्योंका विचार कुछ भी भिन्न जान नहीं पड़ता वैसे ही किसी दो मनुष्यकी समझ चाहे एक प्रकारकी न भी हो तब भी यहांतक एक होती, कि प्रायः सब विषयोंमें ही परस्पर बातचीत और मनोगत भावका काम अनायास चलता है। हमारी समझ में जो सत्य माना गया है तुम्हारी समझ भी उसे ही सत्य समझती है, ऐसी समझ न होती, तो मनुष्य-समाजकी पुष्टि न होती—देशभाषा न होती—आपसमें बातचीत न होती—वादानुवाद न चलता—ग्रन्थ रचना भी न होती।

अपनी जातिकी पारिवारिक अवस्था और व्यवहारके विषयमें हमने जैसा देखा, समझा और किया है, दूसरे और किसी मनुष्यने ठीक वैसा ही न देखा, न समझा और न किया सही; किन्तु जो हमारे द्वारा देखा, समझा और किया गया है, वह दूसरेके देखने, समझने और करनेसे सम्पूर्ण ही भिन्न भी हो

नहीं सकता। ऐसा न समझनेसे हम इन कई एक प्रबन्धोंको लोगोंके आगे प्रचारित न करते।

अपनी पारिवारिक अवस्था मुझे अच्छी लगी है। जिसलिये व जिस प्रकारसे अच्छी लगी है, उसे प्रकट करनेमें हम प्रवृत्त हुए हैं। यदि प्रबन्धोंमें भी चिन्ताकी बातें ठीक ठीक कही जा सकी होंगी, तो स्वजातीय दूसरे मनुष्यके चित्तमेंभी अपनी अपनी पारिवारिक अवस्था अच्छी जान पड़ेगी और उसके समझनेसे इस पराधीन, हीनवीर्य्य, अवज्ञात जातिके भीतर उन्हें जन्म लेना निरंतर विड़म्बना जान न पड़ेगी। कारण, उपासमा-प्रणाली कहो, धर्म्मप्रणाली कहो, सामाजिक प्रणाली कहो, या शासन प्रणाली ही कहो, एक परिवारिक अवस्था ही सबका निदानभूत है।

हमलोगोंका पारिवारिक सुख अधिक है—यह कुछ सामान्य नहीं; यदि पारिवारिक सुख अधिक है, तो धर्म्म भी अधिक है और धर्म्मके अधिक होनेसे कभी न कभी अवश्य ही महिमा भी उत्पन्न हो सकती है।

———

बाल्य-विवाह ।

———o———

आजकल कितने ही लोग बाल्य-विवाह प्रथाकी निन्दा किया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि वास्तविक विचार पूर्वक न होनेसे बाल्य-विवाहमें कितने ही गुरुतर दोष उत्पन्न हो गये हैं। किन्तु बाल्य-विवाहमें जैसे दोष हैं, वैसे ही गुण भी हैं। जो बाल्य-विवाहकी प्रणालीमें केवल दोष ही देखते हैं, उसका गुण नहीं देखते, उन्हें अङ्गरेजोंका निरवच्छिन्न अनुचिकीर्षुकी गाली देनेमें कोई अन्याय नहीं।

हालमें एक सरलचेता बहुदर्शी अङ्गरेजके साथ बाल्य-विवाहके सम्बन्धमें हमसे बात चीत हुई थी। कुछ देर विचार कर उन्होंने कहा कि, बाल्य-विवाहकी प्रणालीमें जातिगत शान्ति और व्यक्तिगत सुखका आधिक्य तथा अधिक उमरके विवाह की प्रणाली में जातिगत उद्यम और व्यक्तिगत ओजस्विता का आधिक्य दिखाई देता है। यह कह कर उन्होंने फिर कुछ विचार कर कहा कि, दोनो ही प्रणाली में सामञ्जस्यके विधान का कोई पथ दिखाई नहीं देता। हमने कहा—जान पड़ता है कि, हमारे प्राचीन व्यवस्थापकोंने इसी सामञ्जस्यके विधान के उद्देश्यसे स्त्रीका वयस कम और पुरुषका वयस अधिक रखकर विवाह की प्रणाली का नियम संस्थापित किया था। उन लोगों ने कहा था कि तीस वर्षके वयसका पुरुष बारह वर्षकी मनोगत कन्यासे विवाह करें। अङ्गरेजने कहा कि इससे भी नहीं चलता। माताके कच्चे शरीरसे उत्पन्न सन्तान सुस्थ और सबल शरीर नहीं होती। हमने कहा कि आप लोगों की भाषामें पशु पालनके सम्बन्धमें जितनी पुस्तकें प्रचलित हैं उनमें नये और लोगोंके माननीय किसी ग्रन्थमें ऐसी कोई बात नहीं है—पिताके शरीरके यथायोग्य पूर्ण होने पर ही सन्तान सर्वाङ्गपूर्ण और सबलकाय हो सकती है। पशुजनन के लिये यही मत है। अङ्गरेजने कुछ विचार कर कहा कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि का परिपाक थोड़े वयसमें ही हो जाता है, सुतरां पुरुष का वयस अधिक और स्त्री का कम रहने पर ही विवाह करना उचित है इससे सभी कुछ ठीक दिखाई देता है, प्रणय, शान्ति और सुख अधिक होता है और उद्यम, ओजस्विताके उत्पन्न होने का भी अवसर रहता है और सन्तान भी दुर्बल नहीं होती। हमने कहा कि वर्तमान

अवस्थामें भी हिन्दू दम्पतीके पिता माता के कुछ परिणामदर्शी होने पर और उनके स्वयं कुछ तपस्यापरायण होने पर वे सब शुभ फल दिखाई दे सकते हैं।

साधारणतः विचार करनेसे भी अधिक वयसका विवाह अच्छा नहीं दिखता है। १६। २० वर्षकी जो युवती २४। २५ वर्षके किसी पुरुषको प्राप्त करके अपने मा, बाप, भाई, बहन प्रभृति बचपनके समस्त सहचरोंको परित्याग कर सकती है वह कैसी 'लज्जाभयविभूषणा है, इसका अनुभव भी किया जा नहीं सकता। बचपनसे मा बाप जिन दोनोंको मिला देते हैं, वह दोनों एकत्र रहते रहते धीरे धीरे दो नवीन लताओंकी तरह एक दूसरे-से मिलकर एक हो जाते हैं। उनमें जैसे चिरस्थायी प्रणयके उत्पन्न होने-की सम्भावना है, अधिक वयस के विवाहसे वैसा प्रणय कैसे उत्पन्न होगा? उस समय मन पक्का हो जाता है, अभ्यास स्थिर होता है और चरित्र निर्दिष्ट पथका अवलम्बन करता है; फिर क्या वह दोनों आपसमें मिल एकता-सम्पन्न हो सकते हैं? फलतः दम्पतीमें परस्पर प्रणयाधिक्य उत्पन्न करना ही यदि विवाहकी प्रणालीका मुख्यतम साक्षात् उद्देश्य माना जाता है, तो इस विषयमें कुछ भी संशय रह नहीं जाता, कि बाल्यविवाह वयोधिक-विवाहकी अपेक्षा अच्छा है। बचपनका प्रेम ही प्रेम है। मा बापके प्रति, भाई बहनके प्रति, खेलनेवालोंके साथ चित्तका जैसा कोमल भाव बचपनमें रहता है, वयस अधिक होनेपर जिनके साथ परिचय होता है, उनसे प्रायः ही मन वैसा नहीं लगता। बचपनके किसी मित्रके दोषको पकड़नेकी इच्छा नही होती। वह जो करते, वही अच्छा जान पडता; जो कहते हैं वही मधुर जान पडता है। उनमें किसीको भी देखने, याद करने या नाम सुननेसे मन सरल और आर्द्र हो जाता है। बचपनके समय दाम्पत्य प्रणयका बीज न बो जो लोग बिलम्ब करते हैं, वह प्रणयपीयूषके सच्चे रसास्वादनसे बिलकुल ही वञ्चित रहते हैं।

एक बात यह भी है, कि वयस अधिक होने और बुद्धिके पकने पर एक दूसरेके स्वभाव और चरित्रको समझ युवक-युवती विवाहसूत्रमें सम्बद्ध हो सकते हैं; किन्तु यह बात केवल कहनेके लिये है। दूसरेके स्वभाव चरित्रकी परीक्षा करना कोई सहज काम नहीं। इस काममें बहुत ही सुविज्ञ बहुदर्शी मनुष्योंको भी पद पदपर भ्रम होता है। १६। २० वर्ष-

की स्त्री और २४।२५ वर्षके पुरुषकी तो बात ही नहीं। उस वयसमें इन्द्रिय-वृत्ति प्रबल, कल्पनाशक्ति तेजस्विनी और अनुराग एकबारगी ही उन्मुख होता है। परस्परके स्वभावकी परीक्षामें जिस विवेक और धैर्य्यका प्रयोजन है, वह उस समय प्रायः अकर्मण्य होता है। एक सुतीक्ष्ण कटाक्ष, थोड़ा मृदु मधुर हास्य, कुछ अङ्गकी बनावटका वैचित्र्य उस समय एकाएक मनोदुर्गपर अधिकार कर लेता है; स्वभाव, चरित्र, रुचिकी परीक्षाका अवसर नहीं मिलता। इसलिये अधिक वयसका विवाह साधारणतः चिरस्थायी सच्चे प्रेमका उत्पन्न करनेवाला हो नहीं सकता।

देखो, जिस देशमें अधिक वयसमें विवाह करनेका नियम है, उस देशमें ही विवाहके तोड़नेकी व्यवस्था भी प्रचलित है *। यदि अच्छी तरह स्वभाव आदिकी परीक्षा हो सकती तो ऐसा क्यों होता? फलतः अन्ध अनुराग प्रणोदित विवाहके बन्धनमें सच्चे प्रणयके उत्पन्न होनेकी सम्भावना कठिन है। इसलिये दूसरा कारण उत्पन्न होने पर उस बन्धनकी रक्षा और दृढ़ताका संपादन न करनेसे वह आप ही विच्छिन्न और स्खलित हो पड़ता है। अङ्गरेज लोग अधिक वयसमें विवाह करते हैं, उनके देशमें विवाह तोड़नेकी भी व्यवस्था है। आजकल यह व्यवस्था उन लोगोंकी इच्छाके अनुरूप सहज न होनेके कारण वह लोग बड़े ही दुःखी हैं। अमेरिकन लोगोंके देशमें भी अधिक वयसमें विवाह करनेका नियम है। आजकल कितने ही लोग उस देशमें विवाहकी प्रथाके उठा देनेका मत प्रचलित करते हैं। यदि उन सब देशोंमें विवाहका बन्धन सुखका बन्धन होता, तो उस बन्धनको तोड़नेके लिये इतना यत्न और इतना आग्रह क्यों होता? वस्तुतः जहां जितने अधिक वयसमें विवाह करनेकी प्रथा प्रचलित है, वहाँ ही इस प्रकारके कितने ही झमेले खड़े होते हैं। वह अधिक वयसमें विवाहके अवश्यम्भावी फल माने जाते हैं।

स्पेन, इटली, ग्रीस प्रभृति देशकी स्त्रियां भी तो लिखना पढ़ना सीखती हैं, किन्तु इङ्गलेण्ड और अमेरिकाकी तरह उन सब देशोंमें अबतक स्वेच्छा-विवाहकी प्रथा प्रचलित नहीं! हमारे विचारसे उन सब देशोंमें अपेक्षाकृत कम वयसमें विवाह होनेके कारण दम्पतीका परस्पर प्रेम अधिक है।

नोट—* कनेकटिकट प्रदेशमें प्रति दशमे एक और कालिफार्नियामें प्रति सैकड़े एक विवाह विच्छेद होता है।

किसी किसी अङ्गरेज पर्य्यटकने कहा है सही कि स्पेन, इटली प्रभृति जिन सब देशोंमें बाल्यविवाहकी प्रथा प्रचलित है, वहां कार्यतः विवाहका बन्धन बहुत ही शिथिल है । वे लोग कहते हैं, कि उन सब देशोंके स्त्री-पुरुष दोनो ही उच्छृङ्खल और भ्रष्टाचारी हैं। किन्तु वे सब पर्य्यटकगण साध्वी स्त्री जातिकी पवित्र आवास भूमि भारतवर्षके प्रति भी वैसा ही कटाक्ष किया करते हैं । सुतरां उन लोगोंको लघुप्रकृतिक समझ उनकी समस्त बातोंको अश्रद्धेय मानना ही ठीक है ।

जिस देशमें अधिक वयसमें विवाह होता है, उस देशमें ही विवाह-बन्धन शिथिल और दम्पती का प्रेम अन्ध अनुरागमूलक होनेके कारण अचिर स्थायी होता है ।

२ प्रबन्ध ।

दाम्पत्य-प्रेम ।

प्रेम कौनसा पदार्थ है ? सर्व्वसाधारणकी सम्मतिसे इसका उत्तर बहुत ही कठिन है । प्रेमकी वर्णनामें कितने ही सङ्गीत, काव्य और कहानियां रची गई हैं. फिर वह सब रचनायें सर्व्वसाधारणकी बातचीतमें ऐसी मिल गई हैं, कि प्रायः प्रेमके सम्बन्धमें रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कार वर्जित कोई बात ही सुनाई नहीं देती । 'जगदीश्वर प्रेममय हैं' प्रीतिपुष्प ही परमेश्वरका पवित्र उपहार है' 'प्रेम ही जीवनका जीवन और प्राणका प्राण है' 'प्रेमसुख ही स्वर्गसुख है'। 'जिनके शरीरमें प्रेम है, वह जीवन्मुक्त हैं'—जान पड़ता है, कि यह सब बातें पृथिवीके सब देशोंकी सब भाषाओंमें ही प्रचलित हैं । किन्तु विचार कर देखनेसे इन सब बातोंसे साधारण मनुष्य समाजके समझने योग्य किसी प्रकारका भावार्थ नहीं मिलता । 'जगदीश्वर ' 'परमेस्वर' 'स्वर्ग' 'मुक्ति' यह सब शब्द अनादि और अनन्त पदार्थोंका लक्ष्य करते हैं । किन्तु मनुष्यकी सीमाबद्ध बुद्धि वृत्ति उन सब असीम पदार्थोंकी समानताके समझनेमें बिलकुल ही अशक्त है । सुतरां इन सब शब्दोंद्वारा प्रकृत प्रस्तावमें किसी पदार्थका सुपरिस्फुट बोध हो नहीं सकता । 'जीवनका जीवन', 'प्राणका प्राण' आदि शब्द भी उस दोषसे दूषित हैं । जीवन और प्राण क्या ? हमलोग इसे ही नहीं समझते, तब जीवनका भी जीवन, प्राणका भी प्राण क्या है, वह कैसे समझमें आसकेगा ?

अतएव साधारणतः प्रणय शब्दके समझनेकी चेष्टा न कर हमलोग जिस गाढ़े प्रेमको अपनी अपनी आंखों देखते हैं, उसकी ही प्रकृति की आलोचना करनी चाहिये । दाम्पत्य-प्रेम ही संसारी जीवोंके लिये सब प्रेमोंकी अपेक्षा अधिक गहरा है । शास्त्रकार, कवि और उपन्यास रचयिताओंने पवित्र दाम्पत्य-प्रेमको ही प्रेमका सर्व्वोत्कृष्ट आदर्श ठहराया है । परम भागवतगणका ऐसा अभिमत है, कि जीवात्मा और परमात्माका ऐसा कोई सम्बन्ध होनेसे उससे मुक्तिफल मिलता है ।

दाम्पत्य-प्रेमका सबसे प्रधान लक्षण दम्पतीके आपसके मनोभावका आकर्षण है । उसी आकर्षणका एक हेतु शरीरी जीवोंका शरीरधर्मविशेष है । यह

आप ही होने वाली वस्तु है—मौलिक पदार्थ है—इसकी अपेक्षा और भी सूक्ष्मतर कोई मूल पाया नहीं जाता।

आकर्षणका दूसरा कारण सौन्दर्य्यका बोध है। पति, पत्नीको और पत्नी पतिको सुन्दर देखें—अन्यान्य सब पुरुषोंकी अपेक्षा और अन्यान्य सब स्त्रियोंकी अपेक्षा सुन्दर देखें; प्रेमका यह उपादान पूर्ण स्वतःसिद्ध मौलिक पदार्थ जान नहीं पड़ता। देखो, पृथिवीके सब देशोंके, सब लोगोंके सौन्दर्य्यका बोध समान नहीं होता। सबका समान होना तो दूरकी बात; जान पड़ता है, कि दो मनुष्योंका सौन्दर्य्य बोध सब प्रकारसे एक नहीं होता। यदि सब स्त्री और सब पुरुष चित्र विद्यामें पारग होते, और सभी अपनी इच्छाके अनुरूप सुन्दर मूर्त्ति खींच कर दिखा सकते, तो कोई दो चित्र ठीक एक ही प्रकारका न होता। सौन्दर्यके बोधके भीतर स्नेह, भक्ति, कृतज्ञता आदि मनोभाव गूढ़ रूपसे भरे हुए हैं। सुतरां सौन्दर्य्यके समझनेकी शक्ति प्राणिमात्रके लिये स्वभावसिद्ध होने पर भी वह शक्ति विभिन्न मनुष्योंमें पृथक् जान पड़ती। समझ लो कि तुम्हारा पाँच वर्षका वयस था, जब तुम्हारी माताने कभी यह कहा था कि किसी पड़ोसन कन्याके साथ वह तुम्हारा विवाह कर देंगी। वह कामिनी तुम्हारी बाल्यक्रीड़ाकी सहचरी थी। तुम दोनों वर-कन्या बन खेला करते थे। तुम उसे चाहते थे। विचार कर देखो, कि उसका वह मुँह, वह आंखें, आज भी तुम्हारे हृदयमें सुन्दर मुख और सुन्दर आंखोंके लिये आदर्श बनी हुई हैं। स्पष्ट यह है कि अवस्था, शिक्षा, संसर्ग आदि के कारण भिन्न भिन्न मनुष्योंके मनमें सौन्दर्य्यका भिन्न भिन्न आदर्श होता है। इस बात की भी एक मूल बात है, कि जगत्‌में कुछ भी असुन्दर नहीं है। नारायण विश्वव्यापी और लक्ष्मी शोभादेवी—उनके वक्षःस्थल पर विराजिता हैं। देखनेवालेके अवस्थानके भेदसे शोभादेवीका कोई अङ्ग किसीकी आंखोंको आकर्षित करता और किसीकी आंखोंको आकर्षित नहीं भी करता। कोई उनके सुप्रसन्न कपोल, कोई उनके आनन्दोद्दीपक आयत लोचन, कोई उनके सुगोल दोनों हाथ, कोई उनके चरण पद्मका दर्शन पाकर ही विमुग्ध हो रहे हैं। असुन्दर पदार्थको कोई नहीं चाहता। किन्तु सम्पूर्ण सौन्दर्य्यकी उपलब्धि भी किसीके भाग्यमें नहीं होती है। पूर्ण ज्ञानानन्द और पूर्ण शोभा अभिन्न पदार्थ हैं।

स्त्री पुरुषोंके परस्पर आकर्षणका तीसरा कारण परस्परके गुणकी उपलब्धि है। सौन्दर्य्यके सम्बन्धमें जो कहा गया है, गुणके सम्बन्धमें भी वही सब

बातें ठीक हैं। पृथिवीमें बिलकुल ही गुणहीन कोई नहीं है। तब भी तुम्हारे लिये जो प्रयोजनीय है, उस प्रयोजनको जो पूरा कर सकते हैं,—वही तुम्हारे लिये गुणशाली हैं। तुम उनके गुणको ही देखते हो, उसी गुणके वशीभूत हो। वस्तुतः गुणकी उपलब्धि सौन्दर्य्यकी उपलब्धिकी तरह मनुष्यकी अवस्थाके भेदसे भिन्न होती है और जो अवस्थाके भेदसे भिन्न होता, वह अवश्य ही शिक्षाके सापेक्ष है, सुतरां मनुष्यके यत्नसे मिलता है। यदि ऐसा है, तो दम्पतीके परस्पर प्रणयाकर्षणके तीन हेतुओंका हम इच्छानुरूप प्रयोग कर सकते हैं। हम लोग एक कुमार और एक कुमारीको इस प्रकार रख सकते हैं, जिससे प्रथमतः वह दोनों यथा समय स्वतःसिद्ध शारीर-धर्मके प्रभावसे एक दूसरेसे आकृष्ट होगा; द्वितीयतः वह दोनों एक दूसरेके सौन्दर्य्यकी उपलब्धि करेंगे और तृतीयतः वह दोनों एक दूसरेके गुणके उत्कर्षका अनुभव करेंगे।

हम लोगोंमें जो बाल्यविवाह प्रचलित हुआ है, उसमें ही दाम्पत्य-प्रेमके सञ्चारित और सम्बर्द्धित करनेका उपाय हम लोगोंके हाथ है। मा-बाप और सास-ससुर यदि बहुत ही नीचाशय, निर्बोध अथवा दुष्ट प्रकृतिके न हों, तो अनायास ही वह लोग पुत्र पुत्रबधू, कन्या दामादमें प्रेमके सञ्चारकी बहुत ही अच्छी व्यवस्था कर सकते हैं। सास-ससुर दामादके प्रति अनुरागबद्ध हो उसके रूप गुणादिकी प्रशंसा करें; मा-बाप पुत्रबधूके प्रति सच्चा स्नेह रख उसके रूप गुणकी व्याख्या करें। अच्छा देखनेकी इच्छासे ही अच्छा दिखाई देता है। इस प्रकार दामाद कन्या और पुत्र-पुत्रबधूके मनको परस्पर के रूप गुण देखनेके लिये उन्मुख कर देना चाहिये। उन्मुख होनेसे ही वह देख सकेंगे और देखनेसे ही दोनो आकृष्ट प्रेमरससे अभिषिक्त और सौन्दर्य्यके बन्धनसे बँध जायेंगे। इसलिये हम लोगोंके देशमें दाम्पत्यप्रेम दुष्प्राप्य वन-फल नहीं है। यह बाल्यविवाहके क्षेत्रमें यथोचित कर्षण और सेचनका फल है। इसलिये ही यह इतना सरस और सुमिष्ट है।

'प्रणय हमारा अनायत्त मनोभाव है, यह एकाएक बलपूर्वक आकर्षण कर मनोभाण्डारको लूट लेता है,—' प्रेम स्वाधीनभाव है ' इसे कोई इच्छाके वशीभूत कर नहीं सकता,-इन सब बातोंसे कितनी ही उच्छृङ्खलता और अनिष्टाचारकी सृष्टि हुई है, उसका कहना कठिन है। इन सब उपदेशोंके प्रभावसे कितने ही सुखके घर उजड़े, कितनी ही पवित्र आत्मायें कलङ्कित हुईं और

कितनो हीकी सुन्दर बुद्धि विकृत हो गई है! यह सब मत कितने ही दुःख और दुश्चरित्रताका हेतुभूत है।

हमारे विचारसे प्रेम स्त्री-पुरुषोंका शिरोभूषण मुकुट स्वरूप है। वह राह-घाट या जहां-तहां पड़ा हुआ नहीं मिलता। उसे बहुत ही यत्नसे गढ़ कर तय्यार करना पड़ता है। प्रेम खिला हुआ हृदय-कमल है। वह एक बारगी ही खिल नहीं उठता। बहुत ही धीरे धीरे बढ़ता है—पहले नाल, फिर वृन्त, इसके बाद कलीके रूपमें अवस्थित होता है। अन्तमें वायु, जल और तापके संयोगसे धीरे धीरे खिलता है। प्रेमपदार्थ अभीष्ट देवता है। गुरुके मन्त्र देते ही सिद्धि नहीं मिल जाती। जप, तप, ध्यान धारणादि करते करते क्रमसे मन्त्रमें चैतन्यता और तपकी सिद्धि होती है।

हम लोगोंके लिये सच्चे दाम्पत्य-प्रेमके पानेकी जितनी सुविधा है, उतनी और किसी जातिमें नहीं है। जो लोग भारतभूमिमें जन्म ले इस सुखमय, धर्म्ममय, आनन्दमय, दाम्पत्य-प्रेमके पानेके अधिकारी होकर भी मायाविनी, अनुचिकीर्षा द्वारा छले जाते हैं उनके लिये कैसी विड़म्बना है!

---

३ प्रबन्ध।

विवाह संस्कार।

हमारे देशमें बिना विवाहके कोई नहीं रहता, उससे देशका जैसा अनिष्ट होता है उसके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना उचित नहीं है। विवाह-संस्कार कैसा संस्कार है अर्थात् कैसे पवित्रता सम्पादक हुआ, उसे ही कुछ झलका देनेकी हमारी इच्छा है।

मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। समस्त ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थल अहं बिन्दु है। अपनी आँख खोलनेसे ही सृष्टि और बन्द करनेसे ही प्रलय है। अपना सुख दुःख मनुष्यके मनमें जैसे दृढ़रूपसे बैठता है, दूसरेका सुख दुःख वैसा नहीं जान पड़ता। किसी आत्मीय मनुष्यकी मर्म्मान्तिक यातना देखते हृदय विदीर्ण हो जाता है सही, जगत् शून्यमय दिखाई देता है सही, किन्तु अपनी कानी उँगलीके अगले भागमें दीपशिखा जैसी जलन होनेसे उस समय जैसी ज्वाला जान पड़ती है और उससे जैसा ताप पहुँचता है, या उद्विग्न होना पड़ता है दूसरेके दुःखसे वैसी ज्वाला या वैसा उद्वेग जान नहीं पड़ता। हमने देखा है, कि एक मनुष्य अपने मित्रकी पीड़ाका समाचार पाकर उन्हें देखनेके लिये रेलगाड़ीसे आ रहे थे। आनेके समय उनकी आँखमें कोयलेकी एक किर-किरी पड़ गई। उन्होंने आकर देखा कि उनके मित्रकी मृत्यु हुई है। किन्तु वह अपनी आँखके धोनेमें ही व्यग्र रहे। उस समय मित्रके वियोगकी यातना उन्हें वैसी जान नहीं पड़ी। उनकी आंखोंसे जो आँसू गिरे, उसका कारण बन्धु-वियोग नहीं, कोयलेकी किरकिरी था।

हम यहाँ पौराणिक अथवा ऐतिहासिक वीर पुरुषोंकी बात कह नहीं रहे हैं। जो अपनी इच्छासे जलती हुई आगमें हाथ डाल देते, अथवा अपने सौन्दर्य्यका नमूना दिखानेके लिये अपने हाथ काटे, अपने हाथको भेज देते, या दाँतसे जीभ काट डालते अथवा हँसते हुए अपने शरीरके दो टुकड़े कर देते हैं, उन सब नररूपधारी देवताओंकी बात अलग है। सदा जो स्त्रियाँ और पुरुषगण दिखाई देते हैं, उनका शारीरिक सामान्य क्लेश मानसिक विपुल यन्त्रणासे भी गुरुतर जान पड़ता है। सचमें सर्व्वसाधारणमें स्वार्थपरता ही सबसे अधिक प्रबल है। वह प्राबल्य उचित है या अनुचित, उससे जगत्‌के अपकारकी अपेक्षा उपकार अधिक होता है या नहीं, उसका विचार करना निष्प्रयोजन है।

किन्तु स्वार्थपरता चाहे कितनी ही बलवती क्यों न हो, कोई मनुष्य पूरी तरहसे उसके वशमें होनेकी इच्छा नहीं करता। वास्तवमें सभी लोग स्वार्थपरताको कष्टकर समझते हैं। लोकसमाजमें जो सब प्रशंसायें फैली हुई हैं, उनमें दो एकका स्मरण कर लेनेसे ही इस विषयमें मनुष्यकी जैसी गति होती है, वह बहुत कुछ समझमें आ जाती है। 'वह आप भोजन न कर दूसरोंको कराता है, वह अपनी ओर नहीं देखता. केवल परायेकी हितकी चिन्ता करता है'—इन सब बातोंसे ही जान पड़ता है, कि स्वार्थशून्यता बहुत ही प्रशंसनीय है। किन्तु दूसरी ओर दिखाई देता है, कि स्वार्थपरता बहुत ही प्रबल है।

मनुष्यमें जब ऐसा स्वार्थी भाव विराजमान है, तब मनुष्यका स्वयं सुखी और सन्तुष्ट होना कितना कठिन काम है, उसे वह स्वयं ही समझ सकता है। वह असाध्य ही जान पड़ता है। प्रबल स्वार्थपरता सदा अपनी ओर खींचती है, फिर उस आकर्षणके वशीभूत होनेसे ही आत्मग्लानि आकर लाञ्छित करती है। दोनों ही ओर संकट है।

विवाह-प्रणाली सबसे सहज उपाय द्वारा मनुष्यको उस विषय सङ्कटसे पार उतार देती है। स्त्री पुरुष दोनों ही प्रेममें बंध जानेपर एक दूसरेको सन्तुष्ट करनेके लिये बहुत ही उत्सुक होते हैं और उस उत्सुकताको काममें लानेके लिये वह लोग जिन जिन कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, उनसे ही अपनी स्वार्थ सिद्धि हो जाती है। अच्छी तरह खाने पीनेकी सबकी ही इच्छा है सही, किन्तु केवल अपने सुखके लिये उस इच्छाको पूरी करनेसे उसे 'सूअरका पेट भरना' कहते हैं। किन्तु तुम अच्छी तरह खाते हो, यह देखकर और एक आदमीकी आत्मा सन्तुष्ट होगी, ऐसे खानेको 'सूअरका पेट भरना' नहीं—देव-सेवा कहते हैं। इस नश्वर क्षणभरमें विनाश होनेवाली देहके शृङ्गारमें समय बितानेमें किस सहृदय मनुष्यको लज्जा जान नहीं पड़ती? किन्तु तुम प्रियतमके आनन्दको बढ़ानेके लिये अपनी देहका यत्न कर रहे हो, ऐसा विचार आनेसे फिर लज्जा जान न पड़ेगी। इससे यही जान पड़ता है, कि इस देहका जो सौन्दर्य्य है, उसको अपेक्षा कोटि गुण अधिक न होनेसे उन जीवितेश्वरके चरण कमल युगलमें समर्पण करनेके योग्य न होगा। चटक मटकदार बाबू बननेमें किस गम्भीर प्रकृति मनुष्यका मन लगेगा? किन्तु मेरा हृदय उस आनंदमयीके विहारकी भूमि है, यह शरीर उसका ही पीठस्थल है, ऐसी याद आनेसे फिर अपरिच्छन्न या अशुचि रहनेका ठिकाना नहीं रहता। धनके व्यय में

जितना सुख है धनके रखनेमें उतना सुख नहीं है। व्यय करना आरम्भ करनेसे ही दूसरेका दुःखमोचन दिखाई देता है, लोग यश फैलाने लगते हैं, धर्म्म-कार्य्य करनेके कारण आत्मप्रसाद का लाभ होता है। धन रखनेसे मांगनेवाले-की प्रार्थना हटानी पड़ती है, लोग कन्जूसके नामसे निन्दा करते हैं और दान-धर्मके अनुयायी काम न करनेके कारण मनमें ग्लानि उत्पन्न होती है। किन्तु पुत्रकलत्र परिवारवाले मनुष्य इस भयसे व्ययमें सङ्कोच करते हैं, कि कहीं उनके बच्चोंको कष्ट न हो, तब भी वह आत्मग्लानिके भाजन नहीं बनते।

आप खायेंगे और सुख दूसरेको होगा; आप पहनेंगे और तुष्टि दूसरेको होगी; आप धन जमा करेंगे और दूसरेका भावी हितसाधन भी होगा; यह सब भाव विवाह-प्रणालीसे बहुत ही सहजमें और साधारणतः उत्पन्न हुआ करता है। स्वार्थ और परार्थको मिला देना विवाह-संस्कारका ही काम है। विवाह द्वारा ही स्वार्थकी बुद्धि संशोधित हो परार्थके साथ एक हो जाती है—इसलिये ही विवाह बहुत ही प्रधान संस्कार है।

---

४ प्रबन्ध ।

स्त्री-शिक्षा ।

इस प्रबन्धके शीर्षस्थानमें 'स्त्री-शिक्षा' शब्द रहनेके कारण लोग समझ सकते हैं, कि कदाचित् हम बालिका-विद्यालयके समर्थनमें कोई बात कहेंगे । किन्तु वास्तविक हमारा वह अभिप्राय नहीं है । लोग अपनी परिणीता भार्याको कैसी शिक्षा देनेकी चेष्टा करें, उसी सम्बन्धमें हम कई एक बातें कहेंगे ।

हमारे मतसे पौराणिक दो उपमाओंका तात्पर्य्य स्त्रियोंकी प्रथम शिक्षाका विषय है । प्रजापति दक्षराजकी कन्या सती और गिरिराज हिमालयकी कन्या उमा, भिखारी महादेव द्वारा परिणीता हो पिताके ऐश्वर्य-सम्पद्के रहते भी स्वयं भिखारिणी बनी थीं । दूसरी ओर दानवनन्दिनी पौलोमी देवराज इन्द्रकी गृहिणी बन जिस समय सातों स्वर्गकी अर्धीश्वरी बनी थीं, उसी समय उनके माता-पिता, भाई-बहन सभी रसातलमें भी निर्व्विघ्न रह नहीं सके । इन दो उपमाओंसे स्त्रियोंको यही सीखना चाहिये, कि मा, बाप, बहन, इनका सम्पद् या असम्पद् उन्हें स्पर्श न करे । स्वामीका सम्पद् ही उनका सम्पद् है, स्वामीका असम्पद् ही उनका असम्पद् है । अतएव बापका घर कुछ नहीं—ससुरका घर ही घर है ।

विशेष मन लगाकर यह शिक्षायें देनी चाहियें । स्त्रियोंको उनके बापके घरकी अपेक्षा अधिक सम्मानसे रखना चाहिये । विलक्षण समादर और यत्न करना चाहिये । उनके प्रति यथोचित गौरव दिखाना चाहिये । विशेषतः, दूसरे के आगे उनकी त्रुटिकी कोई बात कहनी न चाहिये । कोई त्रुटि देख बहुत ही मीठी बातोंसे उन्हें समझा देना चाहिये । बापके घर यत्न और समादरका मिलना सहज है, किन्तु वहां सम्मान पाना सहज नहीं है । अतएव यत्न और समादरके साथ सम्मान और गौरव प्रदान करना ही नई बहूका ससुरके घर मन लगानेका सबसे अच्छा उपाय है ।

स्त्रीकी दूसरी शिक्षा भी शास्त्रमूलक है । मनोभूमिके जलनेपर उसमें धर्म्माङ्कुर उग नहीं सकता । धर्म्मकार्य्य पवित्र प्रीति बीजका ही शुभमय अङ्कुर है । इसीलिये स्त्री स्वामीके किये धर्म्मकार्य्यके आधे फलकी भागिनी होती है—इसीसे शास्त्रकी यह विधि है, 'सस्त्रीको धर्म्ममाचरेत्' । अतएव सचमुच ही स्त्रीको अपने कामकी फलभागिनी बनानेकी चेष्टा करो । उससे मन खोल परा-

मर्श लेना आरम्भ करो। यौवनावस्थामें तो मनही मन नाना प्रकारके बड़े बड़े कर्मोंकी कल्पना किया करते हो। स्त्रीसे भी उन सब विषयोंकी बातें कहो। वह अशिक्षिता बालिका है—वह उन सब बातों को कुछ भी समझ न सकेगी, ऐसा कभी भूलसे भी न समझना। जो मनमें आवे, वही कहो, जितने ताने मारना चाहो, मारो। ग्रीस, रोम, इङ्गलेण्ड, अमरिकाका इतिहास पढ़ तुमने जितनी वीरता और उदारताका उदाहरण संग्रह किया है, वह सभी कहो, देखोगे, कि वह अशिक्षिता बालिका तुम्हारे सब विवरणोंका मर्म्म ग्रहण करनेमें समर्थ होगी। वीरोंके काममें भी दो, एक भूल दिखा देगी। फिर तुम्हारा मन क्या चाहता है, किस ओर तुम्हारा विशेष अनुराग है, उसे भी निश्चय समझ वह अपने मनको तुम्हारे मनके अनुरूप बनानेकी चेष्टा करेगी। ऐसा होनेसे स्त्री तुम्हारे लिखने, पढ़ने वा कामकाजमें व्याघात न पहुंचावेगी। वरञ्च तुम्हारे मनके अनुसार अनुष्ठानकी उत्तेजिका और सहायिका बन सच्ची सहधर्मिणीके पदपर बैठेगी।

किन्तु उल्लिखित दोनों शिक्षायें केवल प्राथमिक शिक्षा है। महागुरु स्वामी स्त्री को जो उपदेश दे, वह उसका मूल मंत्र नहीं। मूल मंत्र यह है, कि लड़के, लड़की, बहू, दामाद, मकान, बाग, धन, जब सभी तुम्हारा है—मैं भी तुम्हारा हूँ—वह सब तुम्हारा होकर ही मेरा है। प्राथमिक शिक्षाके साथ इस शिक्षाका बहुत मेल है। तब भी इस मन्त्रका अभ्यास करानेके लिये बहुत यत्न करना पड़ता है। यह केवल बार बार बातों की आवृत्ति करनेसे ही नहीं होता भूल होनेसे ही सुधार करना पड़ता है। विशेष विशेष अनुष्ठानों द्वारा भी इस मन्त्रमें चैतन्यता कर लेनी पड़ती है, किन्तु मन्त्रके एक बार हृदयमें जम जानेपर हृदयपद्म उसी समय खिल आता है—उस कमलमें एक देवमूर्ति प्रतिष्ठित हो जाती है और शिष्य उसी देवता की ध्यान पूजा में मन लगा तपकी सिद्धि चाहता है। शिष्य, गुरु और देवता की यथार्थ अभिन्नता देख सकता है।

किन्तु हम फिर कहते हैं, कि यह मन्त्र सामान्य नहीं है। यह पौराणिक अथवा वैदिक मन्त्र नहीं—यह सजीव तान्त्रिक दीक्षाका मन्त्र है। "'मैं तुम्हारा हूँ, वह सब तुम्हारा होनेके कारण ही मेरा है'" जो यह मन्त्र दें, उन्हें स्वयं सिद्ध होना चाहिये। उन्हें सचमुच ही इस मन्त्रका उच्चारण करना पड़ेगा। अनृतवादी, शठतासम्पन्न गुरुका मन्त्र और मन्त्र है। उसके द्वारा दीक्षाका फल नहीं होता। इसीसे कर्त्ता भजा सम्प्रदाय कहते हैं, कि मनुष्य

भरनेके लिये मरना पड़ता है। यदि तुम किसीको पकड़ना चाहो, अर्थात् अपना बनाना चाहो, तो पहले आप ही मरो, अर्थात्, आप ही अपने में न रहो, एक बार ही उसके हो जाओ।

---

५ प्रबन्ध ।

सतीका धर्म्म ।

"कविगण कल्पनाशक्तिके प्रभावसे नई घटना, नये पदार्थ और नये पात्रकी सृष्टि किया करते हैं। कविकल्पित ऐसे अनेक काम, विषय और व्यक्ति हैं, जो विधाताकी सृष्टिमें कहीं नहीं हैं।" यह सब बहुत ही मोटी बातें हैं। जिन्होंने कुछ मन लगाकर कविगणकी सृष्टिकी आलोचना की है, वह यही कहेंगे, कि काव्यमें सचमुच कोई नई सृष्टि नहीं है। विधाताकी सृष्टिमें जो है, उसका ही संयोग-वियोग कर समस्त काव्य संसारमें रचे गये हैं। पक्षिराज घोड़ा कविकी सृष्टि है, ब्रह्माकी सृष्टि नहीं। किन्तु क्या वह नवीन पदार्थ है? विधाताके बनाये घोड़ेके शरीरमें विधाताके बनाये पक्षीका पर लगा कवि ने पक्षिराज घोड़ा बना दिया। ऐसा ही सर्व्वत्र है। प्रत्यक्षकी कन्या स्मृति और स्मृति ही कल्पनाका एकमात्र उपजीव्य है। अतएव कविकी कल्पना कभी मूलशून्य अलीक हो नहीं सकती। उसमें सच्ची वस्तुओंका ही बीज डाला गया है। अर्थात् काव्यशास्त्र, परम्परा सम्बन्धसे प्रकृत इतिवृत्त-मूलक ही होता है और इसीसे किसी काव्यके पढ़नेसे—जिस समय और जिस देशमें वह काव्य रचा गया है, उस समय और उस देशकी प्रकृति समझमें आती है।

हमारे देशके सभी समयके काव्योंमें साध्वीके चरित्रकी पूर्णावस्था वर्णित है। सावित्री, सती, सीता, दमयन्ती प्रभृति जैसी बालिकायें संस्कृत काव्यमें पाई जाती हैं, भूमण्डलके और किसी देशके काव्यमें वैसी स्त्रियोंका उल्लेख दिखाई नहीं देता। राजस्थानकी वीरपत्नी और वीरमाताओंके सतीत्वका गीत अन्यान्य देशोंके लिये बहुत ही अद्भुत है। बङ्गदेशके काव्यमें वर्णित रम्भा, खुल्लना, बहुला प्रभृति कामिनियां सतीधर्म्मके लिये आदर्श हैं।

इस देशके ऐसे काव्यको देख क्या समझना चाहिये? अवश्य यही

समझना चाहिये. कि यह देश पृथिवीके अन्यान्य सब देशोंकी अपेक्षा सतीकुल-की पवित्र निवास भूमि है। प्राचीन देशाचार भी उसका एक प्रमाण दे रहा है। अन्य किसी देशकी स्त्रियां क्या कभी पतिका अनुसरण करती हैं ? अनु-सरण करना तो दूर रहा, क्या कभी अनुसरण करने की बात भी मनमें विचार सकी हैं ? किसी अङ्गरेजने एक सहमरणको अपनी आँखों देख कहा था,—" परलोकका विश्वास इन हिन्दुओंमें ही है, हम लोगोंमें नहीं।"

हमने सतीधर्म्मके निरूपण करनेका विचार कर यही सिद्धान्त किया है कि, अनन्यदेशसाधारण 'पति-प्राण' शब्दमें ही साध्वीका प्रकृत लक्षण मिलता है। इस शब्दके अर्थमें ही सतीधर्म्मका मूल संस्थापित है। सतीके चित्तमें यह शङ्का सदा विराजती है, कि उनके जानेके बाद मुझे जीवित रहना पड़ेगा'। ऐसी ही भयव्याकुला किसी स्त्रीने बहुत ही अधीरा हो एक दिन स्वामीसे कहा, —'मेरी बहन विधवा, मेरी मा विधवा, सुना, कि मेरी दादी भी विधवा हो जीविता थी—मेरे कपालमें न जाने क्या है!' उस स्त्रीके उस समयका मलिन मुखचन्द्र स्वामीके हृदयाकाशमें सदाके लिये खिला रहा होगा। वह मलिनता ही साध्वीका लक्षण है। 'शान्त हो, तुम्हारे लिये वह भय नहीं। देखो. हमारे वंशमें ठीक उससे विपरीत घटना हुई है। मेरी दादी आगे मरीं—दादा जीते रहे,—मा आगे मरीं,—पिता पीछे मरे—इस वंशके पुरुष बहुत दिनों जीवित रहते हैं, तू ही पहले जायगी, मुझे जीवित रहना पड़ेगा।' स्वामीकी ऐसी बात सुन साध्वीकी भयव्याकुलता दूर हुई, मुखमण्डलकी मलिनता हटी—प्रफुल्लता आई। वह प्रफुल्लता भी साध्वीका लक्षण है।

सतीधर्म्मके मूलमें स्वामीके जीवनके सम्बन्धमें जो गूढ़ शङ्का है, उसे इस देशके सूक्ष्मदर्शी शास्त्रकारगण अच्छी तरह समझते थे। भगवान वेद-व्यासने महाभारतके अश्वमेध पर्व्वमें वर्णन किया है,—अर्ज्जुनने नागकन्या उलू-पीका पाणिग्रहण करनेके उपरान्त जब विदा मांगी, तब उलूपीने अर्ज्जुनसे और कोई प्रार्थना न कर निःसन्देह रूपसे अर्ज्जुनकी भलाई बुराईसे रहनेकी अवस्था जाननेके लिये कोई उपाय मांगा। अर्ज्जुनने उस प्रतिप्राणाके घरके आँगनमें एक अनारका वृक्ष लगाकर कहा,—'प्रिये! जब तक यह वृक्ष सजीव रहेगा, तबतक मैं भी कुशलसे रहूँगा।" उलूपी नित्य उस अनारके वृक्षको जलसे सींचती और सदा उसे देख धैर्य्य रखती थी। यही सतीका लक्षण है।

स्वामी जीवित हैं, अच्छे हैं, सुखसे हैं, या स्वामी जीवित रहेंगे, अच्छे

रहेंगे, ऐसा प्रबोध पाने से ही सतीको प्रफुल्लता होती है। कदाचित् स्वामी जीवित न रहें, अच्छे न रहें, सुखी न रहें, इसी भयसे सतीको मलिनता होती है। स्वामीकी चिन्ताके अतिरिक्त सतीके मनमें और कोई चिन्ता व्यापनेके लिये स्थान नहीं पाती। हम जहांतक समझ सके हैं, सतीधर्म्मका मूल यही प्रगाढ़ चिन्ता है और चिन्ता मूलमें होनेके कारण ही सती धर्म्ममें एक चिर-स्थायी गाम्भीर्य्य भाव रहता है। साध्वीके आमोदमें भी बहुत तरलता प्रकट नहीं होती—उनकी प्रसन्नता उमड़ नहीं पड़ती—वह खिलखिलाके हँस नहीं पड़ती—होठोंकी हँसी होठोंमें ही समा जाती है, यह गाम्भीर्य्य भाव भी साध्वी का एक लक्षण है।

सतीधर्म्मके मूलीभूत उस चिन्तासे एक बहुत ही अद्भुत काण्डकी सृष्टि होती है। उसका नाम सदा स्वामीके दर्शनकी लालसा है। वह सतीके हृदयमें सदा बसता है। सतीके मनमें यही इच्छा रहती, कि सदा स्वामी का दर्शन करें। स्वामीके आँखकी आड़में होते ही जगत् उनके लिये शून्य होजाता है। ऐसा क्यों होता है? सतीधर्म्मके मूलीभूत स्वामीके अनिष्टकी शङ्का ही उसका सच्चा कारण है। 'वे जैसे थे, वैसे ही तो हैं'? इस चिन्तासे ही सतीके हृदयमें स्वामीके दर्शनकी कामना प्रबल भावको धारण करती है। सतीधर्म्म यथार्थमें निष्काम धर्म्म है। उसके किसी स्थानमें किसी प्रकारके स्वार्थका लेशमात्र भी नहीं रहता। स्वामी घरके बाहर काममें लगे हुए हैं, उनको पता नहीं है कि उनकी पतिप्राणा पत्नी वायुद्वार अथवा केवाड़ोंके छेदसे कितनी दफे उन्हें देखने जाती हैं। स्वामी मन लगाकर काम करते अथवा आग्रहके साथ पांच आदमियोंसे बातें करते हैं. इससे उन्हें क्लान्ति हो रही है। इस क्लान्तिका वह स्वयं अनुभव नहीं करते, किन्तु उनकी पत्नी अलक्ष्य स्थानसे उन्हें देख अपने हृदयमें बैठी मूर्त्तिके साथ उनकी उस समयकी मूर्त्तिका थोड़ासा भी प्रभेद समझ सकती हैं और उसे समझ उद्विग्न होती हैं। तब उनकी इच्छा होती है कि, काम समाप्त हो। बात चीत बन्द हो। जो मनुष्य शक्ति रहते भी उस कामसे अलग नहीं होता, उस बात चीतको बन्द नहीं करता, वह निष्ठुर है।

पहले ही कहा गया है, कि सतीके धर्म्मका मूल स्वामीके अनिष्टकी शङ्का है। उसका काण्ड, सदा स्वामीके देखनेकी लालसा है। इस कल्पतरूरूप सतीधर्म्मकी शाखा प्रशाखा असंख्य हैं। यद्यपि स्वामीके अनिष्टकी आशङ्का

इसका मूल है सही, तथापि वह मूल अन्यान्य वृक्षोंकी भांति छिपा रहता है। वह सतीके हृदयकी कन्दरामें छिपा हुआ है। कभी उसमें थोड़ा भी झटका चढ़नेसे उसका हृदय थर थर कांप उठता है। किन्तु सामान्यतः उस मूलको कोई देख नहीं सकता। स्वामी स्वयं विशेष सूक्ष्मदर्शी और अनुसन्धित्सु न होनेसे भी उसे देख नहीं सकते। वे केवल दर्शनवासना-काण्डको देख सकते हैं। और कदाचित् काण्डकी सच्चीमूर्त्ति केवल उन्हें ही दिखाई देती है। किन्तु स्वामीकी सत्यहानिका भय, महिमा हानिका भय, अर्थहानिका भय आदि सतीधर्म्मकी शाखा प्रशाखायें सतीके चित्त-क्षेत्रमें फैली रहती हैं। उसे और लोग भी देख सकते हैं। किसी साध्वीने अपने पुत्रको यह कह समझाया,—"बच्चे! तुम जो कहते वह सही है, ऐसा करनेसे क्षति हुई; किन्तु जब उन्होंने कहा है, तो करना ही पड़ेगा। उनकी बात मिथ्या न जानी चाहिये।" सतीका पुत्र माताके हृदयमें स्थित सत्यहानिके भयस्वरूप धर्म्मशाखाको देख सका। इसी प्रकार अन्यान्य शाखायें भी समय समय पर लोगोंको दिखाई देती हैं।

यह धर्म्मवृक्ष सिरसे पैरतक बहुत ही मनोहर भावसे पल्लवित है। सतीके क्रियाकलाप ही उसके पल्लव हैं,—वे असंख्य हैं, कितने ही प्रकारके हैं; किन्तु हैं एक ही वर्णके। पतिके अतिरिक्त सतीके लिये और कोई देवता नहीं है। उस देवताकी विधिविहित पूजाके लिये ही उसकी सब क्रियायें हैं। घरके काममें लगना, अपने हाथ रसोई बनाना, स्वयं परोसना, शरीर पर अलङ्कारका भार धारण करना, उसके लिये ही सब कुछ है। जिस काममें स्वामीकी पूजा नहीं, वह काम सतीके मनमें भी नहीं आता। मेघदूतके अन्तमें कालिदासने विरहव्याकुला यक्षपत्नीका जो भाव वर्णित किया है, वह कविकी कल्पना नहीं है। जो हो, सतीधर्म्मका मूल, काण्ड, शाखा, पल्लव, सभी देखा गया, किन्तु उसका पुष्प कहां है? यदि यह पूछना चाहते हो, तो समीप जाओ। जिस घरमें साध्वी स्त्रीका आर्विभाव है वहांके दास दासी परिजनवर्ग सभी प्रसन्न चित्त, कलहपरिशून्य, नम्र और कर्तव्यपरायण हैं। यह उस पुष्पका सौरभ है। और भी समीप जाओ, लड़कोंके साथ बात करो, उन सबकी चित्तवृत्तिकी परीक्षा कर देखो, उन सबको सरलचित्त, औदार्य्यगुण-सपन्न और परस्पर ईर्षा विहीन पाओगे। सतीके सन्तानगण मानो उस पवित्र कुक्षिवास वश उस कुसुम सौरभसे सुरभित होते रहते हैं। क्या और भी समीप जा सकते हो?

अधिकार हो तो जाओ। मनमें भक्तिका उदय होगा, कुछ भय भी उत्पन्न होगा— रुक रुकके बातें करोगे, किन्तु इच्छा होगी कि अपने और अपना कहनेके लिये जो जहां हैं, सबका ही वहां स्थिर निवास हो जाय। लौट आओ, अब बिचार कर देखो कि, तुममें कोई परिवर्त्तन हुआ है या नहीं। संसार असार पदार्थ नहीं है, धर्म्म कल्पित व्यापार नहीं है, तुम्हारे हृदयमें ऐसा ही ज्ञान दृढ़ हुआ है या नहीं? तुम भी उस पुष्पके सौरभसे वासित हो गये।

६ प्रबन्ध।

सौभाग्य गर्व्व।

एक बार समझ लो, कि बिधाता तुम्हारे बशमें हैं। तुम जो चाहते, वही उनसे करा लेते हो। तुम्हारा मन कैसा होता है? बिधाता सब जानते हैं, सब कर सकते हैं और उनकी इच्छा भी मंगलमयी है। तुम उनसे क्या करा सकते हो? क्या अपने हृदयको उनके हृदयके साथ अभिन्न रख सकते हो? पूरी तरह तादात्म्यको प्राप्त हो सकते हो? ऐसा होगा ही, किन्तु धीरे धीरे। जब तक निर्व्वाण न हो, तब तक चीनी होनेके विचारसे तृप्त हो न सकोगे। अवश्य ही चीनी खानेकी इच्छा होगी। विधातासे यदि दो एक फरमाइश पूरी कराने की इच्छा न हो तो तुम मनुष्य ही नहीं। जब तक अहं बुद्धिका लेशमात्र भी रहेगा, तब तक फरमाइश चलाना चाहिये।

शास्त्रकारोंने प्रेमको दो प्रकार का बताया है। एक त्वदीयता और दूसरा मदीयता। 'मैं तुम्हारा हूं' यह भाव त्वदीयता है; 'तुम मेरे हो' यह भाव मदीयता है। प्रकृतिके भेदसे किसीकी त्वदीयता और किसीकी मदीयता का भाव प्रबल दिखाई देता है। वास्तविक विशुद्ध त्वदीयता या विशुद्ध मदीयता कहीं भी हो नहीं सकती। पतिप्राणा 'पतिदेवता' साध्वी स्त्रीके हृदयमें त्वदीयताका भाव प्रबल है सही, किन्तु सूक्ष्म रूपसे देखनेसे उसके हृदयमें मदीयताका भाव भी दिखाई देता है। वह भी विधातापर फरमाइश चलाना चाहती है। जो देवता उसकी तपस्यासे बश हुए हैं उनकी परीक्षा लेने और औरोंको भी अपने तपकी सिद्धि दिखानेके लिये उनकी भी इच्छा होती है।

त्वदीयताभावके अन्तर्भूत इस मदीयता भावका नाम सौभाग्य गर्व्व है। कुत्सित गर्व्व शब्दको सुन कांप न उठना। यह गर्व्व अच्छा गर्व्व है। जो इसे

खर्व करना चाहते हैं वे स्त्रीहत्याके पातकी होते हैं। जिस स्त्रीमें सौभाग्य गर्व्व नहीं है, उस स्त्रीका जन्म ही वृथा है। उसका रूप और गुण कुछ भी कुछ नहीं है। वह अपनेको बिलकुल ही अपदार्थ समझती है। जिस धर्म्मशीलामें सौभाग्य गर्व्व उत्पन्न हो नहीं सकता जगदीश्वरने उसे वृथा ही बनाया है। वह जीवन्मृता है। ऐसी स्त्रियोंका जीवनवृत्त ही इसका पूरा उदाहरण है कि पुण्य करनेसे ही इहलोकमें सुख भोग नहीं होता। जिस पतिपरायणामें सौभाग्य गर्व्व नहीं है उसकी तपस्या सिद्ध नहीं होती। उसके जीवनवृत्तमें फल नहीं लगता—वह यथार्थमें वन्ध्या है।

अतएव सौभाग्य गर्व्वको उत्पन्न होने दो। विधाता फरमाइशका भी स्वीकार करें। इसे स्वीकार करनेसे उनके काममें कोई क्षति न होगी। जो विधातासे फरमाइश पूरी कराना चाहता है वह विधाताकी इच्छाके अनुकूल के सिवाय कभी प्रतिकूल फरमाइश कर नहीं सकता। जो उनके स्वयं मनके अनुसार है, उसपर ही उनके प्रति अनुज्ञा होगी, जो उनके मनके अनुसार नहीं है. उस पर अनुज्ञा न होगी।

साध्वी स्त्रियोंका सौभाग्य गर्व्व बड़ा ही अपूर्व्व पदार्थ है। उनकी मदीयताके भीतर बहुत ही प्रबलतर त्वदीयताका भाव विद्यमान है। "उनके मनको मैं यहाँ तक समझ सकी हूं, कि उनके अपने मनकी बात कहते न कहते ही मैं उनके मनकी बात कह सकती हूँ। उनके मनकी बात मेरे मुँहसे निकलने पर हमें जैसा सुख होता, वैसा सुख और किसी प्रकारसे नहीं मिलता"। फलतः विधातापर फरमाइश होना विधाताकी इच्छाके अनुकूल होनेसे उस इच्छाके प्रतिकूल हो नहीं सकता। यदि कुछ भी प्रतिकूल होनेका सन्देह हो, तो फिर क्षोभकी परिसीमा नहीं रहती। अब भी उनके मनको समझ न सकी, तो फिर क्या किया? क्या हुआ?

किसी पतिपरायणाने अपने स्वामीसे कहा,—"तुम सांसारिक सभी विषय मुझसे पूछते हो और जो मैं कहती, प्रायः वही करते हो, वैसा न करनेसे मुझे दुःख होता है, क्या इसीसे तुम ऐसा करते हो?" "यदि ऐसा ही है, तो उसमें क्षति क्या है? यह तो अच्छी बात है"। "अच्छा है सही, किन्तु उसकी चिन्ता करनेसे मेरे मनको सुख नहीं मिलता। मेरी बात पर चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें करना पड़ता है। ऐसा सोचनेसे इच्छा होती है, कि मेरा न रहना ही अच्छा है।" बड़ी कठिन बात हुई। इस बात पर स्वामीने कुछ सादा कागज़ ले एक

कापी बना डाली । फिर स्त्रीसे कोई बात पूछनेसे पहले वह उस कापीमें अपनी राय लिख रखने लगे । पूछने पर स्त्री जब अपना अभिमत प्रकट करती, तो स्वामी वह कापी दिखाते कि इसमें क्या क्या लिखा है । कई महीने ऐसे ही बीते । स्वामीने घरके कितने ही कामोंसे एक बार अवसर पाया । विधाता सृष्टि के पालनका भार किसी पर समर्पण कर निश्चिन्त रह नहीं सकते । किन्तु सुभगा स्त्रीके पति संसारका बहुत कुछ भार पत्नीपर समर्पण कर निश्चिन्त रह सकते हैं । विधाताको किसीके वश न होनेके कारण ही यह दुःख है । सुभगा स्त्रीके पति विधाताकी अपेक्षा भी सुखी हो सकते हैं ।

सौभाग्य गर्व्वके भीतर और एक प्रकारसे त्वदीयताके भावका सम्बन्ध दिखाई देता है । "मैं यह विचारकर सुखी हूं, कि वे मुझे चाहते हैं; इसे समझ उन्हें सन्तोष होगा अतएव मैं उनसे प्रकट करूँगी ।" यह भी एक विचित्र मनोभाव है । किसी स्त्रीने अपने स्वामीसे कहा,—"आज उनके घर विवाह है,—बहुत ही दबावमें पड़ मुझे उनके घर जाना पड़ेगा ।" "इसमें दबाव कैसा? जाने की इच्छा न हो, तो न जाओ ।" "न जानेसे उनकी मा दुःखी होंगी, वह मेरे अतिरिक्त और किसीके हाथ हलदी चढ़वाना नहीं चाहतीं ।" इसका तात्पर्य्य क्या ? स्त्रियाँ सुभगाके हाथ हलदी चढ़वाती हैं । उसने स्वामीसे यह भाव प्रकट किया, कि उसे लोग सुभगा समझते हैं और इससे उसे बहुत ही सुख मिलता है । फिर किसी समय उसी स्त्रीने अपने स्वामीसे कहा,—"आज मैंने घाट किनारे फलाने की माको देखा, उनका रूप एकबारगी कोयला हो गया है। मेरे यह पूछनेपर उन्होंने कहा, 'अबतो बहन! थोड़ी पावोंकी धूल भी नहीं दी!" "ऐसी बात क्यों कही, इसका तात्पर्य्य क्या?" 'कुछ न पूछो, उसका स्वामी बड़ा दोषी है, तभी तो उसने ऐसी बात कही।" इसका तात्पर्य्य यह है, कि तुम्हारे आदरसे ही मेरा इतना गौरव है ।

फलतः साध्वी स्त्रियोंका सौभाग्य गर्व्व बढ़ानेमें डरो मत । इससे कोई हानि नहीं, कितने ही लाभ हैं और इसे कोई रोक भी नहीं सकता । त्वदीयता और मदीयताका भाव कपड़ेकी बिनावटकी तरह ऐसा आपसमें लिपटा हुआ है, कि उसको अलग कर लेना बहुत ही असाध्य है । त्वदीयताके भीतर मदीयता और मदीयताके भीतर त्वदीयता दिखाई देती है । अन्तमें उस त्वदीयता के भीतर भी मदीयता और उस मदीयताके भीतर भी त्वदीयता दिखाई दे सकती है । विशुद्धचित्त स्त्री पुरुषोंके दो हृदय दो निर्मल दर्पणकी तरह एक

दूसरेके सामने अवस्थित है—वह उसके और वह उसके हृदयके भावोंको ग्रहणकर सदा अपनी झलक दिखाया करते हैं।

———o———

७ प्रबन्ध ।

दम्पती-कलह ।

इसमें सन्देह नहीं है कि उपन्यास, कहानी और पुराणादि पढ़नेसे यथेष्ट शिक्षा मिलती है। किन्तु इस प्रकार का कोई ग्रन्थ ले पढ़ने के समय कई बार हमारा ऐसा विचार हुआ है कि यदि उन सब ग्रन्थोंमें रोगादि कष्टकर व्यापारोंका सामान्य वर्णन भी होता तो वे सब ग्रन्थ हमलोगोंके अधिक उपकारमें आते। काव्य, उपन्यासादिके नायक और नायिका यहाँतक कि ऐसे ग्रन्थोंके अप्रधान पात्रोंका भी मानो सदासे नीरोग शरीर जान पड़ता है। किसी देशके किसी काव्यमें कास्टर आयल पीने का हाल दिखाई नहीं देता। किन्तु सचमें पृथिवीके कितने मनुष्य उस नरकयातनाका भोग नहीं भोगते? ऐसे ही कितने कारणोंसे काव्योल्लिखित मनुष्योंकी अवस्था, साधारण मनुष्योंकी प्रकृतिसे भिन्न भाव धारण किया करती है। यह ग्रन्थकारका मनःकल्पित बनावटी विषय जान पड़ता है और हमलोगोंके कार्य्यकलापके प्रति उसके दृष्टान्तका प्रभाव बहुत स्वल्पतर हो जाता है।

गृहस्थाश्रमके सम्बन्धमें वैसे मनःकल्पित बनावटी पदार्थोंका वर्णन करना हमारा उद्देश्य नहीं है। इसलिये इस प्रबन्धमें हम गृहस्थाश्रमके एक साधारण कष्टकर कामका हाल लिखेंगे। स्त्री पुरुषोंमें झगड़ा हुआ करता है। दोनों हीके लिये वह कलह विलक्षण कष्टकर है। किन्तु चाहे जितना कष्टकर हो उसका सङ्घटित होना बिलकुल असाधारण काम नहीं है। वरंच वह बहुत ही साधारण व्यापार जान पड़ता है। हमारे विचारसे मनुष्य दम्पतीमें कलह होता ही होगा।

जिनमें परस्पर बहुत ही प्रेम और घनिष्ठता होती है उनमें भी बिना विवाद हुए नहीं रहता, इसका कारण क्या है? उसका कारण उस प्रेम और घनिष्ठताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। परस्पर प्रीतिसम्पन्न दम्पती सब तरहसे अभिन्नहृदय हो रहनेकी इच्छा करते हैं। किन्तु इहलोकमें पूरी तरहसे अभिन्नहृदयता साधित नहीं होती और उसके न होनेके कारण ही अभिमान

और उद्वेगका उदय हो कलहका सूत्रपात होता है। "इस विषयमें हमारा ऐसा अभिमत है। किन्तु इसप्रकार यदि इस विषयमें ही उनसे मतभेद हुआ, तो अमुक विषयमें मतभेद होगा ही ? फिर ऐसा होनेसे उस अमुक विषयमें मत-भेद क्यों न होगा ? इसीसे हमारे मनकी गतिसे उनके मनकी गति भिन्न है। तब प्रेम कहाँ रहा ? यदि प्रेम ही नहीं तो जीवनमें रक्खा ही क्या है ?" दम्पती कलहके भीतर ऐसी ही एक अपूर्व्व विचारप्रणाली सदा रहती है।

इस विचारप्रणालीमें कल्पना वायुके प्रभावसे ऐसी दुरभिसन्धि और गूढ़ाभिसन्धिकी विचित्र लहरें उठती हैं जिसके देखनेसे दर्शकोंको बड़ा ही आमोद होता है। दम्पतीका कलह और लोगोंके लिये चित्तरञ्जक होता है। इतना चित्तरञ्जक होता है, कि कोई कोई कौशलसे कलह खड़ाकर तमाशा देखनेकी इच्छा करते हैं। किन्तु और लोग चाहें उसे हँसी ही समझें, दम्पतीका कलह दम्पतीके लिये बड़ा ही कष्टकर व्यापार है। जबतक विवाद रहता, तब तक उन दोनोंके हृदयमें अपना अपना जीवन इतना तुच्छ जान पड़ता है, कि उस समय आत्महत्या कर लेना भी कुछ असम्भव बात नहीं है। रक्षा इसीमें है, कि दम्पतीका कलह बहुत ही कम ठहरता है। सृष्टिनाशक वज्राग्नि चकाचौंध डालकर ही छिप जाती है। यदि यह अग्नि स्थायी होती, तो विश्वसंसार जल जाता।

हमारे विचारसे उस आगके जलनेमें कोई दोष नहीं। कारण, उसके जलनेका प्रयोजन है। जैसे परस्पर सटे हुए दो मेघमें तड़ित इतर विशेष रहनेसे ही बिजलीकी आग निकलती है, और वह निकलकर दोनों मेघके ताड़ितसामञ्जस्यको विधान करती है। स्त्री-पुरुषोंमें उसी प्रकार मतिका कुछ अनैक्य रहनेसे ही कलहाग्नि निकल पड़ती है और उसके द्वारा उनके मनकी एकता सम्पादित होती है। तुम और हम अब भी भिन्नहृदय क्यों हैं ? अब भी एकचित्त क्यों न हुए ? अवश्य ही एकात्मताको प्राप्त होना ही पड़ेगा। ऐसा ही भाव दम्पतीके कलहमें भरा हुआ है। सुतरां दम्पतीकलह भी दम्पती प्रेमका परिचायक और उस प्रणयको दृढ़ करनेवाला है।

इसलिये स्त्री-पुरुषमें विवाद उपस्थित होनेपर उनमें प्रायः यही देखा जाता है, कि कोई चुप नहीं रहते। जबतक विवाद चलता है तबतक बातोंकी काटछांट चलती है। यदि एक चुप हो रहे अथवा दूसरे स्थानमें जानेकी चेष्टा करे, तो दूसरेका क्रोध शान्त न होकर सौगुना बढ़ता है। किन्तु विवादकी

बातें शायद बड़ोंके आगे प्रकट हो जायं इसलिये इस समय बातोंके काटछांट की आवश्यकता नहीं; ऐसा भाव प्रकाश कर एक के चुप हो जाने या वहांसे हट जानेपर उतना अधिक दोष नहीं होता है। किन्तु यथा समय फिर पहलेकी बात उठाई जाये,—एकबारगी ही छोड़ना ठीक नहीं। अधिक स्थलमें ऐसा होता है कि पहले की बात उठाते ही जो दोषी ठहरते हैं उन्हें लज्जा जान पड़ती है। लज्जा दिखाई देनेपर फिर नहीं बढ़ाना चाहिये। उन दोनों झगड़ालुओंमें जो चुप होते हैं, अथवा वहांसे हट जाते हैं, दूसरेके विचारसे वे अपने मनका द्वार बन्द कर लेते हैं, वे अभिन्नहृदय होनेके लिये यथोचित यत्न नहीं करते। वे केवल अपने मतको ठीक रखनेके लिये ही विवाद करते हैं, वे स्वैराचारी, स्वार्थपर, निष्ठुर हैं। उनके मनमें यथार्थ प्रेम नहीं है।

इसलिये और सब विवादोंमें यदि एक मनुष्य चुप हो जाय, तो अच्छी बात है, कारण उससे विवादकी समाप्तिका उपक्रम होता है; किन्तु दम्पती कलहमें मौनावलम्बन ठीक नहीं है। इससे कलहाग्नि जल उठती अथवा बाहर रुककर भीतर ही भीतर जल चित्तभूमिको जलाने लगती है। और सब विवादोंमें ही एक मनुष्यका हट जाना ठीक है। दम्पती कलहमें हट जाना बहुत ही अपमानजनक माना जाता है। जिन जिन स्थलोंमें दम्पतीकलह आत्म-हत्यामें परिणत हुआ है, उन उन स्थानोंमें एक मनुष्यका हट जाना ही अगुआ बना है।

युद्धक्षेत्रमें स्थिर रह सम्मुख संग्राम करना ही यहांकी विधि है। यदि सम्मुख संग्राममें मरो, तो देख सकोगे कि शास्त्रकारोंने झूठी बातें नहीं कहीं। समरमें प्राणत्याग करनेसे साक्षात् स्वर्ग मिलता है। विवाद मिट जानेपर, अभिन्नहृदयताके साधित होनेसे—काल वैशाखीके मेघ, आंधी, पानीके बरसनेसे, तड़ितका सामञ्जस्यविधान हो जानेसे—कैसी सुविमल शोभा, कैसी अनिर्व्वच-नीय प्रसन्नता उत्पन्न होती है। दम्पती कलहका यह चरम फल बहुत ही मधुर है।

सुबोध, शान्त स्वभाव मनुष्योंको चाहिये कि वह ऐसा यत्न करें, जिससे वह चरम फल शीघ्र उत्पन्न हो। विवाद हो, तो हो, उससे कोई क्षति नहीं। किन्तु विवाद शीघ्र मिट जाय—किसी प्रकार कुछ दिनों तक स्थायी रह न सके। प्रेमरूपी क्षीर-सागरके मन्थनसे उत्पन्न कलहरूपी कालकूटको महादेव ही पी सकते हैं, शीघ्र पीओ, नहीं तो सिन्धु ही सूख जायगा।

लताका लक्षण है,—दो-चारबार बिजली चमकनेके बाद ही वृष्टि है—इससे जगत् शीतल होता है।

८ प्रबन्ध।

लज्जाशीलता।

लज्जाशीलता बड़ी ही मधुर वस्तु है। इससे सुन्दरीका सौन्दर्य्य सौगुना बढ़ता और असुन्दरीका असौन्दर्य्य सहस्र मात्रासे घटता है। लज्जाशीलता मनुष्यका धर्म्म है; पशुका धर्म्म नहीं। हमारे विचारसे मनुष्यकी प्रकृतिमें पशुधर्म्मके अस्तित्वका अनुभव होनेसे ही लज्जा उत्पन्न होती है। यदि हम किसीको हड़प हड़प खाते देखें तो मनमें कुछ लज्जाका उद्रेक होता है। जो उस प्रकार खाते हैं, वह भी उसे समझ कर स्वयं लज्जित होते हैं। यदि किसी स्त्री-पुरुषकी आँखोंसे इन्द्रियक्षोभका लक्षण दिखाई दे, तो शुद्धात्माके चित्तमें लज्जाका आविर्भाव होता है। यदि कोई अण्टाचित हो घों घों नाक बुलाते सो रहे हों, तो उन्हें देख दूसरेको कुछ सलज्ज हँसी होती है, फिर निद्रासे जागने पर यदि उनसे कहा चाहो, कि तुम्हारी नाक खूब बोल रही थी, तो वे भी बहुत लज्जित होंगे।

इन सब उदाहरणोंसे दिखाई देता है, कि पाशवधर्म्मके प्रति मनुष्यकी जो घृणा है, वही लज्जाका मूल कारण है। जो मनुष्यसमाज जितना दिव्यभाव-सम्पन्न और सुशील तथा सभ्य बननेके लिये यत्न करता है, उस समाजमें लज्जाका उतना ही आधिक्य दिखाई देता है। बनैली दशावाले मनुष्य नङ्गे हो रहने, कुत्ते और सियार की तरह बड़े बड़े टुकड़े खाने, सांड़की तरह फुफकार कर सोने और पशु जैसे काम करनेमें सङ्कोच नहीं करते। युरोपकी छोटी जातियां भी बहुत पशुधर्म्मप्रवण हैं। फलतः लोग कैसे विषयोंकी बातपर आमोद करते हैं, कैसे अश्लील शब्दोंका असङ्कोच व्यवहार करते हैं, इसके देखनेसे ही उनमें दिव्यभाव या पशुभावका आधिक्य हुआ है, यह स्पष्ट ही समझमें आता है।

निसर्गतः स्त्रियोंके मनमें पशुभावकी अपेक्षा दिव्यभावका आधिक्य है। इसलिये स्त्रियां पुरुषोंकी अपेक्षा अधिक लज्जाका अनुभव करती हैं। शरीरका कुछ वस्त्र हट जानेसे, भोजनके समय किसी औरको देखनेसे, भोजनपात्रके बिगड़नेसे, भोजनके लिये किसीसे कुछ माँगनेसे, आपसमें किसीके खूब मुँह फैला दांत

निकालनेसे, बातचीतमें थोड़ा भी कदर्य्य भाव आनेसे, हँसीका कहकहा लगनेसे, वे सब लज्जित, क्षुभित और सङ्कुचित हो जाती हैं। उनमें यदि कोई उन सब कामोंसे विरक्त या लज्जायुक्त न हों, उसके बदले विपरीत आचरण करें, तो इससे उनकी दिव्य प्रकृतिकी विकृति और अधःपातकी सूचना होती है। जिस समाजमें स्त्रीपुरुषोंका एकत्र समावेश है, सब समय ही एक जगह बैठ बातचीत, एकत्र खाना पीना, एक साथ घूमना फिरना होता है, उस समाजमें स्त्रियोंका चरित्र कुछ अकोमल, कुछ दिव्यभाव वर्जित और अधिकतर पशु भावसे संश्लिष्ट होता है। इसलिये ऐसे समाजकी रीति हमें पूरी तरहसे निर्द्दोष जान नहीं पाती। कोई कोई कहते हैं सही, कि ऐसे समाजमें स्त्रियोंके घनिष्ठ साथके कारण पुरुषोंका स्वभाव कुछ कोमल और पवित्र होता है; हम स्वीकार करते हैं। किन्तु स्त्रियोंके विकृत और अकोमल होनेमें जितना दोष है, पुरुषोंके कोमल होनेमें उतना गुण कहाँ? किन्तु चाहे जो कहा जाय, विचारा जाय या सावधान बनाजाय, मनुष्य किसी देशमें किसी समय पूरी तरहसे दिव्यभावसम्पन्न और पूरी तरहसे पशुभाववर्जित हो नहीं सकता। प्रकृतिकी सृष्टि, कारीगरके अट्टालिका बनानेकी तरह मञ्जिल दरमञ्जिल है। नीचे जो वस्तु बनाई गई है, उसीपर सम्पूर्ण निर्भरकर ऊपरकी वस्तु बनाई जाती है। खनिज द्रव्योंमें जो सब गुण हैं, उन सब गुणोंके परिमाणसे ही उद्भिद. उद्भिदमें जो गुण हैं, उसके ही परिमाणसे प्राणी और अन्यान्य प्राणियोंमें जो जो धर्म्म हैं, उन सब धर्म्मोंके प्रकृष्ट परिपाकसे ही मनुष्य-धर्म्म है। इसलिये मनुष्य सर्व-भावसे पशुधर्म्मसे परिशून्य हो रह नहीं सकता। भोजन, निद्रा, अन्तर्मल त्याग, सन्तानोत्पादन आदि काम न करनेसे जीवनकी रक्षा और वंशकी रक्षा नहीं होती। परन्तु वे सब काम पशुधर्म्मके हैं उन्नत दिव्यभावसे विरुद्ध हैं और इसीसे लज्जाप्रद हैं।

मनुष्यके मनमें ऐसे भाववैपरीत्यसे जिस कष्टका अनुभव होता है उसके निवारणके लिये विभिन्न समाजमें भिन्न भिन्न उपायोंका अवलम्बन होता है। हमलोगोंके सनातनसमाजके बांधनेवाले जैसे अत्युन्नत और महद्भाव-सम्पन्न थे, उसीके अनुसार व्यवस्थाका विधान कर हमलोगोंके लिये वे दिव्यभावकी तेजस्विता, पशु भावका दौर्ब्बल्य और लज्जादुःखके दूर करनेका उपाय बता गये हैं। सब कामोंके भीतर जो एक बहुत ही उदार महान् भाव है, उनलोगोंकी पवित्र आत्मा उसी ब्रह्मभावसे ही अच्छी तरह परिषिक्त थी। वे

प्राणिमात्रके भोजन, नींद और सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओंमें जगदीश्वरका साक्षात् अधिष्ठान देखते थे और चित्तक्षेत्रमें वैसे ही ईश्वराधिष्ठानको स्थापित कर उन सब अवश्य होने वाले कामोंका निर्वाह करनेके लिये उपदेश देगये हैं। विचारकर देखो तो सही, भोजनादि क्रियाओंमें कैसे विचित्र अनुष्ठानोंको तुम नित्य चलाया करते हो? तुम भात, दाल, रोटी, तरकारी खाते हो, यह तुम्हारे शरीरमें बल, बुद्धि, चैतन्यके रूपमें परिणत होती है। 'अन्नं ब्रह्म, अन्नो वै प्रजापतिः'। तुम शय्यापर सोते हो, तुम्हें कुछ भी बाहरी ज्ञान नहीं रहता; किन्तु जब तुम नींदसे उठे, तब बिलकुल चैतन्यमय हो और 'सुखमहमस्वापसम्' आत्मासे साक्षात् करके ही उठे हो। सन्तानोत्पत्तिमें तुमने स्वयं 'प्राजापत्य' शक्तिका अनुभव किया, 'विष्णु' का तुमने स्मरण किया, तुम्हारी जो सन्तान होगी, उसके चरित्रके बहुत ही पवित्र और उदार होनेके उपायका विधान किया, पत्नीको भी तुमने साक्षात् प्रकृतिस्वरूपा जीव-जननी रूपसे जान लिया।

हमारे शास्त्रकारोंने ऐसे ही पशुधर्म्मके अन्तर्गूढ़ ब्रह्मभावका आविष्कार कर पाशव कार्य्योंका पशुत्व दूर कर दिया है। युरोपखण्डमें ऐसा नहीं हुआ। वहांके लोगोंकी धर्म्मचर्य्या और जीवनचर्य्या परस्पर अलग है। वे लोग धर्म्म भावके अधीन हो सब काम करना नहीं चाहते। ऐसे कामोंको यह लोग याजकतन्त्रताके नामसे घृणित समझते हैं। किन्तु उन लोगोंने भी मनुष्यके स्वभाव सिद्ध पशुधर्म्मपर एक परदा डालनेकी चेष्टाकी है। उन लोगोंने भोजनकी क्रियाको केवल जठरकी ज्वाला मिटानेका उपायस्वरूप न बना उसे आलाप, परिचय, आमोद और सामाजिकताके उपयोगी बना रक्खा है। उन लोगोंने पान-भोजनके साथ स्त्री-पुरुषकी एकत्र बातचीत और नाच-गान आदि आमोद मिला भोजन क्षेत्रको कैसा रमणीय बना लिया है। परन्तु शयन आदि कार्य्योंमेंसे पशुभावके घटानेका उन लोगोंने इतना प्रयत्न नहीं किया है क्योंकि सोने जानेसे पहले इन लोगोंमें कितनेहीके कुछ कुछ तीव्र मदिराके पीनेका अभ्यास रहनेसे उस समय पाशवधर्म्मकी बहुत ही वृद्धि होने पर उनकी लज्जा दूर भागती है।

तात्पर्य्य यह है, कि आर्य्यप्रणालीमें धर्म्मभावका आधिक्य और युरोपीय प्रणालीमें भोगसुखका आधिक्य है। आर्य्यप्रणालीमें स्त्री देवी है। युरोपीय प्रणालीमें स्त्री, सखी और सहचरी है। "आजके निमन्त्रणमें जो स्त्रियां आई

थीं, उनमें एकका शब्द अनेक वार घरके बाहरतक सुनाई देताथा"। * * "कहो तो, वह कौन थी।" * * "क्या जाने"। "ठीक! वह वही 'सुकुमारी' है जिसके चलनेसे पैरका शब्द भी होता न था, जो मुँह खोल बात भी करना न जानती थी, जिसके मुँहकी हँसी मुँहमें ही रह जाती थी, वह वही सुकुमारी है, किन्तु उस बेचारीका क्या दोष! उसका स्वामी उससे अङ्गरेजोंसे बातें कराता है, उनके सामने गीत गवाता है, अपने साथ मद्य भी पिलाता है. अभी क्या उसकी लज्जा बाकी है? इसीसे तो उसका इतना गला हुआ है, रूप रङ्ग सब बदल गया है!"

९ प्रबन्ध ।

गृहिणीपन ।

गृहिणीपन दो प्रकारका है। एक, कर्त्तृत्वविहीन—दूसरा, कर्त्तृत्व समन्वित। जो गृहिणी कर्त्ताकी अनुमति ले घरका काम चलाती हैं, उन्हें कर्त्तृत्वविहीन गृहिणी कहते हैं और जो कर्त्ताके भावको समझ आप ही विचारपूर्वक घरका काम करती हैं, वह कर्त्तृत्वसमन्वित गृहिणी कहलाती हैं। हमलोग स्वयं करने वाली गृहिणीको ही विशेष समादरसे देखते हैं। और प्रकारके गृहिणीपनमें वैसा कोई गौरव नहीं; वह केवल आज्ञाका पालन मात्र है।

हमारे मित्रोंने हमें गृहकार्य्यमें उदासीन देखा है और उन्होंने जो देखा, वही बात कही भी है, इसीसे हम मन ही मन अभिमान करते हैं, कि हमारा संसारका कर्त्तृत्व बहुत बुरा नहीं है। हमारी पत्नी घरके सब काम करने वाली थीं। उन्हींके हाथ सब रहता था, हमारे हाथ कभी एक पैसा कौड़ी भी नहीं। किन्तु उसपर भी वह स्वयं हमें घरके कामोंमें बिलकुल ही उदासीन समझती न थीं। वह कहा करतीं, कि घरके कामोंका मूलसूत्र उन्होंने हमसे ही सीखा है। ऐसा ही सही, किन्तु इसमें संशय नहीं, कि वह सूत्रका वृत्तिविरचन और सूत्रानुयायी सब पदसाधन आप ही कर लेती थीं। उनका गृहिणीपन सब प्रकारसे सकर्त्तृत्व गृहिणीपन ही था।

हमारे विचारसे जो लोग संसाराश्रममें रह ज्ञान और धर्म्मकी वृद्धिको उपयोगी बनानेके सम्बन्धमें चिन्ता नहीं करते, वह लोग दोषके भागी हैं। फिर हम यह भी समझते हैं, कि जो लोग उन्नतबुद्धि और उच्चाभिलाषी होकर भी केवल संसारकी छोटी मोटी चिन्तामें ही उस बुद्धि और अभिलाषकी समाप्ति करते हैं, वह भी दोषके भागी हैं। स्त्री या बहन हैं, वह घरके सब कामोको चलायेगी, मैं अच्छा खाऊँगा, अच्छा खिलाऊँगा, सुखसे किताबें पढ़ूँगा और मित्रके साथ आमोद-प्रमोद करूँगा, संसारका कुछ भी न देखूंगा। न विचार ही करूँगा; अभाव पड़नेसे रुपये उधार ले आऊँगा—जो इस प्रकार विचार कर चलते हैं उन्हें भी हमने देखा है। फिर घर तय्यार हो रहा है, स्वयं आकर उसकी छत पिटवाते और दीवार उठवाते हैं; कङ्कड़ पत्थर पड़े देख आप ही हटा भी देते और कितने ही अपने हाथ काम भी कर लेते हैं,

ऐसे मनुष्य भी दिखाई देते हैं। हमारे विचारसे इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें कोई संसाराश्रमके सच्चे पथके अनुवर्त्ती नहीं—सच्चा पथ इन दोनोंके मध्यवर्त्ती है—जिसमें पूरी अनवधान्ता भी नहीं, पूरा अनौदार्य्य भी नहीं। मनुष्यकी आंख मनुष्यके ही कामके उपयुक्त हैं। उसके दूरवीक्षण होनेमें भी दोष और अनुवीक्षण होनेमें भी दोष है। गृहस्थ मनुष्य गृहिणीका कर्त्तव्य दिखा दें, उद्देश्य स्थिर कर दें, और कुछ न करें। औदार्य्यकी रक्षाके लिये सतर्कता न छोड़नी चाहिये, सतर्कताके लिये नीच भी न बनना चाहिये।

किन्तु हम यह भी कहेंगे, कि वरं कुछ असावधान होना अच्छा, परन्तु बिलकुल नीचाशय बन अपने हाथ सब छोटे मोटे काम करना ठीक नहीं। विचार कर देखो कि, यदि तुमने ही संसारके विषयमें सब काम देखे और उनकी चिन्ता की, तो तुम्हारी स्त्री क्या करेंगी ? क्या वह केवल खा-खेलकर समय बितावेगी ? इससे तो उनकी बुद्धि ही न फैलेगी। इससे निजचित्तज्ञता और परचित्तज्ञता उत्पन्न न होगी, मन ही न बढ़ेगा। वह केवल स्वार्थकी, आदरकी क्रीड़ा सामग्री होगी। कामसे बुद्धि खुलती है, बुद्धि स्वयं पहलेसे ही कामका ग्रहण नहीं करती। अतएव पत्नीके हाथ घरका जितना काम दिया जा सकता है, उतना ही देना चाहिये। ऐसा करनेसे तुम स्वयं बहुत अवसर पा सकोगे और उन्हें भी मनुष्य बना सकोगे।

किन्तु घरका काम स्त्रीके हाथ समर्पण कर स्वयं एक बारगी उदासीन होनेसे उस व्यवस्थाका शुभ फल नहीं होता। बिलकुल ही उदासीनता, उनके प्रति अनादर करना है। ऐसा नहीं, कि केवल अनादर ज्ञान पड़ता वरं समयपर वह सच्चे अनादरके रूपमें बदल जाता है। उनका चित्त गृहकार्य्यमें लगा। वह पृथिवीमें पैर रख मट्टीको दबा धीरे धीरे चलने लगी। तुम जगत्के हितकी चिन्ता अथवा पृथिवीके धर्मसंस्करण, ऐसे ही किसी प्रकारके व्योमयत्नके सहारे आकाशमार्गमें विचरण करने लगे। तब तुमलोगोंमें आपसमें मिलनेका भी उपाय न रहा। अतएव घरका काम स्त्रीपर छोड़ दो, किन्तु बीच बीचमें उनके साथ घरके कामोंकी बातचीत करो। ऐसा करनेसे तुम देखोगे, कि सामान्य घरके कामोंमें भी बहुत ही प्रशस्त भाव विदित हैं। ऐसा नहीं, कि केवल व्योमयानमें उड़नेसे ही जगत्का चमत्कारित्व दिखाई देता है। जिस नियमके प्रबल बलसे ब्रह्माण्डका गोलत्वसाधन हुआ है, शिशिरबिन्दुके गोलत्वसाधनमें भी उसी नियमका समग्र बल लगा

है। व्यास, वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास, होमर, सक्सपियर, काएट, कपिल और कोमत्, प्रभृति जीवनयात्रामें जिन सब महत् सूत्रोंका आविष्कार कर गये हैं, वह सब तुम घरके काममें गृहिणीके मुखसे सुन सकोगे। यदि न सुन सको तो तुमने उन दार्शनिक और कविगणका नाममात्र सुना है। अथवा उनके ग्रन्थोंके पेज ही उलटे हैं। भावार्थको पा नहीं सके। वह लोग तुम्हारे शरीरमें आविर्भूत नहीं हुए।

---

१० प्रबन्ध।

गहना गढ़ाना।

गहनेपर किसी किसीका बहुत ही प्रेम दिखाई देता है। गहनेमें रुपया बँध जाता है, रुपयेका बाँध रखना अर्थशास्त्रकी विधि नहीं है। गहनेसे रुपयोंका नुकसान होता है, रुपया नष्ट करना गृहस्थधर्म्मके विरुद्ध व्यवहार है। गहनेकी ओर मन लगानेसे अपनी सजावटमें ही सारा दिन बीत जाता है। घरके कामोंमें विश्रृङ्खलता पड़ती है। गहना पहननेका नशा चढ़नेसे प्रकृतिमें लघुता आनेकी सम्भावना होती है। गहनेके सम्बन्धमें ऐसी कितनी ही युक्तियाँ दिखाई देती हैं।

अलङ्कारनिवारिणी सभाके किसी सभ्यमहाशयके मुखसे ऐसी ही बातें सुन उनसे कहा, कि आपकी बातें बहुत ही ठीक ठीक हैं; किन्तु आक्षेप इतना ही है, कि कोई भी उस युक्तिके अनुसार काम नहीं करता। देखिये, ऐसे जो "सर्व्वगुणादर्श" अङ्गरेज हैं, उनमें भी अर्थशास्त्रके नियमोंकी रक्षा नहीं होती किसी किसी इङ्गलेएड-वासी जमीदार और महाजनके घर १०।१२ मन चाँदीका प्लेट रहता है। युरोपीय बीबियोंमें भी आजकल गहने पहननेका शौक विलक्षण-रूपसे बढ़ गया है। विशेषतः, वह सब जैसे गहने पहननेकी इच्छा करती हैं, उससे रुपयेका अधिक नुकसान होता है। उनके गहनेमें सोने-रूपेकी अपेक्षा हीरा मोती ही अधिक होता है। सोने-रूपेके जितने गहने गढ़ाये जाते, वह, चार आने भरी देकर बेचे भी जा सकते हैं। हीरा-मोतीके गहने बेचनेके समय कभी कभी आधे रुपयेसे भी अधिक नुकसान पड़ता है। आप कहते हैं, कि गहनेकी सजावटमें अधिक समय बीतता है, किन्तु कईएक सोने-रूपेके गहने पहननेमें हमारे परिजनवर्गका जो समय बीतता है, बीवियोंको रङ्गीन कपड़े, पाउ-

डर, प्रभृति सजाते उससे सौगुना अधिक समय लगता है। और जो आपने कहा, कि गहनेके नशेसे प्रकृतिकी लघुता होती है, वह गहनेका दोष नहीं, उसके नशेका दोष है। गहना जिस उद्देश्यसे पहना जाता, प्रकृतिकी लघुता या उदारता उसी उद्देश्यपर निर्भर है। ऐसा विचार पण्डिताभिमानी कोई कोई महामूर्ख ही किया करते हैं, कि स्त्रियोंके गहना पहननेसे ही उनकी पकृति लघु होती है।

अलङ्कारनिवारिणी सभाके सभ्य महाशय निरुत्तर हो चुप हो रहे। हम समझते हैं, कि उन्हें यह समझ आ गई, कि उनकी सभाने जिस काममें हाथ लगाया है, उस कामका पूरा करना बहुत सहज नहीं। देशमें अङ्गरेजी विद्याकी विमल ज्योति फैलनेपर भी उस सभाका उद्देश्य पूरा न होगा। वह अवश्य ही मन ही मन मान गये होंगे, कि अशिक्षिता भारतकी स्त्रियाँ ही अलङ्कारप्रिय नहीं। कालक्रमसे उनके बीबी बननेपर अलङ्कारनिवारिणी सभाका काम बढ़ जायका, घटेगा नहीं।

हम सामान्य गृहस्थ आदमी हैं। पहली अवस्थामें हमारी मासिक आमदनी डेढ़ सौ रुपयेसे अधिक न थी। यह भी समझ नहीं थी, कि यह कभी बढ़ेगी भी। हमने उसी समयसे यह स्थिर किया, कि अपने परिवारमें कम खर्च न करनेसे हमारी भलाई नहीं होगी। ऐसा ही विचार हम स्त्रीके हाथ मासिक वेतनके रुपये दे कहता, "मैं जो उपार्जन करता, वह सब तुम्हारा ही है। जिससे हम अच्छे रह सकें, वैसा ही आहार, आवास, और पहननेके कपड़े तुम हमें देना, असमयके लिये कुछ जमा भी कर रखना। तुम्हारे पास गहने नहीं हैं, वह भी दो चार बनवाना चाहिये।" * * *। "नहीं नहीं, ऐसा नहीं हमारे कितने ही सम्बन्धी बड़े आदमी हैं। उनके घर निमन्त्रण आदिमें जाना आवश्यकीय है। नितान्त दुःखिनीकी भाँति जानेसे मुझे सुख न होगा। अतएव दो-चार गहने बनवाने पड़ेंगे।"

इसके बाद कुछ दिन बीत गये। हमलोगोंको खाने-पहननेका कोई कष्ट न हुआ। जातिभाई हमारे घर आ भोजनादि कर कहते,—"तुम्हारे घर रसोईमें बड़ा स्वाद है, भोजन करनेसे ऐसी तृप्ति और कहीं नहीं होती।" लड़कोंके बीमार पड़नेपर हम अङ्गरेज डाक्टरोंको बुला दवा कराते। प्रायः हर महीने कुछ न कुछ सेविंग्स बेंक्में भी जमा होता। हमारे घर जैसा सामान और किसी घरमें होता दिखाई न देता। दूसरेके घर निमन्त्रित होने पर हम देखते,

कि द्रव्यादि अधिक नष्ट होता या बच जाता था। हमारे घर भोजमें कुछ भी नष्ट न होता, प्रायः कुछ बचता भी न था, ठीक ठीक उतरता। दूसरे घर बीमारी आनेसे यह बात सुनाई देती, कि इतनी फीस दे कैसे डाक्टर बुलावें। किन्तु हमारे घर कभी ऐसी बात सुनाई न देती। सुनाई देना तो दूरकी बात, हम जातिभाईके बीमार होनेपर उनकी सेवाके लिये उन्हें अपने घर लानेका अनुरोध सुनते। पहले चार वर्षमें उन्होंने कुछ गहने भी बनवा लिये।

हमारे विचारसे उन गहनोंमें जो रुपये बँध गये, उनके खर्च होनेसे हमारा जितना उपकार होता, उसकी अपेक्षा सौगुना अधिक उपकार हुआ। एक अच्छी रसोईदारन, एक पल्लाकुली या एक विश्वस्त नौकर रखनेसे हमारा जितना खर्च पड़ता, इन गहनोंमें उसकी अपेक्षा अधिक न लगा। वरं यह लाभ हुआ, कि स्त्रीने सिहाब-किताब सीखा, द्रव्यसामग्रीका दर-दाम सीखा, ब्राह्मण और प्रीति-भोजकी फिहरिस्त बनाना सीखा और सब कामोंमें ही उन्हें भविष्यत्‌का विचारकर काम चलानेका अभ्यास हुआ। और यह लाभ हुआ, कि हमें पारिवारिक कितनी ही चिन्ताओंसे अवसर मिला। इससे हम पहले लड़केके पढ़ाने-लिखानेमें चित्त लगा सके। हमने उस समय कई पुस्तक लिखी थीं। उन किताबोंकी बिक्रीसे जितने रुपये पाये, उसका हिसाब करनेसे जान पड़ा, कि हमारी स्त्रीने जितने गहने गढ़ाये थे, उससे दशगुना और अधिक हो सकता है।

हमारी आय पहलेकी अपेक्षा बढ़ी। गहने भी बन गये। नये प्रकारके अच्छे गहने देखनेसे वैसे ही गढ़ाये जाने लगे। कुछ दिन ऐसे ही चलनेसे गहना गढ़ानेकी तृप्ति हुई। अब रहनेका मकान सुन्दर होना चाहिये, घरकी सजावट अच्छी होनी चाहिये, घरके सामानोंमें अधिकता और विचित्रता होनी चाहिये। क्रमसे यह भी होने लगा। गहनेका गढ़ाना प्रायः बन्द हुआ। अपनी अलङ्कारप्रियता साधारण सौन्दर्य्यप्रियतामें बदलने लगी। कदाचित् हमारी तरह अनेक गृहस्थोंके घर इतना अधिक और इतने प्रकारका गृहोपकरण नहीं।

इस अवस्थामें भी गहनेका गढ़ाना चला। कुछ अपने लिये नहीं, दूसरेके गहना गढ़ा पहनानेमें बड़ा आमोद है। सुखका सरोवर भरकर आस-पास बहने लगा।। "वह तुम्हारा आत्मीय है, उसकी आमदनी भी इतनी है, उस दिन उसकी स्त्रीको देखा, कि उसके पास अमुक गहना था, अमुक नहीं। वह

उसे बनवा देना चाहिये। पहले इतने रुपये लगेंगे, वह हम दे देंगे। वह महीने महीने इतना देगी, तो इतने महीनेमें रुपये मिल जायँगे।" "उसे ऋणग्रस्त करनेसे लाभ क्या?" "हमारा कुछ लाभ नहीं, उसीका लाभ है। हमारा रुपया उसे देना ही पड़ेगा, सुतरां वह समझके खर्च करेगी। उसकी जितनी आमदनी उतना खर्च, कुछ भी नहीं बचता।" * * * "उसपर तुम्हारा प्रेम है, वह भी तुम्हारे बाध्य है। किन्तु उसकी सास बहुओंसे जलती है, गहने ओहने कुछ नहीं बनवाती। हमने एक चिन्ता की है, बहूके लिये गहने बनवा दिये हैं, हमारे देनेसे उसकी सास कुछ कह न सकेगी। वह महीने महीने हमारे रुपये चुकाती जायगी।" * * * "अमुकके सब काम अच्छे हैं; किन्तु शराब पीना छोड़नेसे और अच्छा होता। बहूको गहने बनवा देना चाहिये, कर्ज देनेमें उसके रुपये खर्च हो जायेंगे, फिर वह शराब पी न सकेगा।"

प्राय· हम ऐसी ही बातें सुनते थे। एक दिन ऐसी ही बात हुई, ऐसे समय सुरापान-निवारिणी सभाके एक सभ्य महाशयको देख उनसे हमने, अलङ्कार-निवारिणी सभाका उद्देश्य प्रकट किया। यह भी प्रकट किया, कि हमारी स्त्री गहने गढ़ा किस प्रकार मद्यपान छुड़ाना चाहती है। सुरापान-निवारिणीके सभ्यने कहा, कि इस समय जैसा काल उपस्थित है, उससे स्त्रियोंकी अलङ्कार प्रियताके बढ़ानेमें ही मङ्गल है।

हमारे विचारसे गहना गढ़ाना इतना दुष्कर काम नहीं, कि उसका निवारण करना पड़े। उससे उपकार नहीं, तो अपकार होनेकी भी सम्भावना नहीं। हमारे विचारसे गहनेके लिये किचकिच करना बड़ा भारी दोष है। यह नहीं, कि स्त्री स्वयं अपनी इच्छासे गहना गढ़ायें। उनके गहना पहननेसे तुम सुखी होगे, वह इसीसे गहना गढ़ाती हैं। इस प्रकार गहने गढ़ाने से मित-व्ययिता, घरके काममें दक्षता, शोभाप्रियता, परायेके हितकी चिन्ता, गृहलक्ष्मी-का होना, तथा अर्थशास्त्रका सच्चा फल दिखाई देगा।

हमने देखा है, कि गहना गढ़ानेके सम्बन्धमें किसी किसी विलक्षण मनुष्यका भी ऐसाही रूप है। हमारे एक मित्र एक अच्छी नौकरी करते थे। उन्होंने वह नोकरी छोड़ दी। इसके उपरान्त उन्होंने जो मूलधन सञ्चय किया था उसका कुछ अंश खर्च अपनी स्त्रीके लिये गहने गढ़ा दिये। उस समय उन्होंने ऐसा क्यों किया? पूछने पर उन्होंने कहा,—"मैंने नौकरी छोड़ी सही, किन्तु स्त्रीका जो अंश है, वह तो उसे मिलनाही चाहिये।"

हमने कुछ न कहा, किन्तु मनही मन हमने प्रश्नकर उनसे पूछा,—"जब नोकरी छोड़ी तो स्त्रीकी रायसे क्यों न छोड़ी ? गहना स्त्रीका अवश्य प्राप्य कैसे हुआ ? उन्हें गहना बनवाना ही क्यों पड़ेगा ?" उन्होंने किस प्रकार अपनी पत्नीके मनका भाव समझ लिया था, या उसके प्रति किस प्रकारके भावका आरोप किया था ?—"तुम्हारी नोकरी गई, मेरी तो गई नहीं–ऐसा भाव न समझनेसे ऐसी बात और ऐसा काम न होता"।

---

११ प्रबन्ध।

कुटुम्बता।

हम लोगोंकी कुटुम्बताका काम बड़ा ही जटिल है। विशेष विचार पूर्व्वक न चलनेसे उस जटिलताके कारण अनेक कष्ट उठाना पड़ता है। कुटुम्बताके बहुत ही जटिल होनेके कारण आजकल कितने ही लोग कुटुम्बताके व्यवहारमें शिथिलता दिखा रहे हैं। किन्तु हमारे मतसे कुटुम्बताका व्यवहार अनादरके योग्य नहीं है। बाहरी लोगोंके साथ गृहस्थका जो सम्बन्ध है उसमें कुटुम्बता सर्वप्रधान है। बाहरी लोग तुम्हें किन आँखोंसे देखते हैं उसके जाननेका उत्कृष्ट उपाय कुटुम्बवर्ग हैं। कारण, बाहरी लोग तुम्हें जिन आंखोंसे देखते हैं प्रायः तुम्हारे कुटुम्बगण भी तुम्हें उन्हीं आंखोंसे देखते हैं।

कुटुम्बगण यदि और किसी विषयमें तुम्हारे समहृदय हों या न हों, तब भी एक विषयमें उनकी समहृदयता होगी ही। कुटुम्बीगण कुटुम्बका गौरव ढूँढते हैं। दामाद, बहनोई, ससुर, साले, यह लोग बड़े आदमी हैं, चार आदमी उन्हें जानते पहचानते हैं, ऐसा कहने और समझनेसे सब लोग सुख मानते हैं। कुटुम्बके उज्ज्वल होनेसे ही मुख उज्ज्वल होता है। कुटुम्बको छोटा आदमी समझनेसे दुःख होता है।

कुटुम्बियोंको सन्तुष्ट करनेका उपाय सम्भवके अनुसार उन्हें अपनी ख्याति, प्रतिपत्ति और गौरवका अंशभागी बनाना है। तुम जो बड़ा काम करो, उसे अकेले न करो। उसमें अपने कुटुम्बियोंकी सहायता और परामर्शकी प्रार्थना करो। ब्राह्मण पण्डितको बिदा करना हो, कुलीन ब्राह्मणको कुछ देना हो, दुर्गोत्सव या शिवप्रतिष्ठा करना हो तो कुटुम्बवर्गके साथ पहले परामर्श कर इन सब कामोंमें प्रवृत्त हो। जिससे ख्याति और महिमाका अर्ज्जन हो, वैसे कामोंको कुटुम्बियोंसे निरपेक्ष हो न करना। संसारके सामान्य कामोंके

लिये कुटुम्बियोंको बुलाना बिलकुल ही आकांक्षत्कर है। कुटुम्बियोंकी आंखमें छोटा आदमी जँचनेसे तुम्हारे कुटुम्बी सचमुच ही कष्ट पाते हैं।

यह जो एक प्रवाद है, कि कुटुम्बीगण बड़े बड़े उपहार चाहते हैं, वह प्रवाद अमूलक नहीं है। किन्तु बड़े बड़े उपहार चाहनेके लिये कुटुम्बियोंको अर्थ लोभ नहीं है, तुम्हारे ही गौरवके प्रति उनकी ममता है। उपहारका द्रव्यादि आने पर क्या उसे वह स्वयं अपने पेटमें रखते या प्रतिवेशियोंके घर घर बंटवा देते हैं? बाँटनेके समय क्या वह किसीसे कुछ न कह कभी कभी अपने व्ययसे द्रव्यादिका परिमाण बढ़ाते नहीं? क्या ये सब काम लोभके हैं?

फलतः कुटुम्बियोंको लालची समझना नीचाशयताका चिह्न है। कुटुम्बीगण तुम्हारी ख्याति और गौरवकी वृद्धिका लोभ करते हैं सही, किन्तु तुम्हारे धनके प्रति उन लोगोंका लोभ नहीं है। भारतके कितने ही अंशके कितने ही लोग उपहार देने और उपहार लेनेके प्रति बहुत ही विरक्त होते हैं। उनमें कितने ही उपहारके द्रव्यादिको बाजारमें बेचा करते हैं। वे लोग कुटुम्बताके यथार्थ भावको नहीं समझते। फिर कोई कोई ग्रामवासी कुटुम्बी द्रव्यादिके बदले उसका मूल्य रख रुपये भेज दिया करते हैं। वे लोग भी कुटुम्बताकी यथार्थ प्रकृतिको नहीं समझते।

जो लोग कुटुम्बताका सुख भोगना और उस सम्बन्धमें शिक्षा लाभ करना चाहते हैं, उनके लिये हम एक सामान्य परामर्श देते हैं। यदि तुम्हारा अर्थ संस्थान अधिक न हो और मितव्ययिताकी रक्षाका नितान्त प्रयोजन हो, तो बारह महीनेमें तेरह उपहार देनेकी जो प्रथा है, उसे छोड़ दो। वर्षमें जितनी बार तुम्हारी सुविधा हो, केवल उतने ही बार उपहार दो। किन्तु जब करना तब अच्छी तरह। इस प्रणालीका अवलम्बन कर चलनेसे तुम देख सकोगे, कि तुम्हारे कुटुम्बी सन्तुष्ट रहेंगे। फिर कहते हैं,—सौ बार कहते हैं—कुटुम्बियोंको अर्थलोभी न समझना। वे तुम्हारे गौरवसे स्वयं गौरवान्वित होना चाहते हैं। ऐसा ही समझ कर तुम अपना काम करो। यह कुटुम्बका दोष है या गुण? जो दोष समझते हैं वे बहुत ही कृपण हैं,—वे रुपयेकी पोटली गलेमें बांधकर मरेंगे। जो गुण समझते हैं, वे कुटुम्बता कर बाहरी संसारके साथ सम्पर्क रखना और सुसामाजिक होना सीखें।

कुटुम्बतासे अहङ्कार शून्य विनीत सामाजिक व्यवहारकी शिक्षा मिलती है। जो कुटुम्बताकी मूल प्रकृतिको नहीं समझते, वह कुटुम्बियोंके प्रति साहङ्कार

व्यवहार करते हैं। देखो, हमने तुमने जिस वस्तु पर सम्मिलित अधिकार किया है, उसे कभी एक दूसरेके दिखानेका प्रयोजन नहीं होता—जो संमिलित अधिकारका नहीं है, ऐसे विषयको दूसरेको दिखानेका प्रयोजन हो सकता है। सुतरां प्रकारान्तरसे किसीको कुछ दिखानेके समय यह बात कही जाती है, कि यह सम्मिलित अधिकारका नहीं है। अतएव यदि कुटुम्बियोंके प्रति साहङ्कार व्यवहार दिखाया गया अर्थात् अपना धन, गौरव, ख्याति, महिमा कुटुम्बको दिखाया गया तो मानो उनसे एक प्रकारसे कहा गया, कि जो हम तुम्हे दिखा रहे हैं उस पर तुम्हारा अधिकार नहीं—वह स्वयं मेरा है। ऐसा करनेसे ही कुटुम्बीको अपने अधिकारसे भ्रष्ट किया गया और वह उनके विरागका कारण उत्पन्न हुआ। कुटुम्बी तुम्हारे गौरवके अंशभागी हैं—उन्हें अपने अंशसे वञ्चित न करना चाहिये।

अतएव देखा जाता है कि जैसे एक ओर कुटुम्बीके आगे नीचा न देखना चाहिये, वैसे ही दूसरी ओर कुटुम्बीके आगे अहङ्कार न करना चाहिये। इस प्रकार दोनों ओर ठीक चलनेके लिये कुटुम्बताके व्यवहारको यत्न पूर्व्वक सीखना चाहिये। कुटुम्बीलोग ही सुसामाजिक होना सिखाते हैं। अपने परिवारसे वह शिक्षा नहीं मिलती। प्रणयास्पद मित्रोंसे भी वह शिक्षा नहीं मिलती। कुटुम्बीगण इतने प्रयोजनीय होनेके कारण ही इतने समादर और गौरवके वस्तु हैं।

कोई कोई अशिक्षित दुर्ब्बलमनवाले मनुष्य कुटुम्बताकी यथार्थ प्रकृतिको समझकर भी कुटुम्बताके व्यवहारमें सच्ची राहका अनुसरण कर नहीं सकते। वे लोग कुटुम्बियोंमें मन ही मन दो दल बना लेते हैं। उन दो दलोंमें वह एक दलके प्रति साहङ्कार व्यवहार करते और दूसरे दलके आगे विनीत और विनम्र रहते हैं। इनमें कन्या सम्प्रदाता कुटुम्बियोंका एक दल और कन्यागृहीता कुटुम्बियोंका दूसरा दल होता है। वे लोग प्रथम दलको पीड़ित करते और दूसरे दलकी खुशामद करते हैं। ऐसा करनेसे सामाजिकताकी उन्हें कोई शिक्षा नहीं मिलती, वरं स्वार्थपरता और दो चार दुष्प्रवृत्तिका ही प्राबल्य होता है, ऐसे व्यवहारसे घरमें भी विषम फल होता है—बहू और कन्याओंमें परस्पर प्रबलतर ईर्ष्याका सूत्रपात हो जाता है।

गृहकर्त्री यदि सुशीला और बुद्धिमती हो तो वह कुटुम्बियोंमें इस प्रकारका दल भेद और कन्या-बहूमें परस्पर विद्वेषको दूर करती है। वह जैसा

कन्याके ससुरका समादर करती वैसा ही उसके ससुरका भी करती है। समझ लो, कि किसी गृहस्थकी तीन कन्या और एक पुत्रका विवाह हुआ है, गृहकर्त्री सुबोध हैं, उन्होंने अपने चारो सम्बन्धियोंका ऐसा नाम रक्खा। बड़ी लड़कीके ससुरको बड़े समधी, मझली लड़कीके ससुरको मझले समधी। किन्तु पुत्रवधूकी उम्र उनकी तीसरी कन्यासे अधिक थी अतएव पुत्रवधूको तृतीय स्थानीय बना, उन्होंने बहूके पिताका नाम तृतीय समधी रक्खा। छोटी कन्याका ससुर छोटा समधी बना। यह छोटासा उपाय बड़े ही कामका हुआ। पुत्रवधूके पिता कन्याओंके ससुर सम्प्रदायमें ही गिने गये; वे अलग किये नहीं गये। वह गृहकर्त्री जब कुटुम्बियोंके घर सौगात भेजती तब कन्याओंके घर जैसा पुत्रवधूके घर भी ठीक वैसा ही भेजती। त्योहारपर वह कन्याओंकी सासके लिये जैसे कपड़े देती पुत्रवधूकी माताको भी वैसा ही देती। वह बहूका बाप या बहूकी मा कभी कहती न थी। उनका नाम लेने के समय वह उन्हें तृतीय समधी और तृतीय समधिन ही कहा करती थी।

ऐसे ही छोटे छोटे विषयोंसे गृहस्थोंका संसार धर्म है। ऐसे छोटे छोटे कामोंमें ही गार्हस्थकर्म्मोंकी शिक्षा है। हमने जिस छोटेसे कामका उल्लेख किया उसके भीतर कितना विचार, कितनी उदारता है, उसका विचार कर देखनेसे मुग्ध होना पड़ता है।

---

१२ प्रबन्ध।

ज्ञातित्व।

ज्ञाति शब्द इस समय अनेक स्थानोंमें शत्रुबोधक हो पड़ा है। उसने मेरे साथ ज्ञातित्वका व्यवहार किया। ऐसा कहनेसे यह समझा जाता है कि, उसने मेरे साथ शत्रुका व्यवहार किया। कोई कोई हँसीमें उदाहरण देते हुए भी कहते हैं, कि "देखो, छोटा भाई सहोदर सबकी अपेक्षा निकटका ज्ञाति भाई है। किन्तु उसके काम कैसे कैसे हैं। वह गर्भमें आते ही बड़े भाईको श्रीभ्रष्ट करता, उत्पन्न होते ही माताके स्तन और गोदको छीन लेता है। इसके बाद पिताके स्नेहका हिस्सा भी लेता और अन्तमें पैतृक सम्पत्तिके अर्द्धांशसे वञ्चित करता है; ऐसा परमशत्रु और कौन है?"

किन्तु ज्ञाति शब्द हर समय ऐसा भावार्थ प्रकाश नहीं करता। जब समाजने बृहदाकार धारण नहीं किया था, राजतन्त्रता पूरी तरहसे संस्थापित नहीं थी, मनुष्य अपने अपने गोत्रस्वामीके अधीन होकर ही रहते थे ऐसे समय ज्ञातिभाईके अतिरिक्त और कोई पूरा विश्वासभाजन और मित्रताका पात्र हो नहीं सकता था। तब ज्ञातित्वके सम्बन्धमें केवल जन्म-सम्बन्ध ही माना नहीं जाता था। उसमें प्रकृत मित्रता और ममता ही मानी जाती थी।

विचारकर देखनेसे ज्ञातिभाई परममित्र ही हो सकते हैं। ज्ञातिभाइयोंमें परस्पर समहृदयताका यथेष्ट कारण वर्त्तमान है। वंश-मर्य्यादाकी रक्षा और उसी मर्य्यादाका सम्वर्द्धन ज्ञातिभाईमात्रकी इच्छा है। जैसे तुम अपने जिन पूर्व्व पुरुषोंका सम्मान करते, जिनके गौरवको बढ़ाना चाहते जिनके नामसे अपना परिचय देते वैसे ही तुम्हारे ज्ञातिभाई भी पूर्व पुरुषोंका सम्मान करते और सम्भ्रम-वृद्धि करना चाहते तथा उनके ही नामसे अपना परिचय देते हैं।

जब ज्ञातिभाइयोंमें समहृदयताका ऐसा दैदीप्यमान कारण है तब उनके साथ सुख-स्वच्छन्दसे बिताना बहुत कठिन काम जान नहीं पड़ता। स्वयं कुछ अभिमानशून्य होना चाहिये। पूर्वपुरुषोंके प्रति श्रद्धासम्पन्न होना चाहिये और ज्ञातिभाइयोंसे व्यवहारके समय पूर्वपुरुषोंका नाम लेते हुए काम करना चाहिये। ऐसा करनेसे ज्ञातिभाइयोंके हृदयमें प्रतियोगिताका भाव उत्पन्न नहीं होता है। तुम्हारे साथ उनके जिस प्रधान विषयकी एकता है वह सदा याद रहता और तुम अनायास ही उनकी और सहायता पा सकते हो। तुम जातिभाइयोंसे बातचीतके समय प्रसङ्गवश पूर्वपुरुषोंके चरित्रकी पर्यालोचना करो और अपने क्रिया कलापमें उन्हें अपना साथी बना उन पूर्व-पुरुषोंकी ही पूजा किया करो।

कालभेदसे रीति-नीति आचार-व्यवहार पूर्व पुरुषोंकी रीति-नीति आचार-व्यवहारसे भिन्न हो जानेपर भी पूर्वपुरुषोंकी याद न करना यथेष्ट अनिष्टका हेतु है। स्वर्गीय पितृपितामहादिका स्मरण करनेसे चाहे और कोई फल मिले या न मिले, किन्तु मनमें इस भावका उदय होगा ही होगा, कि इस पृथिवीमें चिर-कालके लिये कोई रहने नहीं आया। फिर इसमें संशय ही क्या है, कि ऐसा होनेसे कितने ही स्थलोंमें दुष्प्रवृत्तिका बल घटेगा ही। इतिहास कहता है

कि प्राचीन मिश्रवासी लोग अमिताचार और अत्याचारको दूर करनेके लिये भोजन-घरमें एक एक मनुष्य-कङ्काल संस्थापित कर रखते थे। जिन्हें सदा पूर्व पुरुषोंके स्मरणका अभ्यास है, उनके मनोमन्दिरमें मानो वैसे ही कङ्काल संस्थापित रहते हैं; सुतरां रिपुदमन अवश्य ही इन सबके अभ्यासी होते हैं। ऐसा ही नहीं कि पूर्व पुरुषोंका स्मरण करनेसे संसारकी अनित्यता और जीवनकी क्षणभंगुरता प्रकट होती है। पूर्व पुरुषगण भक्ति, श्रद्धा और प्रीति-पात्रके रूपमें ही सबके हृदयमें विराजमान हैं। पूर्व पुरुषगण ही मूर्त्तिमान देवता हैं। दूसरोंकी आँखोंमें चाहें वह जैसे मनुष्य हों अपने वंशधरोंकी दृष्टिमें कदाचित कोई खराब देखे नहीं जाते। हम एक उदाहरण द्वारा इस बातको सप्रमाणित करते हैं।

ठगोंका उपद्रव दूर करनेवाले सुप्रसिद्ध कर्नल स्लिमन साहबने जब्बलपुर नगरमें एक शिल्प विद्यालय संस्थापित कर उसमें कितने ही ठग और उनके बच्चोंकी शिक्षाका उपाय ठीक कर दिया था। एक ठग और उसका पुत्र—दोनों ही उस विद्यालयमें शिक्षा पा विलक्षण सच्चरित्र और कार्य्यक्षम हो गये थे। कुछ दिनके बाद उस ठगकी मृत्यु होनेपर उसका पुत्र पितृवियोगसे अधीर हुआ। विद्यालयके सम्पादक कप्तान ब्रोण साहबने उसे धैर्य्य देनेके लिये या किसी और कारणसे उससे कहा,—"तुम्हारा पिता ठग था, उसके नरहत्या करनेकी गिनती नहीं, उसकी मृत्युके लिये इतना शोक करना अनुचित है।" पुत्रने उत्तर दिया,—"मेरे पिता ठग थे, उन्होंने नरहत्या भी की थी सही, किन्तु जिस समय ठग होने और नरहत्या करनेको वे बुरा काम नहीं समझते थे, उस समय उन्होंने यह सब किया। वे जानते थे कि उन सब कामोंमें देवीकी आज्ञा है। कम्पनी बहादुरके यकबाल (शुभादृष्ट) ने उस समय देवीको परास्त किया न था। किन्तु उनमें साहस, वीरता, धीरता और अध्यवसाय जैसा था, उसे तो आप जानते ही हैं।" ठगने भी मर कर अपने पुत्रके हृदयमें देवमूर्त्ति धारण की थी। जो मरता वही स्वर्गीय होता है। अतएव जो लोग पूर्वपुरुषका स्मरण करते, देवताओंके साथ घनिष्ठता होनेके कारण उनका मन भी पवित्र हुआ करता है।

ज्ञातिवर्गका संसर्ग पूर्व पुरुषरूप देवताओंकी पूजाका उत्तेजक है। अतएव जब उनमें किसीसे भी साक्षात् हो, तभी उनकी पूजामें प्रवृत्त होना चाहिये। पूजाके समय अहङ्कार, ईर्षा, विद्वेषादि दुष्ट भावोंसे अवश्य अलग

रहना चाहिये। पूजाके अन्तमें पूजाका शुभ फल आनन्द और प्रीति लाभ अवश्य होगा।

किन्तु ऐसे परम धर्मका साधक—मानस-पूजाका प्रवर्त्तक—जो ज्ञाति संसर्ग है; वह कितने ही स्थलोंमें हमारे विचारके दोषसे पारमार्थिक शुभका साधक हो नहीं सकता। ज्ञातिभाइयोंके साथ हम लोगोंका ऐहलौकिक स्वार्थ सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको पहलेहीसे छुड़ा रखना चाहिये। पहले ही न छुड़ानेसे वह स्वार्थ धीरे धीरे बहुत ही प्रबलरूप धारण करता है। ऐसा होनेहीसे ज्ञातिविरोध भवक उठता है और वह समस्त पारमार्थिक प्रवृत्तियोंको जला डालता है। तुम और तुम्हारे भाई, दोनों ही एक पितृ-मातृ-रूप देव-देवीके उपासक हो। दोनों मनुष्य एकान्तमें बैठ मा-बापकी बातें करो कैसी पवित्रता होगी। कैसा आनन्दाश्रु विगलित होगा! उनकी ऐहलौकिक लीलाओंको याद करनेसे तुम्हारा चरित्र कैसा अपूर्व निर्मलभाव धारण करेगा। परन्तु अभीतक कोई दोष नहीं दिखने में आता है कि तुम लोगोंकी पैतृक सम्पत्तिका कोई बंटवारा नहीं हुआ है। दोनों भाइयोंमें खूब मेल है—मानो हरिहर आत्मा हैं। किन्तु थोड़े ही दिनमें देखोगे कि उस ऐहलौकिक स्वार्थके कारण तुम दोनोंके पारमार्थिकके सम्बन्धमें व्याघात पड़ेगा—पहले माता-पिताकी पूजासे मन हटेगा, इसके बाद कोई किसीसे अपने मनकी बात कह न सकेगा—अन्तमें दोनों हीको राजद्वारमें उपस्थित होना पड़ेगा।

अतएव ज्ञातिभाइयोंके साथ कभी पैतृक अर्थका लगाव न रखना। अभी दोनों भाई मिल पैतृकविषयका बंटवारा कर लो। इस प्रकार नाता तोड़ देशाचारके विरुद्ध है सही, किन्तु पैतृक सम्पत्तिका विभाग करनेके लिये शास्त्रमें स्पष्ट उपदेश है। दायभाग बनाने वालोंने ऐसे विभागकी यथेष्ट प्रशंसा भी की है। अतएव शास्त्रकी रक्षा करो—परिणामदर्शी बनो—पूर्व्वपुरुष पूजारूप महत् धर्मकी राहमें कांटे न बोओ। आँखकी लज्जा छोड़ो—ज्ञाति-भाइयोंके शुभफलके आकांक्षी बनो।

ज्ञातिभाईके साथ पैतृक अर्थके सम्बन्धमें शून्य होना पड़ेगा। किन्तु ज्ञातिभाईके प्रतिपालनमें किसी प्रकार मुँह फेरना न चाहिये। ज्ञातिभाइयोंमें जो सबकी अपेक्षा अधिक क्षमताशाली हैं वे अपनेको गोत्रस्वामी समझें। गोत्रस्वामी गोत्रके राजा हैं—कर लेने वाले राजा नहीं, प्रजापालक

राजा हैं। वह गोत्रके सब लोगोंका सुख-स्वच्छन्द बढ़ानेका यत्न करें। वह यह देखें कि किसे किस कारण कष्ट है और सामर्थ्यके अनुसार उसके दूर करनेकी चेष्टा करें। गोत्रमें किसी मनुष्यके नीच, अपमानित या अक्षम होनेसे उसका दोष गोत्रस्वामीको लगता है। ज्ञातिमें जो प्रधान मनुष्य हैं उन ज्ञातिभाइयोंका ऐसा दोष उन्हें लगना आवश्यकीय है।

एक धर्मावलम्बी मनुष्य सब देशोंमें ही सब समय परस्पर सहायता और उपकार करनेकी चेष्टा करते हैं। खृष्टान लोग खृष्टानके, मुसलमान मुसलमानके और जैनी जैनीके उपकारमें समधिक रत रहते हैं। यदि इस प्रकार एक धर्मावलम्बन एक दूसरेके उपकारका हेतु होता है तो एक पूर्व्व पुरुषके उपासक ज्ञातिभाई कैसे एक दूसरेके लिये उपकारके पात्र हो नहीं सकते।

यह जो प्रवाद है, कि ज्ञाति-विरोध स्त्रियोंकी कुमन्त्रणासे उत्पन्न होता है वह ठीक ही है। स्त्रियाँ जैसा अपने सर्वान्तःकरणसे स्वामी और पुत्रके मंगलकी कामना करती हैं वैसा अपने देवर, देवरपुत्र आदिके मंगलकी कामना सर्वान्तःकरणसे कर नहीं सकतीं। सुतरां यदि ससुर अथवा स्वामी ज्ञातिभाइयोंसे अपना स्वार्थ अलग न कर सबको मिलाये रक्खें तो स्त्रियोंके मुखसे असन्तोष और विरक्ति प्रकट होती है। किन्तु ज्ञातिभाइयोंसे पैतृक अर्थका सम्बन्ध तोड़ देनेपर, तुम देखोगे कि तुम्हारी सहधर्मिणी कभी ज्ञातिभाइयोंके पालन या ज्ञातिभाइयोंके समादरसे मुँह न मोड़ेगी।

---

१३ प्रबन्ध।

नकली स्वजनता।

स्वजनका अर्थ निजका मनुष्य है। निजके मनुष्य नाना प्रकारके होते हैं। कोई ज्ञातिभाई, कोई कुटुम्बी और कोई मित्र। ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंमें प्रभेदका नियम है,—जैसे कोई निकटका ज्ञातिभाई, कोई दूरका ज्ञातिभाई, कोई निकटका सम्बन्धी और कोई दूरका सम्बन्धी। अशौच अथवा पिण्डके सम्बन्धमें ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंका नैकट्य या दूरत्व समझा जाता है। यह सब बातें शास्त्रकारगण दिखा गये हैं। उस सम्बन्धमें हमें कोई बात

नहीं कहना है। ज्ञातिभाई और कुटुम्बियोंमें निकट तथा दूरत्वके जाननेका बहुत सहज उपाय है। जो तुम्हारे साथ सम्बन्धाधीन हो रूढ नाम प्राप्त हैं, वह तुम्हारे निकटके ज्ञातिभाई या सम्बन्धी हैं, जिनकी योगरूढ़की आख्या होती है वह उनकी अपेक्षा दूरके और जिनकी स्वतन्त्र आख्या नहीं होती है वह सबकी अपेक्षा दूरके ज्ञातिभाई या सम्बन्धी हैं। भाई, बहन, चाचा, मामा इत्यादि तुम्हारे निकटके ज्ञाति हैं। भतीजा, भतीजी, चचेरा भाई, इन लोगोंकी आख्या योगरूढ़ है, यह लोग तुम्हारे दूरके ज्ञाति हैं। दामाद, साले. ससुर प्रभृति मनुष्य तुम्हारे निकटके कुटुम्बी हैं। इनकी भिन्न भिन्न रूढ़ी आख्या तुम्हारे सम्बन्धसे उत्पन्न है। बेहाई पुत्र श्यालक जाया प्रभृति योगरूढ़ शब्द दूरके कुटुम्बी वाचक हैं। हम जब ज्ञातिभाई या कुटुम्बीकी बात लिखें, तो निकटके कुटुम्बो ही समझना चाहिये।

इस प्रबन्धमें हम कुटुम्ब प्रभृति स्वजनके सम्बन्धमें कोई बात न कहेंगे। एक प्रकार जो कृत्रिम या बनावटी स्वजनता हैं हमने उनके ही विषयमें इसमें कुछ कहने का विचार किया है।

स्त्रियाँ सम्बन्ध बनानेमें विशेष चतुरा जान पड़ती हैं। सखी, मकर, गंगाजल, गोलापफुल आदि अनेक विचित्र सम्बन्ध बनानेके नाम इसमें प्रमाण हैं। स्त्रियोंमें यौवनावस्थामें सम्बन्ध जोड़नेकी अधिक प्रवृत्ति होती है। उम्र अधिक होनेपर भी यह प्रवृत्ति पूर्णरूपसे नहीं घटती। तब माँ, बेटी, बहू, बेटाका सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध जोड़नेके लिये खूब आना जाना, निमन्त्रण, आमन्त्रण और सौगात का लेन-देन चलता है। इससे घरका काम बहुत ही सुविस्तृत हो पड़ता है।

बराबर देखा जाता है, कि यह काम पुरुषोंके लिये अश्रद्धेय है। वह लोग इसकी ओर अवज्ञा दिखाते और कभी कभी विरक्ति प्रकाश किया करते हैं। किन्तु लगावका सम्बन्ध किस लिये इतना अश्रद्धेय और विरक्तिकर है यह पूछनेपर कोई उसका सदुत्तर दे नहीं सकते।

वास्तवमें लगावके सम्बन्धमें विरक्त होनेका कोई प्रकृत कारण नहीं है। पृथिवीमें कोई सदा रहने नहीं आया। कुछ दिनके लिये यहाँके आमोद प्रमोद हैं और वह आमोद-प्रमोद भी अन्यान्य चार आदमियोंके साथ हुआ करता है। आप ही खाने पहननेसे सुख नहीं होता, चार आदमियोंको खिलाने-पहनानेमें सुख है। जब हमलोग ऐसी अवस्थामें अवस्थित हैं, तब चाहे जिस प्रणालीसे

हो संसारमें रह जितने अधिक आदमियोंसे सम्बन्ध हो, उतना ही उसे अच्छा कहना पड़ेगा। अनुदार और छोटे चित्तके मनुष्य ही अपने और परायेका बहुत विचारकर चलते हैं। उनका मन धीरे धीरे सङ्कुचित हो अपनेके अतिरिक्त और किसीको अपना देखना नहीं चाहता। परायेको अपना बनाना ही सच्चा काम है; विचारकर देखनेसे " नाहं " को " अहं " करनेके अतिरिक्त पृथिवीमें और कुछ काम नहीं है। कुछ देखो, कुछ सुनो, कुछ समझो, कुछ कहो, कुछ करो, चाहे जो कहो, जो तुम्हारा निजका नहीं, उसे अपना बना लेना ही इसका तात्पर्य्य है। ज्ञाति-कुटुम्बी तो अपने हैं ही, जिनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, उनको अपना बनानेके लिये ही सम्बन्ध जोड़नेकी व्यवस्था है।

पुरुषगण जिस कारणसे प्रणोदित हो जिस प्रणालीसे परस्पर मित्रता करते हैं, स्त्रियाँ भी ठीक उसी कारणसे उत्तेजित हो उसी प्रणालीसे सम्बन्ध जोड़ा करती हैं। विशेषता यह है कि, पुरुषोंकी मित्रतामें विशेष विशेष नामकरणोंका उतना आधिक्य नहीं होता, जो स्त्रियोंमें होता है। उसकी मीमांसा करनेके लिये पहले यह जानना चाहिये कि कुछ दिन पहले इस देशके पुरुषोंमें भी मित्रताके ऐसे ही नामकरण होते थे। अब भी दूरवर्त्ती गांवोंमें पश्चिमोत्तर वासियोंके किसी किसी सम्प्रदायमें यह प्रथा लोप नहीं हुई है। लेखकके पितृपर्य्यायस्थ लोगोंमें 'मित्र' 'सङ्गी' 'बन्धु' 'भाई' नाम जोड़नेकी प्रथा अच्छी तरह प्रचलित थी। राजस्थान प्रदेशमें राखीबन्ध भाई सहोदर भाईकी अपेक्षा भी समधिक समादरके योग्य हैं। जैनमतावलम्बी ओसवाल लोग 'भाई' नाम रख कितने ही अज्ञात कुलशील निरन्न मनुष्योंका प्रतिपालन किया करते हैं। प्राचीनकालमें सब देशोंमें ही सम्बन्ध जोड़नेकी व्यवस्था स्त्री पुरुष दोनोंमें ही समान थी। वैवाहिक आचार उसका स्पष्ट प्रमाण देता है। हम लोगोंके वैवाहिक व्यवहारमें जो 'मितवर' (सहबाल) और 'मितकन्या' (सहेली) का समावेश दिखाई देता है, वह वरके मित्र और कन्याकी सहेलीके रूपमें जाने जाते हैं। अङ्गरेजोंमें भी 'ब्राइड्स् मेन' और 'ब्राइड्स्मेड्' वर-कन्याके स्वजन-स्वजनीके स्थानमें होते हैं। फलतः सम्बन्ध जोड़नेका काम मनुष्यस्वभावके सुलभ प्रणयकी प्रवृत्तिका स्वतःसिद्ध कार्य्य है। यह उदारता साधनका प्रथम सोपान और इच्छाशक्तिकी स्वाधीनताका परिचायक है।

तब ऐसा क्यों हुआ कि, यह प्रथा कभी सबल कभी दुर्बल, पुरुषोंमें कम स्त्रियोंमें अधिक, किसी देशमें प्रचलित कहीं लुप्त हो रही है? इस प्रश्नके

उत्तरमें हम और एक प्रश्न करेंगे। धर्म्म प्रवृत्तिका मूल जो पूर्णावस्थाकी प्राप्तिकी इच्छा है वह मनुष्यजातिके लिये साधारण है, तब देशभेद, समयभेद, जातिभेदसे धर्मज्ञानका इतर विशेष क्यों होता है? जड़ोपासना, पौत्तलिकता, आत्मोपासना प्रभृति उपासनाओंमें भेद क्यों उत्पन्न होता है? धर्म्म और प्रणय की प्रणाली गङ्गा यमुनाकी तरह एक ही मूलसे उत्पन्न हो, एक ही ओर एक उद्दे-श्यसे प्रधावित और परिणाममें एकही ओर चलती है। धर्म्मोन्नतिके सोपानमें जैसे पौत्तलिकताकी अवस्था है, वैसे ही प्रणयोन्नतिके सोपानमें सम्बन्ध जोड़ने की अवस्था है।

सामाजिक उन्नतिके साथ भी धर्म्म और प्रणयोन्नतिका एक गूढ़ सम्बन्ध है। जबतक मनुष्य-समाज एक एक गोत्र अर्थात् मिलित परिवारका आकार धारण करता है, तबतक धर्म्म सम्बन्धमें जड़ पदार्थ विशेषकी उपासना प्रबल होती है और प्रणय-प्रणालीका जाति-सम्बन्धियोंसे ही सम्बन्ध रहता है। इसके बाद समाजमें बहुतेरे गोत्रोंके बढ़नेपर धर्मप्रणाली पौत्तलिकताका आकार ग्रहण करती है। प्रणयकी प्रवृत्ति कृत्रिम स्वजनताके संगठनमें नियुक्त होती है। अन्तमें समाजकी जटिलता और विपुलताके समुद्भूत होने पर धर्म्म नाम हीन एकेश्वरवादरूपमें प्रतीयमान और प्रणयवृत्ति आख्यानशून्य बन्धु-तामें चरितार्थ होती है। मनुष्य समाजके और भी जटिल और रूपान्तरको प्राप्त होनेपर, पृथ्वीमय साधारणतन्त्रता और प्रजातन्त्रताके प्रचलित होनेपर, राजव्यवस्था राजाकी मध्यवर्त्तिताके विना कार्य्यकारिणी होनेपर, इसे मनही मन समझना चाहिये कि, प्रणयप्रवृत्ति फिर किस प्रकार चरितार्थ होनेकी चेष्टा करेगी; यह बातोंसे प्रकट करने योग्य नहीं है।

इस देशमें स्त्रियोंका समाज अब भी छोटा है। इतना छोटा कि कितनी ही जगह वह स्वसम्पृक्तके अतिरिक्त और किसीका मुख भी देखने नहीं पातीं। जहां उनके समाजने उस अवस्थाका अतिक्रम किया है वहां अन्यान्य परिवारोंके साथ उनका सन्दर्शन और साहचर्य्य उत्पन्न हुआ है। वहां ही कृत्रिम स्वजनताका भी उद्यम हुआ है। किन्तु सम्बन्ध जोड़ना प्रणयोन्नतिका लक्षण है—प्रणयोन्नतिका चरम फल नहीं। इसी प्रकार पौत्तलिकता भी धर्म्मोन्नतिका लक्षण है—उसका चरम फल नहीं। किसी अवस्थाकी तुलनामें पौत्तलिकता अपकृष्ट है, फिर किसी अवस्थाकी तुलनासे वह उत्कृष्ट है। सम्बन्ध जोड़नेका व्यापार भी वैसा ही है—किसी

अवस्थामें अपकृष्ट और किसी अवस्थामें उत्कृष्ट। एक एकके लिये आदरणीय और दूसरेके लिये अवज्ञेय है।

किन्तु कृत्रिम-स्वजनता श्रद्धेय हो या अवज्ञेय इसमें सन्देह नहीं, कि उसके अवलम्बनसे संसाराश्रमी मनुष्यको एक अच्छी शिक्षा मिल सकती है। यदि तुम्हारे परिवारमें उसका सूत्रपात हो, तो निश्चय समझ लो कि, वह तुम्हारे लिये अश्रद्धाका विषय हो नहीं सकता। तब तुम्हें इस विषयमें यत्नवान होना चाहिये, जिससे उस व्यापारमें शुभ फल फलें। ऐसा उपाय करो, जिससे प्रणय बलवान हो। अपनी स्त्रीकी 'सङ्गिन्' 'दोस्तिन' को अपनी सङ्गिन दोस्तिन प्रभृति यथायोग्य नामसे सम्बोधन करो; सामर्थ्यके अनुसार उनके सुख दुःखके अभिभावक बनो। उनकी सन्तान सन्ततिकी पीड़ासे कातरताका अनुभव करो। समय समयपर स्त्रीके कहनेसे पहले उनकी सङ्गिनोंको सौगात भेजने कहो। कृत्रिम स्वजनगणको सौगात भेजना बहुत ही सहज काम है। उनके साथ प्रणयका सम्बन्ध, मान-सम्भ्रम, वंश मर्य्यादाका सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारी जैसी इच्छा हो, जैसी सुविधा हो, वैसा ही सौगात भेजो। यह लोग तुम्हारे स्थानमें केवल स्मरणके प्रार्थी हैं। अतएव एक झांपी तरकारी भेजनेसे भी उनके लिये सौगात हो सकता है। सौगातकी सामग्रीको वह किसीको दिखानेके अधिकारी नहीं। वह आप ही उसका भोग कर सकते हैं और ऐसा ही करते हैं। कृत्रिम स्वजनवर्गको क्रियाकाण्डके समय बुलावा न देनेसे भी कोई क्षति नहीं। यदि बुलाओ भी, तो उनके हाथ किसी कामका भार न दो। कामका भार देनेसे प्रायः ही जाति भाइयों और कुटुम्बियोंके साथ उनका मनोमालिन्य और मतान्तर हो कष्टका कारण बन जाता है। किन्तु प्रीतिभोजमें कृत्रिम स्वजनगणको अवश्य बुलाना चाहिये, ऐसे स्थलमें वही सर्व्वमय कर्त्ता हैं।

कृत्रिम स्वजनगणमें किसी किसीको भोजनादिका उपलक्ष्य न होनेपर भी निमन्त्रण दे बुलाना असङ्गत नहीं। असङ्गत तो क्या, वही अच्छा है। तुम स्वयं जो तरकारी और अन्न खाते हो, वही अन्न उन्हें खिलानेमें कोई मानापमान नहीं। केवल एकत्र भोजन, एकत्र रहना ही प्रीतिपात्रोंके लिये यथेष्ट है। कृत्रिम स्वजनतामें कुटुम्बताका व्यवहार बिलकुल परिवर्ज्जनीय है। ऐसी जगह कुटुम्बता बरतनेसे ही दोष होता है; स्वजनताका शुभ फल जो प्रणय-

वृद्धि है यह न हो ईर्षा, प्रतियोगिता, अभिमानादि समुत्पन्न होता और घरके कामोंमें बहुत ही असुविधा होती है।

स्त्रियों द्वारा ही कृत्रिम स्वजनता अधिक बढ़ती है। किन्तु उनमें कितनी ही स्त्रियां इस सम्बन्धके सच्चे मतलबको न समझ प्रायः कुटुम्बताके साथ उसे एक कर डालती हैं। ऐसे स्थलमें पुरुषोंका यह कर्त्तव्य है कि, वह अश्रद्धा या औदासीन्यका अवलम्बन न कर अपनी अपनी गृहिणीको अच्छी तरह दिखा दें। यह काम बहुत कठिन नहीं। तुम्हारे बन्धु हैं? एकदिन प्रातः काल तुम एकायक कहो, कि आज उनके साथ तुम एकत्र भोजन करोगे। भोजनके लिये किसी विशेष उद्योगको भी बन्द करो। फिर किसी दिन तुन्हारे मित्र तुमसे मिलने आये हैं, भोजनका समय उपस्थित होने पर उन्हें साथ ले भोजन करने बैठो। "उद्योग कुछ भी नहीं हुआ।" "नहीं हुआ है तो क्या?" विचारपूर्वक तुम्हारे ऐसा व्यवहार करनेपर तुम्हारी स्त्री भी अपनी सङ्गिन दोस्तिनके साथ वैसा ही व्यवहार करना सीखेंगी। "क्या तुमने अपनी बहनको बुलानेके लिये आदमी भेजा? किन्तु अपनी सङ्गिनको न बुलवाया?" * * *

"लड़केके विवाह, यज्ञोपवीत, अन्नप्राशन दादी-दादाके श्राद्धादिमें मैं सङ्गिनको बुलाना ठीक नहीं समझती। उस महीने जब तुम छुट्टीपर आओगे तब मैंने विचार किया है कि साथिनको बुला दस दिन अपने घर रखूँगी"। जिस स्त्रीने यह उत्तर दिया वह कृत्रिम-स्वजनताके सम्बन्धमें जो समझना चाहिये वही समझती है।

---

१४ प्रबन्ध।

अतिथि-सेवा।

"एक कौड़ी पास न रखकर भी भारतवर्षमें ग्राम ग्राममें घूमा फिरा जा सकता है।" इस कहावतपर मैं पूरा विश्वास करता था—करनेका कारण यह था, कि पहले इस देशमें अतिथि-सत्कारकी प्रथा जैसी बलवती थी, इस समय वह क्रमशः उसकी अपेक्षा होनबल हो गई है। पहले किसी गृहस्थके घर एक अतिथिके आने पर अतिथि लौटाया तो जाता ही न था,—मकानमें मानो हड़कम मच जाता था। घरके स्वामी नम्रता और धीरताका अवलम्बन कर आग-

न्तुकसे परिचय और बात करते, पूछते कि घरमें तय्यार अन्न ग्रहण करेंगे या अपने हाथ बनायेंगे, यह सब प्रश्न वे बड़े ही सङ्कोचके साथ करते थे। घरके अन्नादि ग्रहण करनेका विचार सुन वे कृतार्थ होते और अपने हाथ बनानेका विचार सुन अच्छी तरह शुचि हो सब तय्यारी करनेके लिये किसी मनुष्यको आज्ञा देते थे। किसी किसीके घर अतिथिका भोजन समाप्त या कमसे कम भोजनके लिये बैठ जाने तक कोई जलग्रहण करते न थे।

अब आजकल वैसा व्यवहार दिखाई नहीं देता। आजकल अपना ही बनाया भोजन करने वाले अतिथि शहरकी बात तो दूर रही ग्रामोंमें भी पूरी तरह आदर नहीं पाते। जो गृहस्थके घरका बना अन्न आदि ग्रहण करने पर सम्मत हैं वे भी असमय आनेसे गृहस्थके लिये विरक्तिकर हो जाते हैं। जान पड़ता है, कि ऐसे स्थलमें गृहस्थ सतर्क नहीं होते। किसी किसी जगह तो बहाने बहाने यह भी कहा जाता है, कि दुकान समीप ही है। सराय है, सदावर्त्त और होटल भी है। इसके फलसे भले आदमी प्रायः कभी अतिथि बन किसी गृहस्थके द्वार जाने पर राजी नहीं होते। यहाँके अतिथि-गणमें अधिकांश मनुष्य संन्यासी या साधु हैं। यह लोग प्रायः सदावर्त्तसे पेट भर गांजा पीते फिरते हैं। तात्पर्य्य यह है कि कालक्रमसे सच्चे अतिथिसत्कारके उठ जानेका आयोजन हो रहा है। जबतक एकान्नवर्त्तिता रहेगी जबतक उदर और स्वाच्छन्द्यकी चिन्ताके उद्वेगमें इस देशके लोग यूरोपीय मनुष्योंकी तरह उद्वेजित हो न उठेंगे तबतक आतिथ्यका व्यापार बिलकुल ही लोप न होगा। किन्तु यूरोपीय प्रणालीकी सभ्यता बढ़नेके साथ जितना इस देशके लोग स्वातन्त्र्यका अवलम्बन करेंगे तथा आपसके या आये हुए अन्य जातिकी प्रतियोगितासे बिलकुल ही उद्विग्न हो सांस खींचनेका अवसर न पायेंगे उतना ही यूरोपकी तरह इस देशमें भी आतिथ्य धर्म्मका ह्रास होगा।

किन्तु अभी वह दिन नहीं आया। अब भी अतिथिका सत्कार करना गृहस्थ मनुष्योंके कर्त्तव्यकर्म्ममें गिना जाता है। अब भी हम अपने इस धर्म्म-पालनके फल भागी हो सकते हैं।

हम यहां जिस प्रकारके अतिथिसत्कारकी बातपर विचार करते हैं वैसे अतिथि सदा नहीं मिलते। वह कोई परिचित या क्रियाके उपलक्षमें निमन्त्रित मनुष्य नहीं। वह कोई भले आदमी हैं,—कार्य्यगतिसे असमय तुम्हारे घर आ उपस्थित हुए हैं। समझ लो, दोपहरका समय बीत गया है,

उनका स्नान, भोजन नहीं हुआ तुम कैसे उनका समादर या अभ्यर्थना करोगे? हमारे विचारसे तुम्हें यह करना चाहिये कि, शीघ्रतापूर्वक तुम उनके स्नान, भोजनका प्रबन्ध कर दो। अच्छी तरह पांच प्रकारका व्यञ्जन खिलानेमें विलम्ब न करो। स्वयं अपने हाथ उनके लिये कुछ प्रबन्ध करो। सभी काम नोकर, चाकरपर छोड़ निश्चिन्त न हो जाओ। दूधके बच्चेको छोड़ घरके सब लोगोंके लिये जितना दूध रहता है, उसमेंसे थोड़ा थोड़ा ले अतिथिको भी दो; अर्थात् जिनकी समझने योग्य उम्र है, वह समझ सकें, कि अतिथिके लिये उन लोगोंकी सामग्रीसे कुछ कुछ घट गया है। अतिथिके आगे अपने ऐश्वर्य्य या अभिमान दिखानेका आड़म्बर न करना किन्तु जिस दिन घरमें अतिथि आये हैं उस दिन घरमें ऐसी चेष्टा करना चाहिये, जिससे और सबकी अपेक्षा अतिथिका भोजन अच्छीतरह हो। यदि अतिथिसत्कारमें घरकर्त्ता गृहिणी और वयःप्राप्त सन्तानोंके उपभोगमें कुछ त्रुटि न हो, तो अतिथिसत्कारका समग्र फल नहीं होता; किन्तु जिसके घर किसीके उपभोगमें त्रुटि न हो अतिथिका पूरी तरहसे सत्कार होता, उस घरमें मितव्ययिताके नियम भी यथारूपसे प्रतिपालित नहीं होते ऐसा कहा जा सकता है।

अतिथिके साथ बातचीतके समय उनका विशेष परिचय न पूछो। यदि तुम कुछ विदेश पर्य्यटन कर चुके हो, तो उसीके सम्बन्धमें बात करना अच्छा है। विशेषतः यदि तुमने भी कभी अतिथि हो अच्छा सत्कार पाया हो, तो वही बातें कहो; वह अतिथिके लिये अच्छी तरहसे हृदयग्राहिणी होगी।

कभी कभी ऐसे मनुष्योंको अतिथि होना पड़ता है जो केवल स्थान और किसी द्रव्यके प्रार्थी होते हैं। हम लोगोंकी प्राचीन रीतिके सच्चे तात्पर्य्यको समझनेमें असमर्थ कोई कोई मनुष्य ऐसे अतिथिके प्रति यथोचित व्यवहार कर नहीं सकते। वह लोग कहते कि यदि वह हमारा द्रव्य ही न खायेंगे, तो हम केवल जगह क्यों दे? अथवा यदि सीधा ही न लेंगे, तो थोड़ासा दूध या तरकारी देनेसे क्या होगा? ये सब मनुष्य शास्त्रके कहनेके अनुसार अतिथिसेवासे जो पुण्य लाभ होता है उस पुण्यके ही लोभी हैं। किन्तु लोभ महापाप है। अतएव ऐसा पुण्यका लोभ भी छोड़ना चाहिये। जिसे जिसकी आवश्यकता हो, उसे वही देना चाहिये। तुम्हारे

घर बैठे अतिथि अपना द्रव्य खायेंगे इसमें लज्जा करना राजस प्रकृतिका लक्षण है, विशुद्ध सात्विक स्वभावका लक्षण नहीं।

इसमें भी एक बात है, ऐसे अतिथिके पास स्वयं बातचीत करनेकी आवश्यकता नहीं। उनके लिये अपने हाथ कुछ जुटा देनेका भी प्रयोजन नहीं। उनकी सेवाके लिये दास दासियोंको लगा शीघ्र अतिथिकी आज्ञापालनके निमित्त आज्ञा दे देना ही यथेष्ट है।

गृहस्थके लिये अवश्य प्रतिपाल्य दानधर्मके सम्बन्धमें और भी दो एक बातें करना अप्रासङ्गिक नहीं। मुष्टिभिक्षा देनेको हम सत्कार्य्य ही समझते हैं। भिखारीका शरीर सबल और कर्म्मक्षम है, अतः उसे भिक्षा लेना उचित नहीं उसे मेहनत करके खाना ही अच्छा है। यह सब विचार गृहस्थोंको करना न चाहिये, यह समाजके विचारका विषय है। तुम्हारे द्वार जो भिखारी आवे तुम उससे घृणा या अवज्ञा न कर, नोकर-नोकरानियोंसे भी कटुवचन न कहला उसे मुट्ठीभर भिक्षा दो। वह आशीर्वाद दे चला जायगा। भिक्षा देनेका काम लड़कोंके हाथ कराना ही अच्छा है। मुष्टिभिक्षाके अतिरिक्त और भी कितने ही प्रकारके चन्देमें गृहस्थोंको अन्नदान करना पड़ता है। विद्यालयके लिये, पुस्तकालयके लिये, डाक्तरखानेके लिये, बाप-मांके श्राद्धके लिये, दुर्भिक्ष पीड़ाके निवारणके लिये इस प्रकार गृहस्थको प्रायः हर महीने कुछ न कुछ दान देना पड़ता है। हमारे विचारसे इन सब प्रार्थियोंको लौटाना न चाहिये। सबको कुछ न कुछ दान देनेकी चेष्टा करना चाहिये। इसमें एक बात है:—देंगे कह कर न देना, न देनेसे भी अधिक दोषावह है। वरं आखोंकी लज्जा छोड़ एक बारगी ही न देंगे कहना अच्छा किन्तु देना स्वीकार कर किसी प्रकार टालमटाल करना अच्छा नहीं। यदि देनेको कहो, तो ठीक समयपर यथा परिमाण दे दो। दानधर्म्मका मूलसूत्र यही है, कि दाता ऐसे भावसे दान करें जिससे गृहीताको जान पड़े, कि वे दान करनेमें अपनेको उपकृत और कृतार्थ समझते हैं। दानधर्मके इस मूलसूत्रको पूरी तरहसे संरक्षित रखनेके लिये ही शास्त्रकारोंने वर्णश्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दानका मुखपात्र बना दिया है। धर्म्मोपदेष्टा संसार विरागी ब्राह्मणगण दान ले आत्मग्लानिके भाजन नहीं होते। वह ऐसा समझ सकते हैं, कि उन्होंने दान ले दाताका ही विशेष उपकार किया।

---

१५ प्रबन्ध ।

परिच्छन्नता ।

परिच्छन्नता और पवित्रता एक पदार्थ नहीं—किन्तु प्रायः एक भी हैं। ऐसा न समझना चाहिये कि जो पुरुष या स्त्री बाहरसे देखनेमें साफ और परिच्छन्न हैं वह भीतरसे भी विशुद्ध और सुव्यवस्थित होते हैं; किन्तु जिसका मन विशुद्ध है उसे परिष्कार और परिच्छन्न अवश्य ही होना पड़ता है। बाहरी व्यापारोंको हेय समझना हमारे धर्म्मशास्त्रके प्रकृत तात्पर्य्यको न समझनेका ही फल है। पृथ्वी कुछ नहीं—शरीर कुछ नहीं—संसार कुछ नहीं—इन सबके प्रति यत्न और आदर करना क्षुद्राशयताका लक्षण है; शास्त्रमें ऐसी बातें हैं सही; किन्तु देह और गृहस्थित सब सामग्रियां सुविशुद्ध और सुपरिष्कृत रखनेकी अवश्य कर्त्तव्यता भी शास्त्रमें यथोचित परिमाणसे उल्लिखित हैं। घर और गृहस्थीके द्रव्योंका यथोचित लीपना, और धोना, स्नान, भोजन, आचमन, वस्त्रादिका परिवर्त्तन आदि व्यापार हम लोगोंके अवश्यकरणीय नित्यके काममें गिना जाता है। विशेषतः गृहस्थके घर देवविग्रह और ठाकुर घर बनानेकी व्यवस्था करके सब गृहस्थोंकी शुचिता और परिच्छन्नताका एक एक आदर्श दिखाया गया है। जिस भावसे ठाकुर घर रहे, उसी भावसे सब घर रहना चाहिये। पिता, माता, ससुर, सास प्रभृति गुरुजनका घर और महागुरु स्वामीका घर क्या ठाकुर घर नहीं है?

वस्तुतः शुचिताप्रिय यहूदियोंके घर संक्रामक रोग बहुत कम होता है। उसका कारण यह है, कि उनके धर्मशास्त्रमें घर और घरकी सामग्रियोंके बहुत ही सुपरिष्कृत रखनेका आदेश है। यहूदीगण अपने धर्म्मशास्त्रको भक्तिपूर्वक मानते हैं। सभी लोग साफ रहना चाहते हैं,—यह धर्म्म, स्वास्थ्यकर और साक्षात् सुखप्रद है किन्तु हम यह भी कहेंगे, कि परिष्कार और परिच्छन्न होकर रहना कुछ कठिन काम है। बिना लक्ष्मीके अधिष्ठानके परिष्कार और परिच्छन्न रहना कठिन है किन्तु परिच्छन्नताकी रक्षाके लिये सदा चेष्टा करनेसे लक्ष्मीके अधिष्ठानकी भी विलक्षण सम्भावना है, इसलिये परिच्छन्नता साधनका मूलमन्त्र लक्ष्मी साधनके मूलमन्त्रसे अभिन्न है। उन मन्त्रोंमें कई एक हम कहते हैं।

द्रव्यका अपचय सम्पत्ति-सञ्चयका विरोधी व्यापार है। गृहोपकरण-की पूरी तरहसे रक्षा करनेके लिये उन सबको छोड़ रखना ठीक नहीं; उन्हें यत्नके साथ रखना चाहिये। उनके रखनेसे ही घरकी परिच्छन्नता सम्पादित होती है।

सब द्रव्योंसे कोई न कोई प्रयोजन साधित होता है। कटा कागज, कटी लकड़ी, फूसके तिनके, घरकी आवर्जना—यह सब पदार्थ भी बिलकुल अकिञ्चित्कर नहीं। कटे कागज और लकड़ीके टुकड़ोंको घरमें इधर उधर फेंक न रखो। एक निर्दिष्ट स्थान या पात्र रखो, कुछ ही दिनमें वह इतना जमा हो जायेगा, कि उसके बदलेमें कुछ नया कागज मिल सकेगा। अन्नका भूसा, दालकी भूसी, घरमें छिड़का रहने पर घर गन्दा दिखाई देगा। उसे उठाकर किसी पात्रमें जमा करो; वह पलुई गौ, बछड़े और बकरीके खानेके लिये होगा। घरमें झाड़ू देनेसे जो धूल और कचरा निकलता उसे भी जमाकर खेतमें फेंक देनेसे वह अच्छा खाद बन जाता है। अतएव परिच्छन्नता साधनका एक प्रधान सूत्र यह है कि, उस प्रकार द्रव्योंके अलग अलग रखनेका स्थान और पात्र निर्दिष्ट कर रक्खो। जो द्रव्य जहांका है, उसे वहीं रखनेका अभ्यास करो। स्वयं अभ्यास करो और परिजनगणसे भी अभ्यास कराओ। ऐसा करने और करानेका अभ्यास करनेसे ही कितना ही परिश्रम बच जायगा और घर-द्वार चमकता हुआ दिखाई देगा।

द्रव्यको ठीक प्रकारसे न रखनेसे वह सम्पत्तिकी रक्षा और सम्पत्ति-वृद्धिके प्रतिकूल होता है। सुतरां घरके द्रव्योंको इस प्रकार न रखना चाहिये, जिससे वह अण्डबण्ड हो। किसी द्रव्यके टूटने कटने या किसी कामसे बाहर निकलनेपर उसे शीघ्र हटा या बदल लेना चाहिये। इस नियमके प्रतिपालनका अभ्यास होनेसे कितने ही अतिरिक्त खर्चसे बचाव होता और घर भी परिच्छन्न रहता है।

घर और घरके द्रव्यादिके शीघ्र शीघ्र विनष्ट होनेपर शीघ्र ही धनक्षय होता है। धूप, जल, वायु और कीड़ेसे भिन्न भिन्न द्रव्योंका भिन्न भिन्न रूपसे सदा ही क्षय होता रहता है। अतएव द्रव्योंको ऐसी अवस्थामें रखनेकी चेष्टा करना चाहिये कि जहांतक सम्भव हो वैसा क्षय होना दूर हो सके। रगड़ न खाने, मैल न जमने और मोरचा न लगनेसे सब द्रव्य अधिक दिन ठहरते हैं। अतएव इसके लिये यत्न करनेका अभ्यास करना

चाहिये, जिससे घर और घरके सामान यथापरिमाण सूखे, साफ और चम-चमाते रहें। ऐसा करनेसे ही शुचिता साबित होती है।

घरके रहनेवाले सबको ही शुचि रखना आवश्यकीय है, ऐसा अर्थशास्त्र और शारीरिकशास्त्र दोनों शास्त्रोंका अभिमत है। इस विषयमें अधिक बातें निष्प्रयोजन हैं; अब हम इतना ही कह कर इस प्रबन्धको समाप्त करेंगे, कि घरके पाले जीवगण, अपने सन्तान सन्तति और दासदासी आदि परि-जनगणकी शुचिता करनेसे ही सब काम न होगा। गृहिणीको भी सुवेशा हो रहना चाहिये। जो गृहिणी सदा घरके काममें लगी रह स्वयं शुचि और सुसज्जित रहना नहीं चाहती उसके हृदयमें एक गूढ़ अभिमान है-वह अच्छी नहीं; और जो चेष्टा करके भी साफ रह नहीं सकतीं, उनका लक्ष्मीचरित ज्ञान अब भी पक्का नहीं हुआ। जो बांदी और बीबी दोनों ही बन सकती हैं, वही लक्ष्मी हैं—वही सम्पत्ति और शोभा दोनों हीकी अधिष्ठात्री देवता हैं।

---

१६ प्रबन्ध।

नौकरका प्रतिपालन।

कितने ही लोग यह कहते हैं, कि नौकर चोरी करता है; किन्तु हमें दृढ़ विश्वास है, कि नौकरोंमें जितने दोष हैं, वह सब प्रायः मालिकसे उत्पन्न होते हैं। चोरी, शठता, धूर्तता, मिथ्या बोलना—यह सब भीरुताके काम—निष्ठुरताके अवश्यम्भावी फल हैं। तुम नौकरको पीड़ित करो, तो उसका ऐसा ही फल पाओगे।

मालिकको यह समझना चाहिये, कि जो लोग उनके बिलकुल ही अधीन हैं, उनके प्रति रूखा व्यवहार बुरा है। उनपर कठोर व्यवहार करनेसे अपना मन कठिन और प्रवृत्ति नीच होती है; और उनके दोषका संशोधन नहीं होता। किसी किसी मकानके मालिक नौकरोंको मारते हैं। कैसे कहें, जो ऐसा करते हैं, वह हमारी आँखोंमें बड़े ही नीच प्रकृतिके हैं। तुम्हारे मारनेपर यदि नौकर भी मारकर तुम्हें उसका बदला देता, जब तो कोई बात ही न थी। किन्तु जब नौकरको सामर्थ्य नहीं कि वह तुम्हारे शरीरपर हाथ लगावे तब तुम किस विचारसे उसे मारनेपर तय्यार होते हो? यदि कहो, कि बाप लड़केको मार सकता है किन्तु लड़केकी सामर्थ्य

नहीं, कि वह बापके शरीरपर हाथ लगावे। हम भी ऐसा ही कहते हैं। जिस भावसे तुम लड़केके शरीरपर हाथ लगाते हो उसी भावसे नौकरोंपर भी हाथ लगा सकते हो। किन्तु आजकल लड़कोंको मारनेकी भी प्रथा कम हो रही है। शिक्षा विधानसे प्रायः शारीरिक दण्ड उठ गया। किन्तु लड़केके प्रति प्रहारकी कमी हो नौकरोंपर वह बढ़ क्यों रहा है?

हम निश्चय कह नहीं सकते किन्तु ऐसा जान पड़ता है, कि नौकरोंके मारनेका रोग हम लोगोंमें संक्रामक हो रहा है। वह अवैध अनुकरणका फल है। अंगरेज मालिक लोग इस देशके नौकरोंको मारते हैं। जो साहबोंके सब कामोंको आदरकी दृष्टिसे देखते वह भी नौकरोंको मारते हैं। किन्तु वह लोग विचार कर देखें, कि अङ्गरेज लोग स्वजातीय नौकरोंपर बहुत हाथ नहीं उठाते। एक मोटी बात यह है, कि शारीरिक दण्डका मनुष्य द्वारा मनुष्यपर चलाना ठीक नहीं: उसका पशुके प्रतिही प्रयोग हो सकता है। विजित, विमर्दित, अवज्ञात मनुष्योंको गर्वित स्वभावके लोग पशुके समान समझ सकते हैं। किन्तु एक वर्णसम्भुक्त, एक भाषाभाषी, एक धर्म्मावलम्बी नौकर और मालिकमें ऐसा ज्ञान सम्भव नहीं। मालिक धनशाली होनेके कारण मनुष्य और नौकर धनहीन होनेके कारण पशु हो नहीं सकता। ऐसे स्थलमें नौकरके पशु होनेसे मालिक भी पशु हो सकते हैं।

हमसे हमारे एक मित्रसे नौकरके मारनेके रोगके सम्बन्धमें बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा,—'पहलेकी अपेक्षा आजकलके नौकर व मालिकमें पार्थक्य बढ़ रहा है। पहलेके मालिक बहुत कुछ नौकरोंके समकक्ष थे। वह लोग नौकरोंसे समकक्षके भावसे ही कितने ही विषयोंमें बातचीत किया करते थे। इससे पहलेके नौकरोंमें मालिकका अधिकतर स्नेह और ममता होती थी। अब मालिक लोग उन्नत हो रहे हैं। वह नौकरके प्रति केवल अनुज्ञा करते हैं। उनसे बातचीत कर मेल बढ़ाना नहीं चाहते। इसलिये नौकर और मालिकका स्नेह सम्बन्ध घट गया है और मालिक नौकरोंको मारनेपर तय्यार हुआ करते हैं।' आत्मीयके मतसे यह एक सभ्यताकी वृद्धिका लक्षण है।

हमारे विचारसे यह मीमांसा ठीक नहीं। हम लोगोंकी मातृ-भूमि पराधीन है। पराधीनताका अवश्यम्भावी फल स्वदेशीय उच्चपदस्थोंकी अवस्था की अवनति है। जो जाति जितने दिनों तक पराधीनता का भोग करती है

उस जातिके उच्चपदस्थ लोग उतनेही अवनमित होते हैं। कभी उन्नत नहीं होते। इसके अतिरिक्त साम्यवादी अङ्गरेज जातिकी प्रभुतामें इस देशके नीचपदस्थ मनुष्य उन्नत होनेके बदले अवनत हो नहीं रहे हैं। राज-व्यवस्था इस देशके उत्पन्न सब लोगोंको ही समान दृष्टिसे देखती है। शिक्षा-प्रणाली दीन दुःखी प्रजाव्यूहके चित्तक्षेत्रको प्लावितकर समृद्धिशाली बना रही है। वर्णभेद वंशमर्य्यादा आदि जो सब प्राचीन प्रथा समाजके अन्तर्भूत मर्य्यादाकी रक्षा करती थी वह सब प्रथायें भी दिन दिन बिलुप्तप्राय हुई जाती हैं। इस समय इस देशके मनुष्योंमें परस्पर व्यर्थ पार्थक्य वृद्धिका कोई कारण नहीं। वरं उसके विपरीत कारण ही विद्यमान हैं। फलतः पराधीनता रहते कभी कोई समाज अपने भावको बढ़ा नहीं सकता। वह क्रमशः नीच ही हो जाता है। कुछ थोड़ा मन लगाकर देखने से दिखाई देगा, कि हम लोगोंमें ऐसा ही हो रहा है। ब्राह्मणके घर भोजमें, तेली, तमोली, कलवार, कुम्हार सभी एक पंक्तिमें बैठ जाते हैं। हम लोग भी सर्वोच्च अंगरेज जातिके आते परस्पर पार्थक्य भावको छोड़ एक पंक्तिवाले बन रहे हैं। इस समय जो बड़ा बननेका विचार करते वह केवल मनसे ही बड़े होते हैं; वास्तवमें चक्कीके दबावमें पिस सभी दाने एकसे पिसते हैं।

हमारा नौकर पहले एक विद्यालयमें पढ़ता था। वह वर्णमाला, चारुपाठ, पदार्थविद्या आदि पुस्तकोंको समझता था। जब हमारा छोटा लड़का पण्डित महाशयके आगे खड़ा हो अपना पाठ सुनाता, तब वह खड़ा हो उसे सुनता और भूल होनेसे टोंक देता था। उसका बाप भी हमारे पिताकी नौकरी करता था। वह लिखना पढ़ना जानता न था। हमारे पिता और हमारे नौकरमें जो अन्तर था, हमारे और हमारे नौकर में उतना अन्तर नहीं था। फिर भी हमारे पिता अपने नौकर पर हाथ उठाते न थे। हम अपने नौकरको मार भी सकते हैं कम से कम यदि मारेंगे तो हमारी बराबरीका कोई भी मनुष्य हमारी निन्दा नहीं करेगा।

किन्तु यहाँ उन सब बातोंसे काम नहीं। विचार, हेतुवाद, युक्तिकी कांट छांटकी सीमा नहीं। चित्तमें आनेसे ही नई युक्ति, नया हेतुवाद, नया तर्क निकाला जा सकता है। बराबर के दो विद्वानोंमें तर्ककी समाप्ति नहीं होती। अतएव हम एक सच्चा वृतान्त कहते हैं। किसी भले परिवारके साथ हमारा बहुत घनिष्ठ परिचय था। उस घरके किसी नौकरने कभी कोई चोरी नहीं की

थी। रुपये, पैसे, गहने उन सबके हाथ पड़ते थे। किन्तु वह पातेही लाकर दे जाते थे। उस घरमें गृहिणीने एक दिन मालिकसे कहा—"मैं समझती हूँ, कि नौकर लोग लड़कोंसे भी अधिक दयाके पात्र हैं। लड़के हमारे ही तुम्हारे पास रहते हैं। जब जो चाहते, वही पाते हैं। लड़कोंके बीमार होनेपर हम तुम दम नहीं मारते। नोकर लोग बीमार पड़ 'बापरे', 'मा रे' चिल्लाते हैं; कहां उनका बाप और कहां मां? हम और तुम उनके मा बाप हैं। तुमने नौकर का बहुत विश्वास किया, तो उसके हाथ सन्दूककी चाबी दे दी। किन्तु नौकर लोग तुम्हारी ही दया पर अपने प्राणतकका विश्वास करते हैं।"

उस घरके नौकरोंके लिये सामयिक वेतन वृद्धिका नियम था। हर वर्ष नौकर नौकरानियोंका कुछ न कुछ वेतन बढ़ता। उस घरमें नौकरोंके अपनी इच्छासे वेतन बाकी न रखनेसे उनका वेतन बाकी न रहता था। सभी पैसे पैसेका हिसाब पाते थे।

उस घरमे नोकरोंका जो काम था वह निर्दिष्ट था सही। किन्तु एकके बीमार पड़ने या छुट्टी लेनेसे दूसरा प्रसन्नताके साथ उसके कामका भार ले लेता था।

उस घरमें छुट्टी पर नोकरोंकी तनखाह कटती न थी। बीमारी में दवा और पथ्यका मूल्य भी मालिक देते; वह सब कभी अस्पताल भेजे न जाते।

उस घरके नोकर चोर या मिथ्यावादी न थे।

---

१७ प्रबन्ध।

पशु आदिका पालन।

मनुष्यके आविर्भावसे पहले यह भूमण्डल ऐसे अनेक प्राणियोंसे भरा था, जिनका अब नाम या गन्ध भी नहीं है। मनुष्यके समकालके प्रादुर्भूत प्राणिगण भी कितने ही विकृत, परिवर्त्तित और लुप्तप्राय हो गये हैं। क्रमसे मनुष्यकी बुद्धि और क्षमता जितनी बढ़ रही है अन्यान्य जीवगणमें उतना ही कोई विनाशकी दशाके समीपवर्त्ती होता व कोई मनुष्यके प्रयोजनके लिये उपयोगी हो जीवन धारण करता है। जो जीव मनुष्यके किसी काममें आता है वही जीव बचता है। जो मनुष्यके किसी काममें नहीं आता, उस जीवके अधिक बचनेकी आशा की जा नहीं सकती। जीवलोकमें सदासे

ऐसे ही एक जीव दूसरे जीवको नष्ट किया करते हैं। भूमण्डलकी जीवप्रति-पालनकी शक्ति जितनी ही अधिक हो, वह शक्ति असीम नहीं है। सुतरां यहां एक प्रकारके जीवकी वृद्धिसे दूसरे प्रकारके जीवकी विकृति, ह्रास और विनाश साधित होता है। मनुष्यकी वृद्धिसे सब जन्तुओंकी ऐसी ही दशा होती जाती है। इस समय मनुष्य पृथ्वीके राजा हैं। वह अपने जिस [illegible]में जिसे लगाते, वही रहता है। उनके संरक्षित जीवोंमें गाय, घोड़े, बकरे, भेड़े, कुत्ते, बिल्ली प्रभृति जन्तु प्रधान हैं। कितने ही पक्षी भी मनुष्यों द्वारा पाले जाते हैं, जैसे—तोता, काकाकौआ, कोकिल, मैना, बुलबुल, श्यामा प्रभृति। प्रायः ऐसा कोई घर नहीं, जहाँ प[illegible] या पक्षीका पालन होता न हो। कितने ही पशु पक्षी मनुष्योंका साक्षात् प्रयोजन साधन करते हैं। गौसे दूध मिलता है, घोड़ेसे आने जानेका काम निकलता है, बकरी और भेड़ेका दूध और मांस मनुष्य खाते हैं, कुत्ता घरका चौकीदार है, बिल्ली चूहे मारती है; किन्तु इन सब दैहिक और वैषयिक प्रयोजनोंके साधनके अतिरिक्त पशुपक्ष्यादिके पालनसे गृहस्थोंके कितने ही आध्यात्मिक उपकार भी होते हैं। अब हम उसीके सम्बन्धमें कुछ कहेंगे।

पशु आदिके पालन द्वारा स्पष्ट समझमें आता है कि, मनुष्यसे उन लोगोंका सुख दुःख, सौन्दर्य असौन्दर्य व औचित्य अनौचित्यकी समझ पृथक् नहीं है। इन सब विषयोंमें मनुष्य और पशु दोनोंहीकी बुद्धि और संस्कार एक प्रकारके हैं, केवल मात्रामें भिन्न हैं। मात्राका भेद परस्पर मनुष्योंमें भी है। जो हो, मनुष्योंकी बुद्धि और पशु आदिका संस्कार जो एक प्रकारका है उसकी समझ आजतक लोगोंमें समपरिमाणसे सुपरिस्फुट नहीं हुई है। इसे हम लोगोंके आर्यशास्त्रकारगण ही अच्छी तरह जानते थे। वे लोग कहते थे कि, जीव अपने कर्मवश विभिन्न देह धारणकर पृथ्वीमें जन्म लेता है। सभी जीव एक हैं, विभिन्न नहीं। खृष्टान और मुसलमान लोग ऐसा नहीं कहते। उन लोगोंके मतसे पशु आदिके शरीरमें अविनाशी आत्मा विद्यमान नहीं है, वह केवल मनुष्यके शरीरमें ही आविर्भूत है। किन्तु जिन सब नये युरोपीय पण्डितोंने पशु आदिकी प्रकृतिकी परीक्षामें मन लगाया है वे समझते हैं कि, मनुष्य और पशुमें ऐसे पार्थक्यका आरोपण अमूलक कल्पना मात्र है। वे लोग समझते हैं कि, एक ही अतर्क्य शक्ति जड़ पदार्थमें जड़धर्मके रूपमें, उद्भिदमें अन्तःसंज्ञाके रूपमें, पशु पक्ष्यादिमें अस्फुट संस्कारके रूपमें और

मनुष्योंमें बुद्धिके रूपमें अधिष्ठित है। वे हमारे पहलेके आचार्यगणकी तरह इस मायाप्रपञ्चमय जगत्‌के भीतर नित्य सदसदात्मक वस्तुकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हुए हैं।

गृहस्थमात्र अपने पाले पशुपक्ष्यादिकी वृत्तियोंको ध्यानपूर्वक देख उल्लिखित ज्ञानका स्वयं आविष्कार कर सकते हैं। जिन्होंने ऐसा किया है, वे देखते हैं कि पशु पक्ष्यादि केवल मात्र क्रोध, ईर्षा द्वेषादिके वशीभूत नहीं हैं, वे लोग बुद्धिके सहारे इसका निर्णय कर सकते हैं, कि क्या करनेसे कैसा होगा। अत्याचारसे वशीभूत हो वह अपनी वासनाका दमन कर सकते हैं और यदि कदाचित् अनुचित काम कर डालें तो तिरस्कृत होनेपर अप्रतिभ होते हैं। एक सच्चा हाल कहनेसे ये बातें स्पष्ट होंगी।

किसी मनुष्यने एक बिल्ली पाली। वे एक दिन भोजन करने बैठे और उनकी दोनों पौत्री एक ओर और बिल्ली एक ओर बैठी। वे भोजन करते करते पौत्रियोंको और बिल्लीको रोज कुछ देते जाते थे। ऐसे समय पौत्रियाँ एकाएक रोने लगीं। वे उन दोनोंको चुप करानेके लिये प्रबोध देने लगे। वे सब चुप न हुईं। कोई कोई लड़के रोना आरम्भ करनेपर चुप होना जानते ही नहीं। न्यूटनने जड़के गुणका आविष्कार कर कहा है कि जड़ पदार्थ स्थिर है, तो है। यदि चलना आरम्भ करे, तो चलता ही जायेगा। वह जड़ धर्म मानो लड़कियोंमें आबैठा और उनका रोना उसने चिरस्थायी बना डाला। पौत्रियाँ उसी तरह रोती रहीं। वे उन सबको चुप करानेमें ही व्यस्त थे—उनका भोजन रुका—बिल्ली भी कुछ पाती न थी। बिल्लीने क्षणकाल उस कामको देखा। बिल्ली जिस किनारे थी, उस किनारेसे उठ पौत्रियोंके पास गई, फिर उसने अपने दाहने लुलुआको (हाथको) उठाया। मानों उसने यह दिखाया कि, नाखुन बाहर नहीं निकले हैं। फिर उसने एक पौत्रीके गालमें एक लुलुआ मारा। बिल्लीके थप्पड़से पौत्री चुप हुई। उसके चुप होनेपर दूसरी भी चुप हुई। गाड़ीका एक पहिया रुकनेसे दूसरा भी रुक जाता है। बिल्ली फिर अपने स्थानपर आ बैठी।

इस सच्चे व्यापारको हमने जैसा देखा है, वैसा ही कहा है। जो इसे पढ़ें, वे समझें, कि बिल्लीने अपने खानेके लिये मालिकका ध्यान बँटा देखा, उस ध्यानके बँटनेका कारण पौत्रियोंका रोना था। उस रोनेको रोकनेके लिये उसने पौत्रियोंके गालमे थप्पड़ मारी, वह भी केवल भय दिखानेके लिये-उन्हें

कष्ट देनेके लिये नहीं, नहीं तो नाखून निकाल लेती, यह सब विचारकर बिल्लीने काम किया या नहीं ? इससे उसमें धीशक्ति, आत्मसंयम और औचित्यबोधका पूरा लक्षण पाया जाता है या नहीं ?

पशु आदिके पालनेसे स्थिर प्रतिज्ञताका अभ्यास होता है। पशुको वश करनेका मूलमंत्र निर्भीकता है। घोड़े, भैंसे, गौ, कुत्ते प्रभृतिको देख यदि कुछ भी भयका अनुभव किया जाय, तो वह भयका लक्षण तुम्हारे आकारसे अवश्य झलकेगा और जिस पशुसे तुम्हें भय हुआ है, वह अवश्य ही उसे समझेगा और उसे समझ तुम्हारे वश न होगा। जीवमात्र ही जीवके वश हैं। जो घोड़े पर चढ़ते, कुत्ते पालते, वे पूरी तरहसे इस बातका तात्पर्य्य समझते हैं। घोड़ेको अपनी इच्छाके अनुसार काम करने देना ठीक नहीं। वह तुम्हारी इच्छाके अनुवर्त्ती हो चले, दो एक बार यत्नपूर्वक ऐसा करनेसे घोड़ा तुम्हारे वशमें आवेगा। कुत्तेको भी बात माननेका अभ्यास करानेके लिये स्थिरप्रतिज्ञ होनेकी आवश्यकता है। जो आज्ञाका पालन कराता कुत्ता उसके ही वश होता है, जो आज्ञाका पालन नहीं कराते, उनके वश नहीं होता। जो पशुगणको वशीभूत करनेका अभ्यास करते, मनुष्यको वशमें लानेका एक प्रधान उपकरण उनके आयत्त हो जाता है। युरोपीयगण इस बातके प्रमाण हैं, जैसे उनके वशमें घोड़े कुत्ते प्रभृति हैं, वैसे दूसरेके नहीं। पृथिवीमें उनका जैसा प्रताप है, वैसा भी किसी का नहीं।

तीसरे, पशु आदिका पालन करनेके लिये गृहस्थको नियताचार होना पड़ता है। उन लोगोंके शरीर और रहनेके स्थानको यथोचित साफ रखना चाहिये। उन्हें नियमित समय नियमित परिमाणसे आहार देना चाहिये। गृहस्थके लापरवाह होनेसे—आज किया कल न किया,—अभी देखा, फिर न देखा—ऐसा करनेसे पशु आदिका पालन नहीं होता। गृहस्थके नियताचार न होनेसे पशु आदि सदा पीड़ित होते और प्रायः मर जाते हैं।

पाले हुए जीवोंके प्रकृतिभेदसे उनके पालनका काम घरके भिन्न भिन्न मनुष्यों पर अर्पण किया जा सकता है। कुमारीगण पक्षियोंको, कुमारगण कुत्ते, बकरी, भेड़ेको; नौकर लोग घोड़े और गौ आदिको आहार दें। किन्तु घरकी गृहिणीको नित्य यथासमय सबके लिये तत्त्वावधान करना चाहिये केवल कानसे सुन लेनेसे ही काम न चलेगा। प्रत्येक पशुपक्षीको नित्य आंखसे देखना चाहिये।

एक परिवार एक ब्रह्माण्ड है । गृहिणी उस ब्रह्माण्डकी पालिका है। वह पूरी तरह निश्चिन्त होकर और किसीके हाथमें उसके पालनका भार न दे। महाबली भीमके हाथ में भी एक दिनके लिये पृथिवीका भार देनेसे उसके अपालन होनेसे कितने ही जीवोंका प्राण विनष्ट हुआ था । गृहिणीके स्वयं न देखनेसे पशुगणका भी वैसा ही अपालन और विनाश होता है ।

---

१८ प्रबन्ध ।

पितामह देव ।

बचपनके समय मैं अनेक लोगोंके मुंहसे उनके अपने अपने पितामहके समयकी बातें सुना करता था, अब उतने लोगोंके मुंहसे उनके पितामहके समयका विवरण सुनाई नहीं देता। इसका विचार करना यहां निष्प्रयोजन है कि, ऐसा क्यों हुआ। सामाजिक व्यवहारके किसी परिवर्त्तनवश हो, या मनुष्यकी आयुष्यकी कमीसे हो, इसमें सन्देह नहीं, कि पहलेकी अपेक्षा अब पितामहसे घनिष्ठता कम हुई है। किन्तु इस घनिष्ठताका ह्रास होनेसे उस सम्बन्धका लाघव होना विलक्षण क्षोभका विषय है। पितामहके साथ पौत्रका सम्बन्ध बड़ा ही मधुर है। गुरुता और लघुताके मिलनेसे उससे ऐसा अपूर्व्व पदार्थ उत्पन्न होता है, कि उसकी प्रकृतिकी पर्य्यालोचना करनेसे विस्मित और मुग्ध होना पड़ता है।

पितामह देव, पिताके पिता, महागुरुके महागुरु, ईश्वरके ईश्वर हैं—वे कैसे भय और भक्तिके पात्र हैं। किन्तु वे ईश्वरके ईश्वर होकर भी हमलोगोंके वाक्य व मनके अगोचर नही होते। वे हमलोगोंके क्रीड़ाकौतुक व हास्य परिहासमें साथ देते—केवल साथही नहीं देते; स्वतः प्रवृत्त हो क्रीड़ा कौतुकादिमें उत्तेजना कराते हैं। हिन्दीमें पितामह को जो दादाजी कहते हैं, वह ठीक ही है। वे पितामहदेव अर्थात देवता और दादाजी अर्थात् भाइके समान हैं-देवत्व और समानता उनमें एक साथ है।

पितामहका स्नेह, पितृस्नेहकी अपेक्षा घना हो या न हो, किन्तु उसकी अपेक्षा भी मधुरतर पदार्थ है। पितृस्नेहमें अनिष्टकी प्रबल आशङ्का है व परिणामदर्शिताका भाग अत्यधिक है। पितामह उतने अनिष्टकी आशङ्का नहीं करते व उतने परिणामका भी विचार नहीं करते। वह पौत्रको ले केवल मात्र आनंद

भोगमें ही रहते हैं। जैसे शिशु पौत्र भूत भविष्यत्की कुछ भी चिन्ता नहीं करता, केवल वर्त्तमान सुखभोगसे ही परितृप्त रहता है, पितामहका हृदय भी बहुत कुछ उसी अवस्थामें अवस्थित है। पिता जब पुत्रके साथ खेलते, तो यह चिन्ता किया करते हैं, कि खेलके बहाने इसे क्या शिक्षा दें। पितामह जब पौत्रके साथ खेलते, तब आप भी सच्चे खिलाड़ी बन जाते हैं। पिता जब पुत्रके मुंहमें कोई खाद्यसामग्री देते, तब यह बिचार कर लेते हैं, कि वह उसके शरीरके लिये उपकारी होगा या नहीं; पितामह जब पौत्रको खिलाते, तब कुछ भी विचार न कर मानो आप ही उस तरुणरसनासे रसास्वादन लेते हैं।'

फलतः पिता माताके हृदयमें पुत्रके सम्बन्धमें एक घोर भय सदा विराजमान रहता है। पितामहके हृदयमें उस भयका भाव कम है—सुख-बोधका ही प्राधान्य है। एक कहावत है कि "मूलसे सूद प्रिय होता है"—मूल पुत्र है और सूद पौत्र। सूदपर माया वास्तविक अधिक है सही। सूद पानेसे बहुत ही सुख होता है किन्तु मूलके लिये भय अधिक होता है। सूद छोड़ा जाता, असल छोड़ा नहीं जाता। हमारे शास्त्रमें विधाताको पितामह कहते हैं। हमारे मतसे पिताके सम्बोधनकी अपेक्षा पितामहका सम्बोधन विधाताके लिये अधिक ठीक है। ब्रह्माके पुत्र प्रजापतिगण विभिन्न जीव शक्ति हैं। ब्रह्मा जीवशक्तिकी रक्षा करनेके लिये सदा यत्नवान् हैं। किन्तु जीवशक्तिजनित प्रत्येक प्राणीकी रक्षाके लिये विधाताका वैसा प्रयत्न जान नहीं पड़ता। वे भी असल रख सूदको छोड़ सकते हैं।

पितामहके हृदयमें पौत्रके सम्बन्धमें भयका भाव लघु होनेके कारण वे पौत्रको प्रकृतिको अधिक परिस्फुट रूपसे समझ सकते हैं। बाप माका मन सन्तानके सम्बन्धमें बिलकुल ही चञ्चल रहता है। वह उसको बहुत अच्छा लड़का समझ आनन्द से विह्वल होते, फिर कुछ देरमें सामान्य कारण-से उसकी बुद्धि, चरित्र और भाग्यके मन्द होनेके विचारसे दुःखी होते हैं। पितामहका हृदय इतना आन्दोलित नहीं होता। वे पौत्रके दोष गुणको प्रायः यथार्थ परिमाणसे देखते हैं।

पितामह पौत्रके दोष गुणको अच्छी तरह देख सकते हैं फिर वे बचपनका भाव भी धारण कर सकते हैं, इन दोनों कारणोंका एकत्र समावेश होने से पितामह देव बचपनके अद्वितीय सुशिक्षक होते हैं। माताका सबसे अधिक अच्छी शिक्षादात्री होना विख्यात है। श्रीरामचन्द्रने कौशल्या देवीसे

धनुर्विद्या सीखी थी। सर विलियम जोन्स साहबकी विद्यानुरागिता उनकी माताकी शिक्षाके गुणसे ही हुई थी; प्रेसिडेण्ट गारफील्ड भी वैसी मा न पाने से काष्ठनिर्मित वनकी कुटीसे सौध राजभवनमें आ न सकते। पितामहके द्वारा प्राथमिक शिक्षालाभकी फलवत्ता वैसे किसी सुप्रसिद्ध विवरणसे सप्रमाण की नहीं जा सकती। किन्तु वह न होने पर भी यदि किसीके भाग्यमें पितामहसे प्रथम शिक्षालाभ हो तो वे समझ सकते हैं, कि उस शिक्षाका फल माताकी शिक्षासे भी अधिक होगा।

"बच्चे हमारी अपेक्षा दादाजीके पास रहना अधिक पसन्द करते हैं। दादाजीसे उनकी सब सलाह होती है। उनके ही साथ उन सबका मन मिलता है।" ऐसी बातें कितनी ही पुत्रवती माताएँ कहा करती हैं। शास्त्र भी कहता है, कि पौत्रके उत्पन्न होनेपर पुत्रका पितृऋण चुकता है। जिसके द्वारा ऋण चुकाया जाता है उसे उत्तमर्ण (लेनदार) के हाथ समर्पण न करने से ऋणका परिशोध कैसे होगा?

---

१९ प्रबन्ध।

पितामाता।

एक दिन एक आत्मीयसे हमसे बहुत ही वादानुवाद हुआ था। विचारका विषय था कि कौन बड़ा है? बाप या माँ? आजकल ऐसा दिन आया है कि, उच्छृङ्खल मनुष्यबुद्धि चारोओर विचरण करती है। तर्ककी गति नारद ऋषिकी तरह त्रैलोक्यमें बेरोकटोक है।

जो हो, हम दोनोंमें घोर विचार बंधने लगे। अन्यान्य युक्तियोंको दिखाते हुए शास्त्रके अभिप्रायके साथ वादानुवाद चलने लगा। आत्मीयवर "गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी" कहकर महा आस्फालन करने लगे। हमने वैसे किसी स्पष्ट वचनका जोर न पाया, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी माता कौशल्यादेवीके मना करनेपर भी पिताकी आज्ञाके पालनके लिये वनमें गये थे और विष्णुके अवतार भगवान् परशुरामजीने पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य्यकर माताका सिर काट लिया था, इन्हीं सब पौराणिक इतिहासों द्वारा हम पिताके प्राधान्यका समर्थन करने लगे। परस्परकी विद्याबुद्धिकी रगड़से बीच बीचमें क्रोधस्फुलिङ्ग भी निकलने लगे। मतभेदका हेतुवाद भी दिखाया जाने लगा।

आत्मीयवरने कहा "आप बुद्धिमत्ता, विद्यावत्ता और तेजस्विताके पक्षपाती हैं, इसलिये पितृप्राधान्यका पक्ष करते हैं, मैं सरलता और नम्रताका भक्त हूँ, इसलिये मातृप्राधान्यका पक्ष लेता हूँ"। हमने उत्तर दिया "सरलता और नम्रताके प्रति हमारी श्रद्धा कम नहीं परन्तु हम उच्छृङ्खल व्यवहारके विद्वेष्टा हैं।" उन्होंने पूछा—"मातृपक्षका अवलंबन करनेसे उच्छृङ्खलताका सम्वर्द्धन कैसे हो सकता है?" हमने उन्हें समझाकर कहा—

"देखिये, यहाँके कितने ही लोग जो इच्छा होती, वही करना चाहते हैं। वे ऐसा समझते हैं कि सामाजिक किसी नियमका व्यतिक्रम करनेसे ही बड़ी बहादुरी है। जो ऐसा करते, वे ही पितृभक्तिकी अपेक्षा मातृभक्तिका अधिक गौरव भी करते हैं और वे जिस प्रकारका कौशल पाते, उससे अपनी खूब मातृभक्ति दिखाते हैं। मातृभक्तिका नाम प्रसिद्ध करना सहज काम है। किसकी मातृभक्ति सचमुच कैसी है, उसे बाहरी लोगोंका समझना कठिन है। इसके अतिरिक्त मातृभक्ति दिखलानेमें अपनेको बहुत कष्ट उठाना नहीं पड़ता, प्रायः किसी प्रकारका स्वार्थत्याग करना नहीं पड़ता। पिता लड़कोंको अपनी बातें सुनाना चाहते हैं, किन्तु उपयुक्त पुत्रकी बात मानना ही माताका कर्तव्य है। अतः उच्छृङ्खलस्वभाव पुत्रके लिये पितृभक्तिकी रक्षा करना जैसा कठिन है, मातृभक्तिकी रक्षा करना कभी वैसा कठिन हो नहीं सकता। मांको इतना कहनेसे भी काम चलता है, कि तुम समझ नहीं सकती। बापसे ऐसी बात करनेका सामर्थ्य नहीं। पितृभक्तिकी अपेक्षा मातृभक्तिका प्राधान्य उच्छृङ्खल व्यवहारका पोषक है।"

आत्मीयवर इस बातका कोई सदुत्तर दे न सके, किन्तु विचारमें जयी होनेकी उनकी बड़ी इच्छा थी। अतएव उन्होंने कौशलका अवलम्बन कर कहा,—"चलिये दोनों हम अपने पिताके पास चलें, उन्हें ही मध्यस्थ मानें; वे जैसा सिद्धान्त करेंगे, उसे हम दोनों ही मानेंगे।" हम इस प्रस्तावपर सम्मत हुए। हमने नहीं समझा कि, पिता इस विचारकी मीमांसा करनेमें अक्षम होंगे; उनका सहज औदार्य्य ही उन्हें अपने प्रतिपक्षीका पक्षपाती बनायेगा। ऐसा ही हुआ—हम हारे। हारे सही, किन्तु इस विचारमें हमें अपनी पत्नीका अभिमत जाननेकी इच्छा हुई। उन्होंने कहा,—"लड़के तुम्हें छोड़ हमारी भक्ति कर नहीं सकते। तुम्हारे प्रति भक्ति करनेसे ही उनकी हमारे प्रति भक्ति होती है। वृक्षके सिरपर जल डालनेसे ही जड़में

पहुँच जाता है। लड़के यदि तुम्हें प्रसन्न रखें, तो मैं भी प्रसन्न हूँगी। तुम्हें कुछ दे मुझे वञ्चित करना उनके लिये असाध्य है। तुम्हारे प्रति भक्ति ही भक्ति है, मेरे प्रति भक्ति कुछ चीज नहीं। मुझे वह जो समझायें, बुरा हो या भला, मैं वही समझूँगी। तुम्हें वह जो समझा सकें, वही सत्य है।"

इन बातोंके भीतर एक गूढ़ रहस्य है। पुरुषोंका सम्मान उनके निजके साक्षात् सम्मानके न होनेसे नहीं होता, स्त्रियोंका सम्मान पतिके सम्मानसे ही होता है। इसलिये मातृभक्तिको पितृभक्तिके अन्तर्निविष्ट होना चाहिये। माकी बात न सुन बापकी बात माननेसे माको अपमान जान नहीं पड़ता किन्तु बापकी बात न मान माकी बात माननेसे बापका अपमान होता है। शिवभगवतीकी पूजा एकत्र होनाही शास्त्रानुमत है। यदि भगवतीकी स्वतन्त्र पूजा करना पड़े तो शिवपूजाके बाद शिवके शरीरमें ही भगवतीकी पूजा करनेकी विधि है, भगवतीके शरीरमें शिवकी पूजाकी विधि नहीं है।

---

२० प्रबन्ध।

पुत्र कन्या।

हम लोगोंके पूर्वपुरुषोंका पुत्र और कन्या सन्तानमें जितना प्रभेद-का करना सुनाई देता है, कदाचित हमलोग वैसा नहीं करते। कितने ही लोग कहते हैं कि पुत्र जैसा पदार्थ, कन्या भी वैसा ही पदार्थ है। क्या वास्त-विक वैसा ही है?

पुत्र व कन्यामें बहुत प्रभेद है। कन्याका भार कम, पुत्रका भार अधिक है। कन्याका लालन, पालन, शिक्षासम्पादन बहुत अधिक होता है तो १४–१५ वर्ष तक, इसके बाद कन्याका भार दामादपर अर्पित होता है। पुत्रका लालन, पालन, शिक्षासम्पादन और वृत्तिसंस्थानं २०-२५ वर्षमें भी समाप्त नहीं होता। अतएव गृहस्थ लोगोंके लिये कन्याकी अपेक्षा पुत्रका भार अधिक है।

पक्षान्तरमें कन्याकी अपेक्षा पुत्रके साथका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ होता है। यह भी कहा जा सकता है, कि उस सम्बन्धकी समाप्ति नहीं। एकत्रावस्थान, परस्पर परामर्श ग्रहण, एक दूसरेकी सहायता करना, यावज्जीवन चल सकता और चलता भी है। जिनको कन्यादान किया वे

कायमनसे अच्छे रहनेसे ही कन्याके सम्बन्धमें एक प्रकारसे निश्चिन्त हो सकते हैं। वे अच्छे न रहे, या अच्छे न हो, तो तुम विशेष कुछ कर नहीं सकते। अपने सामर्थ्यके अनुसार तुम साहाय्य देनेको भी तय्यार हो सकते हो। न पूछनेसे भी सलाह दे सकते हो। किन्तु उसपर तुम्हारा कोई जोर नहीं चलता। जिसपर जोर नहीं रहता, सम्भवतः उससे ममता भी कम हो जाती है। अतः कन्या सन्तानके बिषयमें चाहे जैसे हो, एक प्रकारकी निश्चिन्तता मिल जाती है।

पुत्र सन्तान किसीको भी दान नहीं की जाती। पुत्रवधूको भी पुत्रके द्वारा परोक्षभावसे शिक्षा दिलानेका अधिकार है, स्थलविशेषमें साक्षात् शिक्षा देनेका भी अधिकार है। उस अधिकारके रहनेसे क्रमशः ममताकी भी वृद्धि होती है। अतः कन्याकी अपेक्षा पुत्रवधू अधिकतर स्नेहभागिनी हो जाती है। पुत्र, परायेको अपना बना सकता है, कन्या अपनी होकर भी पराई हो जाती है।

किन्तु अपनी कन्याके सुख दुःखके हर्त्ता—कर्त्ता एक कोई दूसरे हुए हैं, ऐसे विचारसे कन्याके सम्बन्धमें मनमें एक प्रकारकी उदासीनता आ जाती है; उसी उदासीनताके कारण कन्याके प्रति मन बहुत ही नरम हो जाता है। कन्याके पित्रालय आनेसे पिता मानो खोया हुआ धन फिर पाते हैं। फिर उनका किसी पर मन नहीं जमता। कन्याके साथ बातचीत करेंगे, नाती, नतिनीको गोद और पीठपर चढ़ावेंगे, कन्याको समीप बैठाकर खिलावेंगे, ऐसी ऐसी इच्छायें होती हैं। वास्तवमें क्या कन्याके प्रति उनकी ममता अधिक है? इस सम्बन्धमें सन्देह करनेका यथेष्ट कारण है।

पण्डित कोमटि (Compte) के दर्शनके स्थलविशेषमें उपदेश है, कि मनुष्यगण भूत, वर्तमान, भविष्यत् इन त्रिकालकी तीन अधिष्ठात्री देवताओंकी नारीके रूपमें कल्पनाकर पूजा करें। माता अतीतकालकी अधिष्ठात्री, भार्य्या वर्तमानकालकी अधिष्ठात्री और कन्या भविष्यकालकी अधिष्ठात्री हैं। पण्डितवर कोमृटिको कदाचित कन्या हुई न होगी। ऐसा होनेसे वे समझते कि यद्यपि स्थूलरूपसे देखनेमें कन्यासन्तान भविश्यकालकी अधिष्ठात्री देवीके नामसे वर्णित होने योग्य है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे उसका विपरीत भाव दिखाई देता है। कन्या-सन्तानके सम्बन्धमें मानसिकदृष्टि भविष्यकालका लक्ष्य नहीं करती, अतीतकालका ही लक्ष्य करती है। कन्या जब बहुत ही प्रीतिकी पात्री

होती, तब खोये हुए धनके रूपमें प्रीति उत्पन्न करती है। कन्यासे जो सुख होता है, वह स्मृतिका सुख है, आशाका सुख नहीं। कन्याके सम्बन्धमें हम जो चिन्ता करते हैं, उसमें उसके और अपने अतीतकालके साथ ही सम्बन्ध रहता है, और भविष्यकी प्रायः कुछ भी चिन्ता उसमें नहीं रहती। वह अच्छी रहे, उसका भला हो, हम ऐसे आशीर्वाद व प्रार्थना करते हैं सही। किन्तु उसके लिये ऐसा हो, यह हो, वह हो, इस प्रकारकी कोई कामना कन्याके लिये आपही आप मनमें उदित नहीं होती।

कन्याके सम्बन्धमें मनुष्यचित्तके इस भावका साधारण ज्ञान रहना चाहिये। कितने ही लोग इसे नहीं जानते, विशेषतः कम उम्रमें प्रायः कोई नहीं जानता। यही अज्ञान सांसारिक अनेक कष्टों का कारण बन जाता है। विशेषतः पुत्रवधू और पुत्रके मनमें प्रायः ही इस अज्ञताके कारण ईर्षा उत्पन्न होती है। वे लोग समझते हैं कि कर्त्ता उनकी अपेक्षा कन्याओंको और उनकी सन्तानों-को अधिक चाहते हैं। वास्तवमें कर्त्ताका स्नेह कन्या और नतिनीके प्रति चाहे जितना अधिक हो, पुत्र और पुत्रवधू पर उनका जोर अधिक है। कन्या और नातीको कर्त्ता खोया धनरूपसे पाकर ही गद्गद् होते हैं। कन्याके घर आनेसे कौन कह सकता है, कि पिताके मनमें कैसे कैसे पहलेके विवरण और भाव उठा करते है। स्मृतिने जागकर पहलेकी अनुशोचनाका द्वार खोल दिया है, इसीसे आंखोंसे लगातार आंसू बहते हैं।

हम फिर कहते हैं, जिसपर अपना जोर जान पड़ता है, उसीपर अधिक ममता होती है। जिसपर किसी प्रकारका जोर नहीं चलता, उसके प्रति ममता भी घट जाती है। किसी लड़केको एक पुतला दिखाकर कहो, कि यह तुम्हारा खिलौना है, ऐसा कह खिलौनेको किसी ऊंचे स्थानमें रख दो—जिसमें लड़का खिलौना छू न सके। वह खिलौना लेनेके लिये एकबार, दोबार, तीन बार रोएगा। इसके बाद फिर कुछ न करेगा। खिलौने पर उसकी विशेष ममता न रहेगी। हम लोग भी तो बड़े लड़के ही हैं? हमारी कन्यायें ऐसी ही पुतलियां हैं—हमारी हैं सही, किन्तु हम उन्हें ले कुछ कर नहीं सकते। तब कहांतक रोएंगे? धीरे धीरे मायाका त्याग करेंगे।

कन्याओंको पैतृकविषयमें अधिकारिणी होना उचित है या नहीं? मुसलमानोंके कानूनसे, फ्रान्सदेशियोंके कानूनसे, इटलीके कानूनसे और अन्यान्य सभ्य युरोपीय कानूनसे कन्याओंको पैतृकअंशमेंसे थोड़ा थोड़ा मिलनेका कानून

है। हमलोगोंके शास्त्र और अङ्गरेजोंके शास्त्रमें ऐसी विधि नहीं है। दायभाग-की व्यवस्था केवलमात्र प्रजाके मनका भाव ले तय्यार की नहीं जाती। अर्थ-शास्त्र और राजनीतिशास्त्रके कितने ही विचार व्यवस्थाके प्रणयनमें प्रवे-शित होते हैं। उन सब शास्त्रके विचार बड़े ही जटिल हैं, वे बहुमुख हैं और देशकी अवस्था और प्रकृतिके भेदसे भिन्न होते हैं। अतएव उस विचारमें प्रवृत्त होनेका कोई प्रयोजन नहीं।

हम कहते हैं, कि पिता अपने जीते जी कन्याओंको कुछ न कुछ दें—किन्तु एक बारगी नहीं, ठहर ठहर कर दें। उनकी मृत्युके बाद कन्याका पैतृक सम्पत्तिपर अधिकार न होना ही अच्छा है। भाई बहनमें जातिविरोधकी राह खोल रखना ठीक नहीं।

---

२१ प्रबन्ध ।

भाई-बहन ।

भाई-बहनका सम्बन्ध बड़ा ही सुमिष्ट है। बचपनसे एकत्र रहने, एकत्र शिक्षा पाने, एकत्र सुख दुःख भोगने, इन सब कारणोंसे भाई बहनमें एक गूढ़तर सहानुभूति उत्पन्न होती है। उन लोगोंमें परस्पर प्रतियोगिता रहने पर भी ईर्षा नहीं रहती। एक दूसरेको साहाय्य देते रहने पर भी, उनमें अहङ्कार नहीं रहता। परस्पर साहाय्य पानेपर भी आत्मग्लानि नहीं रहती। फलतः भाई-बहनका सम्बन्ध समान और सब अवस्थाओंमें ही उनमें वह समान भाव जागता रहता है। वह लोग कालक्रमसे चाहे जितने ही छोटे हों, उनका साम्य-भाव कभी दूर नहीं होता। वह इस तथ्यको भूल ही नहीं सकते कि, हमलोग एक मां-बापकी सन्तान हैं। जो इस तथ्यको अच्छी तरह याद रख सकते हैं, वही परस्परके कर्त्तव्यको पूरी तरह साधित कर सकते हैं।

केवल इतना ही नहीं, कि इस सूत्रको याद रखने और उसके अनुसार काम करनेसे भाई-बहन अपने कर्त्तव्यका निर्व्वाह कर परस्पर धर्म्मवृद्धि कर सकते हैं, वही सूत्र उन लोगोंके कर्तव्यावधारणका पथ है। हृदयमें ऐसा ही स्थिर कर चलनेसे माता-पिता भी उनके लिये धार्य्यपथको उन्मुक्त कर अपने कार्य्यको सुनिर्व्वाहित कर सकते हैं। अपनी सन्तान—सन्ततिमें परस्पर

साम्यभाव प्रकट होनेहीसे उन लोगोंके लिये उचित होता है; अतएव बचपन-से ही साम्यभावका बीज उन लोगोंके हृदयमें वो देना चाहिये।

इस कामके सुसम्पन्न होनेमें कई अलगाव हैं। एक अलगाव तो कन्या पुत्रकी पारस्परिक विशेषता है। लोग चाहें जो कहें, किन्तु सब समाजमें ही यह पार्थक्य है और इसके रहनेका कारण भी है। अन्यान्य कारणोंके यहां लिखनेका प्रयोजन नहीं। यहां हम केवल इतना ही कहेंगे, कि प्राकृतिक नियमके अनुसार कन्यासन्तानकी अपेक्षा पुत्रसन्तानकी जीवनशक्ति बचपनसे अधिकतर क्षीण होती है। सूतिकागारमें कितने ही लड़के मर जाते हैं—किन्तु यदि दो कन्यायें मरेंगी, तो पांच पुत्र मरेंगे, पांच वर्षकी उम्रतक यदि कन्या छः मरेंगी, तो पुत्र आठ मरेंगे; बारह वर्षकी उम्रतक यदि दश कन्यायें मरेंगी, तो पुत्र चौदह मरेंगे, सोलह वर्षकी उम्रतक यदि कन्या चौदह मरेंगी, तो पुत्र पन्द्रह मरेंगे। सोलह सत्रह वर्ष उत्तीर्ण होनेपर पुत्रका जीवन कन्याके जीव-नकी अपेक्षा दृढ़तर हो जाता है। इस नैसर्गिक नियमके अनुसार ही सब समाजमें कन्याकी अपेक्षा बचपनमें पुत्रके प्रतिपालनका यत्न कुछ अधिक होता है। किन्तु उससे यह जान नहीं पड़ता, कि इस आधिक्यके कारण कन्याओं-के हृदयमें विशेष ईर्षा उत्पन्न होती है। कन्याओंकी धीशक्ति पुत्रोंकी धीशक्ति की अपेक्षा अधिक शीघ्र खिल उठती है और जिसकी धीशक्ति खिलती है, वह स्वभाव भेदसे दूसरेके प्रति अनुग्रह करने लगता है। हमने अङ्गरेजोंके घर अङ्गरेजोंके लड़कोंमें ही देखा है, कि पांच वर्षकी बालिका सात वर्षके बड़े भाईके प्रति अनुग्रहशीला हो उसके लिये खानेका हिस्सा लगा देती है और आप स्वयं भाईकी अपेक्षा थोड़ा हिस्सा लेती है। स्त्रियोंमें एक प्रसिद्धि है कि पहले कन्यासन्तानका होना अच्छा है, इसके बाद पुत्र। कन्या थोड़ी ही उम्रमें दूसरेका यत्न कर सकती है। अतः ऐसा न समझना चाहिये, कि कन्या सन्ता-नकीअपेक्षा पुत्र सन्तानके लिये कुछ अधिक यत्न होनेसे ही उन लोगोंके साम्य-भावमें व्याघात उपस्थित होगा।

छोटे लड़के और बड़े लड़केमें भी कुछ पारस्परिक विशेषता होती है। छोटेको पहले खिलाना चाहिये, उसके रोनेपर पहले उसे समझाकर शान्त करना चाहिये, उसका खिलौना विशेष यत्नसे रखना चाहिये। उसका खिलौना खो जानेसे बड़ेका खिलौना ले उसे देना चाहिये, उसे अधिक देरतक गोदमें लेना चाहिये। ऐसी पारस्परिक-विशेषतामें भी लड़कोंमें साम्यभावका संस्थापन

करना आवश्यकीय है, इसमें विघ्न न हो। लड़के सचमुच ही वैसे निर्बोध नहीं। वे अच्छी तरह समझ सकते हैं कि छोटे, दुर्बल और अक्षम लोगोंके लिये कुछ अधिक यत्नका प्रयोजन है; यही समझ वे लोग स्वतः भी वैसाही यत्न करनेके लिये आग्रहशील हुआ करते हैं।

वस्तुतः इस प्रकार सभी स्थलोंमें साम्यभाव के प्रविष्ट करने की चेष्टा करना अनैसर्गिक, अनावश्यक, असाध्य और हानिकर है। मा बाप इन सब वैषम्योंकी रक्षा करें। ये सब वैषम्य बहुत ही सुस्पष्ट और बच्चोंके भी समझने योग्य हैं। किन्तु मा बाप सचमुच ही एक लड़केको अधिक और दूसरेको कम न चाहें अर्थात् लड़कोंमें अहेतुक पारस्परिक विशेषताका कोई कारण खड़ा न करें। ऐसा होने हीसे अपनी सन्तानोंमें परस्पर ईर्षा उत्पन्न हो जायगी और वह ईर्षा यावज्जीवन पूरी तरहसे दूर न होगी। किन्तु सहेतुक वैषम्यसे भी किसी किसी स्थलमें दोष होता है। यदि एक लड़का अन्यान्य लड़कोंकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और मा बापके आदरका पात्र हो, तो अन्य सभी लड़के उससे द्वेष करेंगे। यदि एक अधिक बुद्धिमान् व मेधावी होनेके कारण विशेष समादर पावे, तो दूसरोंको ईर्षाका उद्रेक होता है, किन्तु यह ईर्षा प्रबल नहीं होती और उम्र बढ़ने पर एक बारगी ही दूर हो जाती है। यदि कई कन्याओं पर एक पुत्र सन्तान उत्पन्न हो या कई पुत्रों पर एक कन्या उत्पन्न हो तो वह पुत्र या कन्या अधिक आदर की सामग्री होती है। ऐसा होनेसे भी भाई-बहनमें कुछ ईर्षाकी उत्तेजना होती है, किन्तु वह ईर्षा बहुत ही प्रबल हो चरित्र दूषित नहीं करती। जहां तक हो सके, पिता-माता इन सब सहेतुक वैषम्योंसे उत्पन्न ईर्षाके कारणको दूर करते रहें। हम फिर कहते हैं कि सहेतुक वैषम्यको किसी प्रकार होने न दें। हम लोगोंके देशमें उपधर्ममूलक एक वैषम्य है, उसे विशेष यत्नके साथ दूर करना चाहिये। जिस समय माता पिताका कोई विशेष सौभाग्य या दुर्भाग्यका कारण होता है, उस समय जो सन्तान उत्पन्न होती है, उसके प्रति कुछ विशेष अनुकूलता या प्रतिकूलता हो जाती है और माता पिताके ऐसे आनुकूल्य या प्रातिकूल्यकी भुक्तभोगी सन्तान प्रायः दुर्ब्बल या कठिन प्रकृतिक हो जाती है। ऐसी सन्तान भाई बहिनके प्रति समीचीन व्यवहारमें कभी समर्थ नहीं होती। इन 'भाग्यवान्' और 'अभागे' शब्दोंने कितने ही सुखोंको नष्ट किया और असुखोंको बढ़ाया। शहरोंमें इन शब्दोंका उतना प्रादुर्भाव नहीं किन्तु गाँवोंमें इनका

अधिक प्रादुर्भाव है। इन सब स्थलोंमें माता-पिताके कुछ सतर्क हो सकनेसे एवं सन्तानगणको परस्पर साहाय्यदानमें उन्मुख कर देनेपर गृहवासका सुख अच्छी तरह बढ़ जाता है। बड़ा भाई, बड़ी बहन, छोटे भाई बहनोंको कपड़े पहना दे, खिला दे, मुंह हाथ धो दे, जूता कपड़ा आदि सजा रक्खे, खिलौना सजा दे, उनके साथ खेले,—ऐसा होनेसे माता पिताको विशेष आनन्द उत्पन्न होता और लड़कोंमें भी सौहार्दका भाव जकड़ जाता है। हमारे विचारसे बड़ोंमें छोटोंके कामको बाँट देना अच्छा नहीं समझना चाहिये। जैसे किसी गृहस्थकी क, ख, ग, तीन कन्यायें और च, छ, दो पुत्र हैं। क, च के काम करे और ख, छ के काम करे और फिर क, च, को और ख, छ, को अपने अपने विभागमें समझे, ऐसी व्यवस्था अच्छी नहीं। क, सबसे बड़ी है, वह ग, च, और छ, इन तीनोंको खिलावे, पिलावे, ख, और ग, च और छ, को वस्त्रादि पहना देनेका भार लेवे,—इस प्रकार सब छोटे अपने अपने बड़ोंको अपना प्रतिपालक समझें। यही सुव्यवस्था है।

आज कल एकान्नवर्त्ती सम्मिलित परिवारमें प्रायः ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती; ऐसा न करनेके कारण ही मिलित परिवारके कितने ही सुख घटे जाते हैं। यदि मिलित परिवारके भीतर सब भाइयोंके सब सन्तानों को एक दलका समझ बड़े लड़कोंसे छोटे लड़कोंका काम कराया जाय, तो मिलित परिवारमें सुख और धर्म्मसाधन अच्छी तरह हो सके।

जिस परिवारके लड़के ऐसे विचारके साथ पालित और शिक्षित होते हैं उस परिवारके लड़कोंमें झगड़ा कम होता है, इससे वयोधिकका झंझट घटता और थोड़ी थोड़ी बातपर झगड़ा नहीं होता।

ऐसे पालित परिवारमें भाई बहनके परस्पर मनका मेल बहुत ही सुमधुर होता है। बचपनमें तो इसने अधिक खाया, उसने अच्छा कपड़ा पहना आदि किच किचकी कोई बात ही नहीं, बड़े होनेपर भी परस्पर साहाय्य देना बहुत ही सहज व्यापार हो जाता है। एकके पास कोई वस्तु है, दूसरेके पास नहीं या खो गई है, जिसके पास नहीं या खोगयी है, वह उसे पा जाता है, परन्तु किस तरहसे पा जाता है उसका कोई शोर गुल नहीं होता है। 'तू ले न' या 'तुम ले लो' केवल कभी कभी ऐसी बातें एक आध बार सुनाई देती हैं। एकको पाठ याद हो गया खेलनेका समय आ गया, किन्तु बहन को पाठ याद न हुआ, जबतक याद न होगा, तबतक खेल बन्द रहेगा। एक

बीमार है, बस फिर घरमें दौड़धूप भी नहीं होती, रोना चिल्लाना और आमोद प्रमोद की चिल्लाहट भी सुनाई नहीं देती।

उम्र और भी बढ़नेपर बहनका विवाह हो जानेपर सालेके साथ बहनोईका बहुत ही मेल उत्पन्न होता है। बहन बहनका भी परस्पर सौहार्द घटता नहीं। यदि एक बहनका बड़े आदमीके घर विवाह हो और दूसरीका सामान्य गृहस्थके घर विवाह हो, तब भी दोनों बहनोमें निरादर और ईर्षा उत्पन्न नहीं होती। किन्तु माता पिताको चाहिये, कि सब कन्याओंका विवाह समान घरोंमें करें।

भाइयोंका विवाह होने पर एवं माता पिताके न रहने पर भाई भाईमें अलगावका सूत्रपात हुआ करता है। किन्तु सुपालित परिवारमें और स्पष्ट रूपसे पैतृक धनका विभाग हो जाने पर प्रायः ही ऐसा नहीं होता। यदि भाई भाईमें सचमुच मन मिला रहे, तो दोनोंकी पत्नियां भी आपसमें विद्वेष सम्पन्न हो नहीं सकतीं। बहुओंके आपसमें झगड़ा होनेका मूल होता है (१) लड़कों लड़कोंमें झगड़ा, (२) लड़की लड़कियोंमें झगड़ा। यह दोनों बहुत ही सामान्य विषय हैं और कुछ सावधानीके साथ रहनेसे ही इसका प्रतिविधान हो जाता है। भाइयोंमें उपार्जनक्षमताकी पारस्परिक विशेषतासे यदि मनोमालिन्यकी सम्भावना हो तो उसके प्रतिविधानका एक ही उपाय है। पृथगन्न होना। भाइयोंको एक दूसरेकी सम्मतिसे ऐसा ही करना अच्छा है। मनोमालिन्यका उत्पन्न होना अनुचित है और जिसकी आमदनी कम और सन्तानादि अधिक हैं उसके द्वारा पृथगन्नताका प्रस्ताव होना चाहिये। किन्तु पृथगन्न होने पर भी भाई भाईके मनका ऐक्य हर तरहसे संरक्षित रह सकता है और ऐसा न होनेसे उन लोगोंके स्वभावमें दोष उत्पन्न होता है। पृथगन्न होनेपर भी परस्पर साहाय्य चलता रहे, सहानुभूति कायम रहे, विषय-विशेषमें मिलके सलाह हो और एक साथ अनुष्ठान चले। सौभ्रात्र और सौभागिन्य इसका नित्य सम्बन्ध है। इस सम्बन्धकी रक्षासे पवित्रताका साधन होता है, आत्मगौरवका कोई कारण नहीं होता; इसकी रक्षा न करनेसे पवित्रताकी हानि होती और लोकनिन्दा भी उत्पन्न होती है।

यूरोपीयगणसे हम लोग पारिवारिक किसी धर्मको भी अच्छी तरह सीख नहीं सकते। उनके साथ हमारी धर्मनीति और समाजनीतिका अनैक्य होनेसे हम लोगोंकी पारिवारिक नीति भी भिन्न प्रकार की है। उनमें अर्थका

गौरव कुछ विशेष है। इसीसे वह लोग स्वजनसे अर्थसाहाय्य लेने या स्वजनको अर्थसाहाय्य करनेसे बहुत ही नाराज़ होते हैं। किन्तु असलमें अर्थसाहाय्य अन्यान्य साहाय्योंकी अपेक्षा उच्चतर साहाय्य नहीं है। शारीरिक परिश्रम और यत्न द्वारा, बुद्धिशक्तिके परिचालन द्वारा, प्रभावशालिताके प्रयोग द्वारा और प्रीति भक्ति और उत्साहदान द्वारा, जैसा साहाय्य होता है वह अर्थ-साहाय्यकी अपेक्षा बहुत अधिक है। उन सब साहाय्योंके आदान प्रदानमें जब कोई आपत्ति नहीं होती, तब रुपयेके साहाय्यके सम्बन्धमें इतनी लज्जा और मानसिक सङ्कोच क्यों होता है? हमारे विचारसे दूसरेसे अर्थसाहाय्य लेनेमें जितना दोष और लज्जा है, भाई बहनमें उस दोष और लज्जाका कोई कारण नहीं है। भाई बहनमें यदि अर्थ साहाय्यका प्रयोजन हो और अर्थ साहाय्य न किया जाय, तो समाजमें हमलोगोंकी निन्दा होती है। अर्थात् जो ऐसा साहाय्य करने नहीं देते, वह अपने स्वजनगणको निन्दाभागी बनाते हैं।

यूरोपीयगणमें इसके विपरीत भाव है। यहाँ उसका एक दृष्टान्त दिया जाता है:—

(१) बहुत ही गुणशाली गारफील्डकी एक बहन थीं। वह नित्य गारफील्डको बचपनमें गोदमें उठा दो कोसकी राह समाप्त कर विद्यालयमें पहुंचा आतीं और फिर सन्ध्या समय विद्यालयमें जा उन्हें गोदमें उठा लातीं। अपनी बड़ी बहनका विवाह हो जानेपर गारफील्ड कुछ दिन उनके ही घर रह लिखना पढ़ना और शिल्पकार्य्य सीखते थे। गारफील्ड अपनी बहनको अपने रहने और खानेका खर्च देते और वह लेती भी थी। वह कहतीं, कि गारफील्ड खाने पीनेका खर्च न देनेसे अपने बहनोईके घर रहनेमें लज्जित होगा। (२) गारफील्डके बड़े भाईने किसी समय उनके पढ़नेकी सहायताके लिये अपने परिश्रमसे पैदा किया कुछ रुपया देना चाहा, गारफील्डने उसे लिया, किन्तु पहले उन्होंने अपने जीवनका बीमा करा उसके प्रमाणपत्रको बड़े भाईके हाथमें समर्पण किया। गारफील्डके जीवनचरित्र-लेखक उस उदाहरणको सौभ्रात्र भावका विशेष परिचायक ही समझते थे। किन्तु आर्य्यजातीय लोगोंकी दृष्टिमें ये सब उदाहरण विशेष सौभ्रात्रके परिचायक माने नहीं जाते। जो जाति धनको ही परम पदार्थ मान उसकी पूजा करती है, उसकी दृष्टिमें ये सब उदाहरण भ्रातृवात्सल्यके चिन्ह स्वरूप हो सकते हैं। हमारे विचारसे बहनको खानेका खर्च न देकर और बड़े भाईके हाथमें जीवनबीमाका

सार्टीफिकेट न देकर गारफील्ड उन लोगोंको अधिक सुखी कर सकते थे। हमारे विचारसे वही भाई-बहनके लिये उचित व्यवहार होता। फिर गारफील्डने यूनाइटेड साम्राज्यके सम्राट् सभापति होनेपर बड़ी बहन और भाईके प्रति न जाने कैसा व्यवहार किया, यह जाननेके लिये हमें बहुत ही कौतूहल है, किन्तु चरित्र-लेखकके मनमें यह कौतूहल नहीं हुआ—वह चुप रह गये।

---

२२ प्रबन्ध ।

पुत्र-वधू ।

स्त्री। बहूका मुंह देखना बड़े भाग्यकी बात है। लड़का होता—जीता रहता—विवाहके योग्य होता—विवाह होता—तब बहूका मुँह दिखाई देता है। बहूका मुँह देखना बड़े भाग्यकी बात है।

पुरुष। तौभीतो सास बहूको क्लेश देती हैं। तुम कह सकती हो, कि सास क्यों बहूको क्लेश देती हैं।

स्त्री। मैं सब कारण तो नहीं जानती, और न कह ही सकती हूँ। जो कुछ भी मालूम है, मैं कहती हूँ। उनमें से एक कारण तो यह है, कि सासने स्वयं बहू होकर यन्त्रणा भोगी है, उसने बहूका यत्न करना सीखा ही नहीं। वह समझती है, जैसा मेरी सासने मेरे साथ किया, वैसा ही मैं भी करूँगी।

पुरुष। इसमें कुछ नासमझी दिखाई देती है और कुछ प्रतिशोध दिखाई देता है। आगे कहो ?

स्त्री। और एक कारण है, यदि अपना स्वामी न हो, तो ऐसा समझा जाता है, कि लड़केके वश रहना पड़ेगा। ऐसा होने से भी बहूको यन्त्रणा दी जाती है।

पुरुष। सास समझती है, कि लड़केके प्रेमपर हमारा सुख दुःख निर्भर है। बहू वह सब प्रेम आत्मसात् करेगी। इसी आशङ्कासे वह बहूपर विद्वेष करती है। किन्तु यह तो विधवा सासकी बात हुई। सधवा सास क्या बहूपर अत्याचार न करती है ?

स्त्री। करती हैं सही। किन्तु विधवाओंसे बहुत कम। विधवा सासोंमें प्रायः सभी बहूके लिये कण्टकी हैं। * * *

पुरुष। * * * तो विधवा नहीं तौ भी वह बहूके लिये बहुत कण्टकी क्यों हैं ?

स्त्री। उसका स्वामी अक्षम है—लड़का ही रोजगारी है। उसका बहूके प्रति अयत्न विधवा सासके समान ही है।

पुरुष। अच्छा, उसके लिये ऐसी बातें कही जाती हैं। किन्तु * * * के लिये क्या कहती हो? उसका स्वामी तो अक्षम नहीं है न? किन्तु मैंने तुम्हारे ही मुँहसे सुना है, कि वह बहूको बहुत ही दुःख देती है।

स्त्री। उसकी बात छोड़ो। वह सदाकी तरुणी रहना चाहती है उसके बाल पकते हैं तब भी वह बहूके रूपकी निन्दा करती है। सधवा सास बहूके लिये कण्टकी होनेसे बहूके रूपकी निन्दा किया करती है।

पुरुष। वह बहूके रूपकी निन्दा क्यों करती है?

स्त्री। अपना रूप अच्छा जतानेके लिये। जिसके लड़केका विवाह हो गया और बहू आ गई उसकी उम्र अवश्य ही अधिक हो जाती है। जिनके मनमें रूपका गौरव अधिक है, वे अपनी उम्रका अधिक होना अच्छा नहीं समझतीं।

पुरुष। सधवा स्त्रियोंको तो यह विचार करनाही न चाहिये कि उनकी उम्र अधिक हो गई। सधवा स्त्रियोंकी चाहे जितनी उम्र हो वह एक मनुष्यकी आँखोंमें सदा जवान ही बनी रहती हैं। स्वामीके रहते स्त्री बूढ़ी बन नहीं सकती।

स्त्री। यह सही है। किन्तु क्या ऐसा होनेसे बहूसे द्वेष करना चाहिये? बहूने तो उसे बूढ़ी बनाया नहीं? उम्र अधिक हुई, लड़का हुआ, लड़केका विवाह किया, तब बहू आई। बहूने आपही आप आ सासको बूढ़ी नहीं बनाया!

पुरुष। तब बहूको यन्त्रणा देनेके चार मूल हैं। एक सासकी अज्ञता। दूसरा उसकी प्रतिशोध लेनेकी इच्छा, तीसरा उसके मनका भय, चौथा उसकी द्वेष प्रवृत्ति। किन्तु यह सब तुमने सासके ही दोष कहे; क्या बहूमें कोई दोष नहीं होते?

स्त्री। हमारे विचारसे बहूमें तो कोई दोष नहीं होता। लड़के खराब होते हैं, मा बापके दोषसे। स्त्री खराब होती है, स्वामीके दोषसे। बहू खराब होती हैं, सासके दोषसे।

पुरुष। अच्छा हमारी बहू कैसी होगी?

स्त्री। तुम तो जानते ही हो, कि मैंने युवावस्थामें बहू-यन्त्रणा पाई है। इसीसे तुम्हारे मनमें भय है कि मैं भी अपनी बहूको यन्त्रणा दूँगी।

किन्तु मैंने अपनी साससे कोई यन्त्रणा नहीं पाई। मुझे और लोगोंने यन्त्रणा दी थी।—* * * मैं अक्षम स्वामीके हाथ भी न पड़ी। यह तुम जानते ही होगे, कि मेरे मनमें हिंसा आ सकती है या नहीं। मैं तो यह समझती हूँ कि पहले मेरा जितना आदर था, उसकी अपेक्षा अब बढ़ा ही है, कुछ कम नहीं हुआ।

पुरुष। तुम बहूका यत्न कैसे करोगी?

स्त्री। यह मैं कह नहीं सकती। तब भी इतना कह सकती हूँ, कि एक चिड़िया घोंसलेसे लाई गई है, तो उसे परचाना ही चाहिये—सुख न पानेसे वह न परचेगी। उसे ऐसा बनाना चाहिये जिससे वह अपना घोंसला भूल जाय, मा बापको भूल जाय एवं बापके घर जानेकी इच्छा न करे।

पुरुष। जो मा सचमुच अपने लड़के पर प्यार करती है वह कभी बहूपर नाराज़ नहीं होती। देखो, लड़का यदि बहूको न चाहे, तो लड़केका दुर्भाग्य और लड़के की मा का भी दुर्भाग्य है।

स्त्री। जो बहू को देख नहीं सकती, वह लड़के को भी नहीं चाहती; यह सही है। जो बहू को नहीं चाहती, वह प्रायः ही लड़केके द्वितीय विवाह की चेष्टा करती हैं। किन्तु क्या यह बात वह नहीं जानती, कि द्वितीय विवाह कर देनेसे अन्तमें लड़केको कष्ट होगा? वह यह सब जान सुन कर लड़के पर आधिपत्य फैलाकर उसे यावज्जीवनके लिये कष्टमें डाल देती है। ऐसी मा की बात न माननेसे लड़केको पाप नहीं होता।

पुरुष। यह बहुत ही पक्की बातें हैं। किन्तु मैं समझता हूं, कि बहू की यन्त्रणाका और भी एक मूल है, वह तुम्हें मालूम नहीं। किसी कविने कहा है।

मेरी चन्द्रमुखी बेटी भी परघरमें पर हो जावेगी।
मेरी बहू होय परघोटी डुब्बन पान उड़ावेगी॥

इसमें ही बहूकी यन्त्रणाका सबसे दृढ़तर मूल है। यह मूल केवल माताकी चेष्टासे ही दूर हो नहीं सकता। लड़के और बहू दोनों ही को और विशेषतः लड़केको इस मूलको नष्ट करनेके लिये माकी सहायता करनी पड़ती है। बहू यदि ननदको देख न सके, एवं लड़का यदि बहूका वह दोष दूर न कर सके तो कौनसी माके मनमें दुःख न होगा? तब यह ख्याल होता है, कि जैसे लड़का वैसी लड़की। लड़केका विवाह करनेसे क्या मेरे पेटकी लड़की पर

हो जायगी ? ऐसे विचारसे जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे मैं बिलकुल ही अन्याय कह नहीं सकता।

स्त्री। मैं यह सब कुछ नहीं समझती। केवल इतना जानती हूं, कि जैसी मैं थी, वैसी ही बहू है। मैं आज घरकी मालकिन हूं, मैं जो करती हूँ वही होता है। कल बहू घरकी मालकिन होगी, जो करेगी वही होगा। मैं अपने बचपनकी बातें याद करती हूं। उस समय मैं जो चाहती थी, वही बहू भी चाहेगी। उस समय मैं जो सोचती, वही बहू भी सोचेगी। ऐसा ही करके मैं बहूके मनको समझ सकूंगी। और इस तरह मनको समझ कर व्यवहार करूँगी।

---

२३ प्रबन्ध।

कन्या और पुत्रका विवाह।

कन्याके विवाहका भार सदासे ही बहुत बड़ा भार है। आज कल बङ्गालमें उस भारका कुछ अधिक आन्दोलन होरहा है। आन्दोलनकी मूल जड़ यह है, कि कन्याके विवाहमें व्ययका व्यसन बहुतही बढ़ गया है। किन्तु अब भी भारत वर्षमें सर्वत्र यह आन्दोलन संक्रामित नहीं हुआ है। दक्षिणमें महाराष्ट्र ब्राह्मणोंमें पण (वरको निमित्त करके जो धन वरका पिता कन्याके पितासे लेता है अथवा कन्याको निमित्त करके जो धन वरके पितासे कन्याका पिता लेता है) देकर और लेकर दोनों ही प्रकारसे कन्या विवाहकी प्रथा चलती है। द्राविड़ भूमिके अन्यान्य स्थलोंमें पण लेकर विवाह करने की ही रीति प्रबल है। आर्य्यावर्तमें सारस्वत और आदिगौड़ ब्राह्मणोंमें भी पण लेकर या देकर कन्याके विवाहकी प्रथा चलती है। सुतरां दक्षिण या पञ्जाब प्रदेशमें और पश्चिमोत्तरमें कन्याके विवाहमें अधिक व्यय होनेका कोई आन्दोलन नहीं है। क्षत्रिय और राजपूत आदि जातियोंमें रजवाड़ोंमें आन्दोलन है, किन्तु वह आन्दोलन उनकी हीनावस्थासे है। विहार प्रदेश और बङ्गालमें अर्थात् आर्य्यावर्तके के दक्षिण पूर्वांशमें सभी उत्कृष्ट वर्णोंमें इस विषयका अधिक आन्दोलन है। और भी दिखाई देता है, कि इन सब प्रदेशोंमें कुलीन और मौलिकके नामसे दो [illegible] इकट्ठा हैं; इसमें ब्राह्मण या अन्यान्य जातिके सब लोगोंमें ही ब्राह्मविवाह है। पण देकर कन्याके विवाहकी प्रथा समधिक गौरवान्वित है। इन सब

प्रदेशोंमें ही वर पक्षके कर्तागण पणके लिये जिद किया करते हैं। यहां हम कहे देते हैं कि कितनोंही का संस्कार ऐसा है कि कुलीन और मौलिक का भेद केवल बङ्ग देशमें ही प्रचलित है। किन्तु ऐसा नहीं। पश्चिमोत्तर प्रदेशके कान्यकुब्ज और विहारके मैथिल लोगोंमें भी बङ्गालकी तरह कौलीन्य प्रथा प्रचलित है। अतएव देखा जाता है कि जहां कुलीन और मौलिकका भेद है वहां ही अपनेसे बड़े घरमें कन्याका विवाह करनेकी इच्छा प्रबल हो उठती है और जहां यह इच्छा प्रबल है, वहां ही वरकर्त्ताको उसकी कुल मर्य्यादाके अनुरूप पण देना पड़ता है।

पुत्रके विवाहमें पण लेनेका यही यथार्थ कारण है। किन्तु आजकल उस मूल वृक्षमें एक कलम उत्पन्न होगई है। इस समय कन्याके कर्त्तागण जो पणके लिये पीड़ित किये जाते हैं वह केवल कुल मर्य्यादाके नामसे नहीं। कुलका मान दिन दिन घटता जाता है किंतु पणका दर दिन दिन बढ़ता ही जाता है। इसका कारण यह है कि अर्थकरी अङ्गरेजी विद्याका समादर बढ़ गया है। विश्वविद्यालयके सन्तानगण कुलीन-सन्तानोंका स्थान ग्रहण कर रहे हैं। कुलीन-सन्तानोंकी तरह वे लोग बहु-विवाह नहीं करते बल्कि पत्नीका भरण पोषण करते हैं। सुतरां उन लोगोंका आदर अधिक है। इस पर भी उन लोगोंकी संख्या कुलीन सन्तानोंकी संख्यासे बहुत थोड़ी है, सुतरां उनकी दर भी बहुत अधिक है। देशमें विवाह योग्य कन्याकी अपेक्षा विवाह के योग्य युनिवर्सिटीके सन्तानोंकी संख्या सदाही कम रहेगी। बल्कि वह कमी क्रमसे बढ़ती ही जायगी। सुतरां वरकी दर भी बढ़ती ही जायगी। कभी कम न होगी। दक्षिण आदि देशोंमें जहां पण लेकर कन्याका विवाह करने की प्रथा-ही प्रचलित है, वहां भी आजकल युनिवर्सिटीके सन्तानोंको अधिक पण देकर विवाह करना नहीं पड़ता। वे लोग दानमें कन्या पाते हैं। कुछ दिनके बाद वे लोग भी हम लोगोंकी तरह पण लिये विना पुत्रका विवाह न करेंगे।

अतएव दिखाई देता है कि सद्वंशजात और सुशिक्षित वर पात्रका दर बढ़ता ही जायगा। सुतरां उस दरको घटानेके लिये चाहे कितनी ही बातें कही जायँ उसका कोई विशेष फल न होगा। जहाँ वंशमर्य्यादाका आदर है, जहाँ ऊँचे वंशमें कन्या देनेकी इच्छा है, जहाँ गुणका गौरव है, वहाँ ही ब्राह्म-विवाह प्रचलित होगा और पण देकर कन्याका विवाह करना ही पड़ेगा। इस सिद्धान्तको स्थिर निश्चय समझने पर सुबोध मनुष्य कन्याके विवाहमें पण

देनेके लिये रोना—धोना न मचावें। वे विचारकर इसीके समझनेकी चेष्टा करेंगे कि अपनी कन्याके विवाहके लिये उन्हें किस प्रकार यत्नशील होना चाहिये। इसके लिये अधिक प्रमाणका प्रयोजन नहीं कि इसके संस्कारकी चेष्टा करना अपचेष्टा मात्र है। इतना कहना यथेष्ट है, कि संस्कारकवर्गके पथप्रदर्शक अङ्गरेज लोग कन्याके विवाहमें यथेष्ट धन खर्चकर गाना, नाच और भोजनादि कराते, वस्त्रालङ्कारादि देते और दहेज भी विशेष रूपसे देते हैं।

हमारे विचारसे यदि पिता अपने पुत्रकी अपेक्षा दामाद रूप, गुण, कुल, और शीलमें उत्कृष्ट हो, अपकृष्ट न हो इसके लिये यथासाध्य चेष्टा न करें तो वे पापके भागी होते हैं। रूप शब्दसे सौन्दर्य्य और स्वास्थ्य दोनों ही समझना चाहिये। गुण में विद्या अवश्य ही लेनी चाहिये। कुल शब्दसे देशीय चिरप्रचलित अर्थमें—वंशमर्य्यादा व विदेशीय अर्थमें,—धनशालिता, यह दोनों ही अर्थ ग्रहण करने चाहियें। और शीलका देशीय अर्थ लेना ही अच्छा है—जिससे नम्रता, सौजन्य, गुरुभक्ति और सत्याचार समझा जावे। इसके आधुनिक अर्थ—अविनय या तेजस्विता, रूढ़ता या सत्यवादिता, अपने देशवालों पर दाम्भिकता और विदेशियोंके आगे चाटुकारिता हैं इन सब अर्थोंमें न लेना ही अच्छा है। किन्तु कन्याके पिता चाहे जितनी चेष्टा करें, उल्लिखित सब गुणोंसे युक्त और सब दोषोंसे विवर्जित सब तरहसे मनके अनुसार पात्र कभी न पायेंगे। इस लिये एक सीमा निर्दिष्ट कर रखनी चाहिये। कन्याके लिये जो पात्र देखें, उसकी सब विषयोंमें अपने पुत्रके साथ तुलना कर लें। पुत्र न रहनेसे भतीजे, छोटा भाई आदिके साथ तुलना करें। तुलना करने योग्य अपने वंशमें कोई न हो, तो स्वयं अपने साथ तुलनाकर समझ लें कि पात्र उत्कृष्ट है या अपकृष्ट। इस प्रकार उत्कर्षकी एक सीमा न बांध लेनेसे अपनी कन्या किसीको देनेपर मनका क्षोभ नहीं मिटता। कितने ही स्थलोंमें अयोग्य वैवाहिक सम्बन्ध होनेसे परिणाममें दोनों कुटुम्बके लिये क्लेश और कन्या दामादके लिये धर्म्मव्याघात उपस्थित होते हैं। वस्तुतः कन्यादान समान घरमें ही करना चाहिये। इस लिये अपने पुत्रादिके साथ तुलना करके ही वर पात्र चुनना चाहिये। कुछ ऊंचे घरमें अवश्य ही जाना चाहिये; किन्तु बहुत ऊंचे घरमें हाथ नहीं बढ़ाना चाहिये।

किन्तु आजकल कन्याके दायित्वसे एकबारगी निश्चिन्त होनेकी इच्छासे खूब ऊंचा घर देखकर ही लोग कन्यादानमें प्रवृत्त होते हैं। वरपात्रका दर बढ़

जाना भी इसका एक कारण है। किन्तु बहुत ऊंचे घरमें कन्या देनेसे अपना और कन्याका, दोनोंहीका अनादर होता है। और बहुत नीचे घरमें देनेसे भी वैसाही फल होता है। नीच घरके लोग समझते हैं, कि कन्याके मातापिता भाई आदि चाहे जो करें, वे लोग उसका अनादर करते हैं और ऐसा ही विचार कर वे लोग आत्मगौरवकी हानिकी आशङ्कासे आपही समधिक अनादर दिखाना आरम्भ कर देते हैं। अतएव कन्याका विवाह समान घरमें ही करना चाहिये। छोटे घर तो देना ही न चाहिये, किन्तु बड़े घरमें भी बहुत बढ़ा-बढ़ी करना न चाहिये।

और भी एक विषय निश्चय कर लेना चाहिये। रूप, गुण, कुल, शील आदि जिन सब विषयोंमें अपने पुत्रादिके साथ वर पात्रकी तुलना करनी चाहिये, उसमें कोई तारतम्य किया जा सकता है या नहीं। कामके समय ऐसा अवश्य ही करना पड़ता है। हमारे मतसे शील या चरित्र सबकी अपेक्षा बड़ा है, गुण उससे नीचे, रूप उससे नीचे और कुल सबसे नीचे रखनेसे भी चलेगा, इससे कोई अधिक दोष न होगा। किन्तु आजकल कुलका एक भाग जो अर्थशालिता है, उसकेही प्रति लोगोंकी विशेष दृष्टि पड़ती है। उस ओर दृष्टि पड़ना अकारण या अन्याय नहीं, परन्तु अधिक धन की ओर दृष्टि करनेका उतना प्रयोजन नहीं। मोटी रोटी और कपड़ेका ठिकाना होनेसे ही बहुत समझना चाहिये। हम और भी एक बात कहेंगे। पिता कन्याको अपनी शक्तिके अनुसार धनरत्नसमन्विता बना कर दान करें। यदि दे सकें तो कन्याको कुछ अर्थ भी दें। वरपक्षवालोंके दबानेकी प्रतीक्षा न करें। यदि वह ऐसी चेष्टा करेंगे तो वरकर्ता जितना रुपया दहेजमें चाहते हैं उसमें भी कमी हो जायगी। वरकर्त्ताका जो दहेज घटेगा, उसका हेतु सिर्फ उनकी आंखमें लज्जाही नहीं है। उस दहेजमें एक प्रकृत भूल है। कन्याकर्त्ताको कन्याको कुछ सम्पत्ति देनेसे दहेजका वह मूलरूप रह न जायगा। दहेजका प्रकृत मूल यही है, कि निसर्गतः कन्याओंका पितृधन पर कुछ अधिकार है। हम लोगोंके व्यवहार-शास्त्रमें वह नैसर्गिक अधिकार स्वीकृत हुआ नहीं है। किन्तु नैसर्गिक शक्ति सबकी ही शिरःस्थिता है। वरकर्ताकी जानमें हो या अनजानमें, वह उस नैसर्गिक बलसे बलवान है। कन्याको कुछ सम्पत्ति प्रदान करनेसे ही उस शक्तिकी पूजा हो जाती है, फिर वह वरकर्त्ताकी सहकारिणी नहीं बनती। इसीसे दहेजमें भी कमी हो जाती है। पूर्ब्बकालमें जमींदार लोग कन्यादामादको भूसम्पत्ति दान करते थे, इसीसे वे लोग

कुलीन सन्तानोंको जबरदस्ती लाकर भी विवाह कर देते थे और वरकर्त्ता उच्चवाच्य नहीं कर सकते थे।

हमारे देशमें कन्याके विवाहको जैसा कष्टसाध्य व्यापार समझते हैं वैसा पुत्रके विवाहको नहीं। पुत्रके विवाहमें भले आदमियोंको पण देना नहीं पड़ता। पुत्रका विवाह होने पर भी उसका बहुत कुछ सुख दुःख माता पिताके अधीन ही रहता है। पुत्रवधू अपने मनके अनुसार बना ली जाती है। देशमें बहुविवाहकी प्रथा प्रचलित रहनेसे मनमें यह भाव भी सञ्चित रह सकता है, कि बहू ठीक न रहेगी, तो लड़केका दूसरा विवाह होगा। किन्तु जब कार्यतः बहुविवाहकी प्रथा अप्रचलित होती जाती है, जब कन्या-काल उत्तीर्ण कर लोग कन्याका विवाह करते जाते हैं, जब विजातीय शिक्षाके प्रादुर्भावसे पुत्र और पुत्र-बधूकी वश्यता क्रमशः घटती जाती है, तब भी चाहे पुत्रका विवाह करना कन्याके विवाहकी तरह दायित्वपूर्ण न माना जाये, किन्तु उसमें भी निःसन्देह बहुत कुछ विचार, सतर्कता और दूरदर्शिताका प्रयोजन है। विशेषतः कुछ विचार कर देखनेसे निश्चय जान पड़ता है, कि पुत्रका विवाह खूब विचार कर न करनेसे एक बार ही तुम्हारे वंशमें अमिट दोष प्रविष्ट हो सकता है। अतएव पुत्रका विवाह करना भी कुछ हँसी खेलका काम नहीं। आजकलके पुत्रके पिता केवल पण पर ही दृष्टि रखते हैं। इसकी ओर दृष्टि नहीं रखते, कि रुपयेके लोभसे न जाने किसे यावज्जीवनके लिये लड़केके गलेमें बाँधे देते हैं। ऐसा करनेसे क्या पुत्रके प्रति कठोर अत्याचार नहीं होता? इसीसे हम कहते हैं कि पुत्रके विवाहमें अधिक रुपये मिलनेका लोभ छोड़ो। विशेष रूपसे इसकी ही चिन्ता करो, कि किस प्रकार बहू तुम्हारी कुल-लक्ष्मी बन सकेगी। इसपर विशेष ध्यान दो—

(१) कन्या सुन्दरी है या नहीं, अर्थात तुम्हारे पुत्र–कन्याकी अपेक्षा उसका अङ्गसौष्ठव अधिक है या नहीं।

(२) कन्याका स्वभाव नम्र और उदार है या नहीं। रूप देखनेसे ही बहुत कुछ स्वभाव समझमें आ जाता है। उससे कुछ बातें कहला या सखियोंसे उसके व्यवहारकी बातें सुनकर भी बहुत कुछ समझ सकते हैं।

(३) कन्याके पिता और पूर्वपुरुष धार्मिक और विद्वान् थे या नहीं।

(४) कन्याकी माता साधुशीला, धर्म्मपरायणा और गृहकार्य्यमें दक्षा था नहीं। इन चार नियमोंपर विशेष लक्ष्य रख तब रुपये पैसेकी ओर

दृष्टि करनेसे उतनी हानि नहीं। किन्तु कन्या यदि उन सब विषयोंमें अच्छी हो, तो पुत्रके सुख और वंशकी उन्नति, इन दोनोंको देख पुत्रके लिये वैसी कन्यारत्नको अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। यदि उसे ग्रहण करनेका स्थिर निश्चय हो जाये, तो रुपये पैसेके लिये कष्ट देना बहुत ही नीचता है। असल बात यह है, कि पुत्रके विवाहमें केवल पणकी ओर न देख उसके भावी सुख, स्वाच्छन्द्य और वंशकी उन्नतिकी ओर लक्ष्य रखना चाहिये।

विवाहका व्यापार पारलौकिक सब प्रकारके सुखदुःखके साथ बहुत ही घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध है। इसके लिये सामाजिक और वैज्ञानिक समस्त नीतियोंके संबन्धमें सूक्ष्मानुसूक्ष्म विचार करनेका विशेष प्रयोजन है। आज तक पृथिवीमें किसी देशके वैवाहिक व्यापारमें वैज्ञानिक बातोंका समावेश हुआ नहीं है। ऐसा होनेसे मनुष्यजातिकी बहुत कुछ उन्नति होती। जिस प्रदेशमें उन बातोंका कुछ भी प्रयोग हो सकता है, उस देशका उत्कर्ष देखनेसे ही यह बात अनुमित हो सकती है। युरोपखण्डके अनेकानेक देशोंमें-विशेषतः इङ्गलैण्डमें पशुजननका कार्य सच्चा वैज्ञानिक कार्य्य होगया है। इससे आजकल इंगलैण्डके घोड़े, गाय, भेड़, कुत्ते आदि अन्यान्य सबदेशोंके घोड़े, गाय आदिसे उत्कृष्टतर हो गये हैं। इंगलैण्डका जल-वायु उन सब जन्तुओंके लिये विशेष उपकारी नहीं। किन्तु ऐसा न होने पर भी वैज्ञानिक प्रथाके अनुसार काम करनेसे उन सब पशुओंका वंश क्रम क्रमसे बढ़ रहा है। जल वायुके दोषसे वह घट नहीं रहा है।

किन्तु इतना जान--सुनकर नर--नारियोंके दाम्पत्यके सम्बंधका संघटन अभी तक युरोपमें भी प्रचलित नहीं हुआ। इस देशमें राशि, गण नक्षत्र और शारीरिक लक्षण आदिका विचार कर जो वैवाहिक कर्म होता है, उसकी यौक्तिकताकी समझ प्रायः लुप्त हो गई है। तब भी यह कहा जा सकता है, कि हमारे देशमें वैवाहिक व्यापार बहुत कुछ वैज्ञानिक नीतिके विरुद्ध हो सकता था, किन्तु वर्णभेदकी प्रथा प्रचलित रहनेसे वह अब तक उतना विकृत हुआ नहीं है। नहीं तो अन्यान्य प्राचीन जातियों की तरह इतने दिनोंमें हम लोगों का भी विनाश हो जाता। यदि अब भी हम लोग, उत्साही होकर अपने वैवाहिक कामोंमें क्रम क्रमसे वैज्ञानिक तथ्योंका यथा सम्भव प्रयोग करना सीखें; तो अधःपातका निवारण और भावी उत्कर्षके साधनका बीज बो सकते हैं। दो एक स्थूल बातें कह कर हम इस विषयको समाप्त करेंगे।

(१) परस्पर बहुत ही बेजोड़ दम्पतीके मिलनेसे अच्छी सन्तान नहीं होती।

(२) पात्र पात्रीके अङ्गमें एकही प्रकारके दोषका रहना अच्छा नहीं। इससे अपकृष्ट सन्तान होती है। शारीरिक गुणके मिलनेसे सन्तान अच्छी होती है।

(३) उल्लिखित दोनों विधान वर कन्या दोनोंके आगे तीन पुश्ततक जहां तक चले—अच्छा है।

(४) वर और कन्याके पहले की एक पुश्तमें कोई संक्रामक रोग न रहे।

(५) स्त्री पुरुषोंमें बहुत ही गहरा प्रेम रहनेसे सन्तान अच्छी होती है।

(६) पिता माताके शारीरिक और मानसिक दोष-गुण उनकी सन्तानोंमें भी होते हैं।

---

२४ प्रबन्ध।

जीवत्वत्सा (जैंयाच)

(जिसकी प्रथम सन्तति जीवित रहे।)

इस प्रबन्धके शिरोभागमें जो शब्द है, वह संस्कृतमिश्रित जान नहीं पड़ता, यह किसी शब्दकोषमें भी नहीं। प्राचीन हिन्दी काव्योंमें भी यह शब्द दिखाई नहीं देता। हमें जान पड़ता है कि यह आधुनिक शब्द आप ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रदेशमें भी यह अच्छी तरह प्रचलित नहीं है; किन्तु क्रमशः विस्तृत हो रहा है।

जैंयाचका अर्थ है,—जीवतवत्सा स्त्री। जिस प्रसूतिकी पहली संतान जीती है, उसे ही जैंयाच कहते हैं। इस आधुनिक शब्दकी सृष्टि क्यों हुई? नया पदार्थ उपस्थित होनेसे ही उसका नामकरण होता है और नये शब्दकी उत्पत्ति होती है। किन्तु क्या जैंयाच एक असामान्य नई वस्तु है? पहले मृतवत्सा शब्द प्रचलित था। उस समय मृतवत्सा ही एक नई वस्तु थी। अब इस समय जैंयाच ही नई वस्तु है। हम समझते हैं, कि देशमें नई नई बीमारियोंके फैलनेसे और बालविवाहकी प्रथासे जो कुछ दोष हुआ है उसका संशोधन न करनेसे ही ऐसे शब्द प्रचलित हो गये हैं।

आधुनिक जैयाच शब्दकी प्रकृत पर्यालोचनासे हृत्कम्प उपस्थित होता है। सुनते हैं, कि यहूदी जातिके आराध्य किसी देवताने किसी कारण से क्रुद्ध हो उस जातिके प्रथम-जात सन्तानोंको एक रातमें ही विनष्ट किया था। बङ्गदेशमें भी किसी देवताका ऐसा अभिसम्पात हुआ है, कि उस देशके कितने ही प्रथमजात संतानकी रक्षा हो नहीं सकी। वह सब अब तक अकाल ही कालग्रस्त हो रहे हैं।

पञ्जाब और उत्तर पश्चिमान्तमें हिन्दू या मुसलमान किसी जातिके लोगोंमें जैयाच शब्द अधिक प्रचलित नहीं। किन्तु बङ्गवासी हिन्दुओंमें जैसे जैयाच शब्द प्रचलित है, वैसे ही बङ्गवासी मुसलमानोंमें भी 'आकड़' शब्दकी सृष्टि हुई है। जिस मुसलमान स्त्रीकी पहली सन्तान जीवित रहती है, उसे 'आकड़' (अकष्ट)? कहते हैं। बंगदेशमें यह व्यापार क्यों उपस्थित हुआ?

प्रथम सन्तानकी मृत्यु सामान्य दुर्भाग्यकी बात नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि अपत्यवियोगकी यन्त्रणाके समान दूसरी और कोई यन्त्रणा नहीं। जिसको सन्तानवियोग होता है, उसके हृदयमें घाव हो जाता है। किन्तु प्रथम सन्तानकी वियोग-यन्त्रणा कुछ विशेष यन्त्रणा है। पहली सन्तानके प्रति माता-पिताका जो वात्सल्यभाव उत्पन्न होता है, वह अपूर्व है। वात्सल्य भावके साथ प्रथम परिचय और उस भावके अभिनव सुखकी उपलब्धि प्रथम-जात सन्तानके पानेसे ही होती है। प्रथम सन्तानपर ममता बहुत गहरी होती है। प्रथम सन्तान बिलकुल ही निजस्व है। यमराजके द्वारा इस निजस्वका लोप होनेपर ममताका भ्रम दूर हो जाता है और एक बारगी ही आकाशसे रसातलमें गिरना पड़ता है। इसके बाद चाहे जितनी सन्तानें उत्पन्न हों, किन्तु किसी पर उतनी ममता नहीं होती। सन्तान सचमुच ही अपनी नहीं, ऐसा ही भाव सदाके लिये हृदयमें जागता रहता है। उन सबपर यमराजका हिस्सा जान पहले जैसी घोर ममता उत्पन्न नहीं होती। उसका निजस्व नहीं—वह दूसरेका जमा धन है। उसे अपना समझना न चाहिये। वह रहनेके तो हैं ही नहीं तब भी जब तक रहें, रहें। मनमें सदा ऐसा ही भाव उदित होकर अपने जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न कर देता है। हमलोगोंमें जो औदासीन्य वा मानसिक दुर्ब्बलता और अध्यवसाय-विहीनता दिखाई देती है उसका अन्यतम कारण हमलोगोंकी प्रथम-जात सन्तानकी अकालमृत्युका प्राचुर्य है।

यौवनकालमें विवाह हुआ। सन्तान हुई, कार्य्य—तत्परता अवश्य

ही होगी। प्रियतम पुत्र और प्रियतमा भार्य्याको सुखसे प्रतिपालित करनेके लिये आपही प्रबलतर इच्छा होगी। जिनको कोई सन्तान नहीं उनकी अपेक्षा पुत्रकलत्रवान मनुष्योंमें सहस्र गुण सावधानी और परिणामदर्शिता समुदित होगी। केवल अपने लिये जो परिश्रम करते हैं, उनकी परिश्रम-शालिताका उत्तेजक साक्षात् स्वार्थसिद्धिके अतिरिक्त और कुछ भी हो नहीं सकता। किन्तु जिनके स्त्री पुत्र हैं उनकी परिश्रमोन्मुखताके कारण स्वार्थ और परार्थ दोनों ही सम्मिलित हैं। वह अवश्य ही अधिकतर परिश्रम कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त आश्रमी मनुष्य परिश्रमसे थकनेपर बहुत ही सहज में शरीर और मनकी क्लान्ति दूर कर सकते हैं। वह पुत्र कलत्रादि लेकर कुछ क्षण बितानेसे ही फिर पहले जैसी शक्ति पाते हैं। आश्रम विहीन मनुष्यके लिये थकावट दूर करनेके लिये वैसा कोई सहज उपाय नही। काम बदलना या आराम करनां ही उनका एकमात्र उपाय है।

इतनी सुविधा रहते भी हमलोगोंके युवापुरुष श्रमविमुख, अध्यवसायशून्य, कार्य्यतत्परताविहीन और अन्यान्य देशीय वृद्ध लोगोंकी अपेक्षा भी समधिक निस्तेज और निर्जीव हो रहे हैं। हम समझते हैं कि इन लोगोंमेंसे अधिकांश लोगों की प्रथमजात सन्तान नष्ट हो जाती है। इससे थोड़ी उम्रसे ही इन लोगोंके हृदयकन्दरमें अपने अपने जीवनके प्रति अनास्था उत्पन्न होती है। पृथिवीमें कुछ नहीं। ऐसी समझ उनमें अकाल ही उत्पन्न होती और इसी से वे लोग यौवनावस्थामें ही वार्द्धक्यदशाको प्राप्त होते हैं। इस देशकी स्त्रियाँ भी बहुत ही शीघ्र प्राचीन अवस्थाको प्राप्त होती हैं। उल्लिखित दुर्घटना ही उसका एक मूल कारण है। स्त्रियोंके लिये सबकी अपेक्षा गौरवका नाम है, 'सधवा'—और दूसरा 'जैयाच'। पूर्ण यौवना स्त्रियोंके लिये ऐसी बात असाधारण नहीं कि—"मेरा जैयाच नाम छूट गया, ईश्वर करें दूसरा नाम रहते मैं मर सकूँ।"

२५ प्रबन्ध ।

निरपत्यता ।

विवाह होनेसे ही गृहस्थाश्रममें प्रवेश होता है। प्रणयका सञ्चार होनेसे ही दम्पतीमें स्वार्थपरताका संस्कार आरम्भ होता है। किन्तु स्वार्थपरताका संस्कार क्या है? परार्थके लिये उसकी विस्तृति है। जबतक वह विस्तृति होती रहती है, तभी तक वह संस्कार भी होता रहता है। विस्तृतिके स्थगित होनेसे संस्कार भी स्थगित होता है। जबतक तुम्हारा स्वार्थ और किसीके स्वार्थके साथ सम्मिलित होता जाता है, तब तक तुम्हारा स्वार्थका ही संस्कार होता है, जब मिल गया—दो स्वार्थका एक स्वार्थ हुआ, फिर स्वार्थकी विस्तृति भी न हुई, तब संस्कार भी हो न सका। इसीसे हम कहते हैं कि दम्पतीके प्रणयमें उनका स्वार्थ-संस्कार आरम्भमात्र होता है। दम्पतीका परस्पर आकर्षण इतना प्रबल है कि उस आकर्षणके प्रभावसे दोनोंका जीवन कुछ ही दिनोंमें दृढ़रूपसे सम्बद्ध हो सम्मिलित एक जीवनकी तरह हो उठता है। उनमें स्वार्थ परार्थ समझनेका अवसर लुप्त हो जाता है, अथवा प्रकृतिभेदसे जहांतक लुप्त होना होता है वह होकर घनिष्ठताकी वृद्धि स्थगित हो पड़ती है। असलमें जैसा बाह्यजगत्में है वैसा हो अन्तर्जगत्में भी है। द्रव्यके प्रकृतिभेदसे कहीं योगाकर्षण, कहीं रासायनिक आकर्षण, कहीं दो आत्माओंका नैकट्य सम्बन्धमात्र, कहीं वा दोनोंके मिलनेसे एक अपूर्व्व वस्तु।

उल्लिखित दृष्टान्तसे हमें और भी एक बात याद आई। अनेक दिनसे हमारा संस्कार होगया है कि दम्पतीके परस्पर सम्मिलनका परिणाम और प्रकारभेद प्रायःही उनकी सन्तानोंका आकार प्रकार देखकर समझमें आता है। यदि उनके सम्मिलनकी प्रकृति बाह्यजगत्के योगाकर्षणके अनुरूप हो, तो सन्तान कभी पिताके आकार प्रकारकी, कभी माताके आकार प्रकारका परिस्फुट भाव धारण करती है, अथवा पितृवंशीय या मातृवंशीय पूर्व्वोत्पन्न किसी पुरुष या स्त्रीका भाव धारण करती है। यदि दम्पतीका सम्मिलन बाह्यजगत्के रासायनिक सम्बन्धके अनुरूप हो, तो हरेक सन्तान उन दोनोंके आकार प्रकार अथवा उनके पूर्व्वपुरुषोंके आकार प्रकारसे परस्पर सम्मिलित भावापन्न हो प्रकट होती है। हमारे इस संस्कारका इतना दृढ़ सम्बन्ध नहीं, कि उसे हम अव्यभिचारी तथ्य समझ सकें, किन्तु जब यह भाव पहले पहल

हमारे हृदयमें आया था, उसके बाद हमने जितना देखा और पढ़ा * उससे यह हमें अप्राकृत ज्ञान न पड़ा।

अस्तु ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तान उत्पन्न होनेपर दम्पतीका प्रणय दृढ़तर होता है। दश हजारमें दो चार बिलकुल ही पशुधर्म्मी व्यक्तियोंके अतिरिक्त यह बात अन्यान्य सबके लिये ठीक मानी जाती है। सन्तान उत्पन्न होने पर माता पिताकी एकीभूत स्वार्थपरता और भी विस्तृत तथा सुसंस्कृत हो जाती है। कैसे लड़का अच्छा रहेगा, कैसे वह अच्छा होगा, क्या करनेसे उसकी अवस्था अपनी अवस्थासे अच्छी होगी, यह सब चिन्ताएँ माता पिताके हृदयका आश्रय लेती हैं। वे लोग फिर अपने सुखकी ओर उतना दृष्टिपात नहीं करते—स्वार्थपरताका पुनः संस्कार होकर वे परार्थपरताके उच्चतर सोपानपर चढ़ते हैं। इस प्रकार सन्तान पिता माताके जीवनकी संस्कारक होती हैं। बाप सन्तानके लिये जो कुछ करते, शास्त्रमें और लोगोंके मुँहसे उसकी बड़ी प्रशंसा सुनाई देती है। किन्तु सन्तान पिता माता-का जो अशेष उपकार करता है, वह शास्त्रमें केवल इशारेमें कहा गया है, कहीं भी सुविस्तृतरूपसे कहा नहीं गया। पुत्र पिता माताके लिये निरयत्राता कहा जाता है, पण्डित लोग व्याख्या करते हैं,—श्राद्ध, तर्पण, पिण्डदादि द्वारा। हमारे विचारसे परकालमें चाहे जो कुछ हो उसकी सूचना इहकालमें होनी चाहिये †। इसे विचार कर देखना चाहिये, कि सन्तान इहलोकसे ही निरय-त्राणका उपाय करती है, या नहीं। सन्तानोत्पत्तिसे पितामाताका जो स्वार्थ संस्करण होता है, वह पहले ही कहा जा चुका है। किन्तु अपत्य द्वारा आरब्ध संस्करणका कार्य्य अल्पकालमें ही निवृत्त नहीं होता। यह सन्तानकी पूरी उम्र तक चल सकता है—फलतः जबतक मातापिता अपनी सन्तानके जीवनको अपने ही जीवनकी अनुवृत्तिमात्र नहीं मानते, तबतक सन्तान द्वारा स्वार्थ-परताका संस्कार होता रहता है। किन्तु सन्तानके जीवनको अपने जीवनकी

---

* अये न केवलमस्मत्संवादिन्याकृतिः—
अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति।
ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो-
रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः।

† यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।

अनुवृत्ति समझ सन्तानको ठीक अपने ही प्रकार बनानेकी चेष्टा करनेसे सन्तानकी अपनी वृत्तिका सङ्कोच साधन होता है. ऐसे स्थलमें माता वा पिताकी स्वार्थपरतामें व्याघात उत्पन्न होता है । सन्तानको कुछ ज्ञान होते ही माता पिताके समझमें आता है, कि उनके स्वयं कोई दुष्कर्म्म करनेसे सन्तान भी उसी दुष्क्रियाको सीखेगी और स्वयं निश्चेष्ट होनेसे सन्तानकी अवस्थाका उत्कर्ष साधन न होगा। वस्तुतः सन्तान पालन करते शिक्षापद्धतिके कितने ही नये नियम आविष्कृत होते हैं, मनुष्यके हृदयमें जो बहुतसी सत्य बातें अपरिज्ञात हैं, वह परिज्ञात होती हैं, तथा इसे भुक्तभोगी मात्र ही समझ सकते हैं कि कार्य्यका विघ्नवैषम्य उत्साहशक्तिकी उत्तेजनासे कहां तक दूर हो जाता है। यहां हम एक उदाहरण देते हैं। पहले सन्तानके उत्पन्न होनेपर किसी मनुष्यने स्वास्थ्य रक्षा, शिशुपालन और चिकित्सा-विधानको इस प्रकार सीख लिया कि कितने ही समय कृतविद्य चिकित्सकगण उसका परामर्श लेते और उसके उपदेशसे कृतकार्य्य होते थे। लड़का दुर्बल था। क्रमसे उसका शरीर स्वस्थ और सबल हुआ। उसकी शिक्षाके कामका विधान करते करते शिक्षा-पद्धतिके सभी सूत्र पिताके आयत्त होते गये। लड़केको विलक्षण मेधावी और बुद्धिमान् देख पिताकी इच्छा हुई, कि उसे युरोप भेजें और अच्छी तरह शिक्षित बनावें, इसके लिये अर्थसञ्चय करनेकी चेष्टा उत्पन्न हुई और स्त्री पुरुषने हाथ रोक कर खर्च करना सीखा।

उस मनुष्यकी एक कन्या हुई। कन्या बढ़ने लगी। लिखने पढ़नेमें मन लगाने लगी। बुद्धि और सुशीलतामें उत्कृष्ट हो उठी। पिताने कन्याको उसके उपयुक्त पात्रको समर्पण करनेकी इच्छा की। किन्तु धनवान् न होनेकी वजह सुपात्रका संयोजन न हो ऐसा भय हुआ। उन्होंने धनवृद्धिका उपाय न कर सकने पर विचार किया कि यदि पाँच आदमी मुझे नेक समझें तो कन्याके विवाहके लिये अच्छा पात्र मिल सकेगा। ऐसा ही विचार वे यशोलिप्सु हुए।

उनका और एक पुत्र हुआ। वह बहुत ही सुन्दर हुआ। प्राचीन सामुद्रिक शास्त्र जाननेवाले किसी महापुरुषने लड़केको देख कहा, कि यह लड़का बहुत ही धार्मिक, जितेन्द्रिय, सदय स्वभाव और कितने ही लोगोंका पालन करनेवाला होगा। उस बातपर अनायास ही माता पिताकी श्रद्धा हुई, वे लोग

आत्मगौरवसंपन्न हुए और ऐसे पुत्रके मा-बाप का उच्चप्रकृतिका होना आवश्यकीय समझ कर उन्नतिपरायण हुए।

उस मनुष्यका और एक पुत्र हुआ। जब वह चार पाँच वर्षका था तब वे एक दिन अपने मालिकसे मिलने गये। बातोंके प्रसङ्गमें मलिकने कहा,—"तुम्हारी जहाँ तक उन्नति होनी थी हो गई, अब क्या होगी?" अङ्गरेज जातिके मालिककी ऐसी हृदयशून्य विरस बातें जैसे ही उसके कानमें पड़ीं वैसे ही उसका हृदय जल उठा। फिर लड़केको याद कर क्रोधका दमन हुआ और मुँहसे ऐसी युक्तिकी बातें निकलीं, कि मालिकका मन एक बार ही मुट्ठीमें आगया। दिये हुए परामर्शको उसने शिरोधार्य्य किया और मनुष्यकी उन्नतिकी राह खोलनेके लिये यथोचित यत्न करनेमें मन लगाया। सचमुच प्रीतिभाजन सन्तान आलस्य, निश्चेष्टता, निरुत्साहता, अप्रयत्न, असमीक्ष्यकारिता आदि नरकसे माता-पिताको विमुक्त करती और इसीसे सन्तानको नरकत्राता कहते हैं।

जिस दम्पतीकी सन्तान नहीं होती, उनके मनका प्रणय वर्द्धित विस्तृत और उन्नतर संस्कारपूर्ण हो नहीं सकता, असमीक्ष्यकारिता दोषसे निवृत्त रहनेके लिये उन्हें विशेष यत्न करना पड़ता है। अध्यवसाय और उत्साहशीलताके थोड़े दिनमें ही स्तिमिततेज होनेकी सम्भावना होती है। इस प्रकारकी निरयदशासे निस्तार पानेका क्या उपाय है? असामान्य औदार्य्य और दूरदर्शिता तथा धीरतासम्पन्न मनुष्य अपना उपाय आपही कर लेंगे। अपने नैसर्गिक अर्थात् माता-पिताके पुण्य बलसे ही वह तर जायँगे परन्तु अन्यान्य साधारण लोगोंके लिये निरपत्यताजनित दोषका अतिक्रम करना बहुत ही कठिन व्यापार है। इसलिये विशेष दुरूह है कि मनुष्य रागद्वेषादिके भाव द्वारा जितना परिचालित होता है, बुद्धि द्वारा उतना परिचालित नहीं होता। बुद्धि जिस कांममें प्रवृत्त करना चाहती है, उसकी अपेक्षा रागद्वेषादिका भाव जिस काममें प्रवृत्त करना चाहता है उसके प्रति समधिक आग्रह उत्पन्न होता है। निरपत्यताकी वजह यह सब दोष उत्पन्न हो सकते हैं अतएव "इस प्रकार चलना चाहिये, जिसमें वह सब दोष न हों" ऐसा बहुत कम लोग समझते हैं। जो समझते हैं वह भी उसके अनुसार काम कर नहीं सकते। बाह्येन्द्रियके दोषकी अपेक्षा अन्तरिन्द्रियका दोष दूर करना बहुत कठिन काम है। किन्तु लोग बाह्य अवलम्बन द्वारा दोनों ही स्थलोंके दोषके प्रतीकारकी चेष्टा करते हैं। आँख कम-

जोर होनेसे चश्मा लगाया जाता है, कान कमजोर होनेसे स्पीकिन्ट्रम्पेट व्यवहारमें लाया जाता है, पैर कमजोर होनेसे लकड़ी पकड़ी जाती है। मानसिक दुर्बलता उपस्थित होने पर भी वैसा ही किया जाता है अर्थात् चशमा, स्पीकिन्ट्रम्पेट और लाठी पकड़नेकी तरह निरपत्यगण पोष्यपुत्र लें, या बिल्ली कुत्ता मैना पालें, अथवा विग्रह स्थापनकर उसकी सेवामें रत रहें यह भी बुरा नहीं। इससे भी बहुत कुछ हो सकता है और इसीसे लोग ऐसा करते हैं। किन्तु असल बात यह है कि निरपत्यतासे जो जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें समझ मनही मन चेष्टा करके उन दोषोंका प्रतिविधान करना अच्छा है। बाह्य अवलम्बनका ग्रहण करना उतना अच्छा नहीं।

साधारण गृहस्थाश्रमीके लिये निरपत्य होना ऐसा दुर्भाग्य है कि किसी प्रकार उसके पूरे प्रतिविधानकी सम्भावना नहीं। लड़का होकर मर जानेकी अपेक्षा लड़केका न होना ही अच्छा, जो लोग ऐसा कहा करते हैं वे लोग निम्नलिखित एक उत्कृष्ट ग्रंथकर्त्री की बातें सुन क्या कहेंगे ? ग्रन्थकर्त्री कहती है;—“ चिरान्ध होनेकी अपेक्षा एक बार सूर्य्यका मुंह देखकर अंधा होना अच्छा है” हमारे कितने ही लड़की लड़के हो गये, तब भी ऐसा कभी मनमें न आया कि इनका न होना अच्छा । जिसके संतान मर जाते हैं वह दूसरेके लड़केको ले अपना मानता है ।

---

२६ प्रबन्ध ।

सन्तान-पालन ।

संसाराश्रमियोंके अनुष्ठित सभी कामोंका चरम फल उनकी सन्तानमें विद्यमान है । ज्ञानचर्य्या, धर्म्मचर्य्या, पति-पत्नी-प्रेम, माता-पिताकी सेवा, कुटुम्बता ज्ञातित्व, लौकिकता मिताहार, मिताचार, इन्द्रियसंयम, श्रमशीलता, अध्यवसाय, दातृत्व आदि जो कुछ संसाराश्रमके विहित भाव हैं, उन सबका ही फल उसी आश्रमसे सम्भूत और उसी आश्रमकी पालित सन्तानमें दिखाई देता है। इसलिये सन्तान अच्छी होने पर माता-पिताका पुण्य सूचित होता है सन्तान खराब होनेसे उनका अपुण्य सूचित होता है। जो पुण्यवान हैं उनके पार्थिव परलोकमें (अर्थात् सन्तानमें) उर्ध्वगति है। जो पुण्यशाली नहीं, उनके पार्थिव परलोकमें (अर्थात् सन्तानमें)

अधोगति है। इसपर विचार करना निष्प्रयोजन है कि, उल्लिखित नियमोंका कदाचित् व्यभिचार हो सकता है या नहीं। इस नियमको साधारणतः अव्यभिचारी समझना ही अच्छा है।

सनातन हिन्दूधर्म्मावलम्बी मात्रके ही हृदयमें इहकालकी अपेक्षा परकालका अधिक विश्वास है। परकालके लिये ही हम लोगोंका सर्व्वस्व है। हिन्दू जातीय मनुष्य आहार, विहार और पहनावे आदिमें अन्यान्य जातियोंकी अपेक्षा स्वल्पयत्न है। हिन्दू जातीय लोगोंमें सभी कामोंमें ईश्वरका स्मरण और सभी कामोंका फल ईश्वरको समर्पित है। निष्कामता ही हिन्दुओंका एकान्त शिक्षणीय है। पारलौकिक सद्गति साधनके लिये हिन्दुओंमें कठोर तपस्या और प्राणतकका विसर्ज्जन है। इन सभों का एकमात्र कारण हिन्दुओंका परकालपर दृढ़ विश्वास और क्षणस्थायी इहलौकिक सुखकी अपेक्षा पारलौकिक सुखके प्रति अधिक लालसा है। यह हिन्दू जातिका दोष नहीं, परमगुण है। वर्तमान सुखैश्वर्य्यादिकी अपेक्षा जो भावी सुखैश्वर्य्यकी ओर अधिकतर लोलुप हैं, उनमें पशु धर्म्मकी अपेक्षा मनुष्य धर्म्म ही प्रबलतर है।

किन्तु हिन्दू धर्म्मावलम्बियोंकी प्रकृति इतनी ऊँची होने पर भी उनमें कितने ही कुसंस्कार उत्पन्न हो गये हैं। इससे असलमें उच्चप्रकृतिके सब काम सब स्थलोंमें साधित हो नहीं रहे हैं। उन लोगोंने अतीन्द्रिय परकालका भाव समझनेके लिये इहलौकिक या पार्थिव परकालकी ओर देखनेका अभ्यास छोड़ दिया है, सुतरां अनेक समय वह अतीन्द्रिय पारलौकिक उन्नतिके प्रकृतपथ पर पैर भी रख नहीं सकते हैं। परलोक इहलोकका परिणाम मात्र है,—शास्त्र और युक्ति दोनों हीसे सिद्ध इस भावको कभी भूलना न चाहिये। सबको ही अपने हृदयमें इस तथ्यको जागृत रखना आवश्यकीय है कि सन्तानगणको उत्कृष्टतर देहमनःसम्पन्न न बनानेसे किसी नरनारीकी पारलौकिक उर्द्धगति सम्पादित हो नहीं सकती। "पुत्रादिच्छेत् पराजयं" यह विधिवाक्य है, कि पुत्रके निकट पराजयकी इच्छा करें। यह सन्तान वात्सल्यका परिचायक स्वरूपाख्यान मात्र नहीं। किन्तु केवल इच्छा करनेसे ही काम न चलेगा, तुम्हें इसका उपाय करना चाहिये, जिससे पुत्र तुम्हें पराजित कर सके।

पहले यह करना चाहिये, जिससे पुत्रका शरीर नीरोग, पटु और बलिष्ठ हो। इसके लिये सन्तान उत्पन्न होनेसे पहले ही अपने लोगोंके शरीरको नीरोग, शुचि और सक्षम बनानेकी चेष्टा करना चाहिये। सुतरां मिताचार,

मिताहार, व्यायामचर्य्या स्त्रीपुरुष दोनोंके लिये ही अवश्य कर्त्तव्य गिना जाता है। माता पिताके शरीरमें अपक्वरसक्लेदादि रहनेसे भी वह सन्तानके शरीरको संक्रमित कर उसे भी रुग्नदेह कर देता है। मातापिता का शरीर शुद्ध और सबल होनेसे उससे उत्पन्न सन्तानकी देह भी नीरोग और बलशाली होती है। इसके लिये हम एक प्राचीन कहावत कहते हैं—

नित्यानन्द महाप्रभुके अभिराम गोस्वामी नामक एक षोढ़ासिद्ध शिष्य थे। षोढ़ासिद्धगण एक प्रकारके देवताधिष्ठित पुरुष हैं वह लोग जिन्हें प्रणाम करते, उनके शरीरमें यदि दैवशक्तिका आविर्भाव न हो, तो प्रणाम करते ही उनका नाश हो जाता है।' नित्यानन्द महाप्रभुको सन्तान उत्पन्न हुई, अभिराम एक दिन गुरुके दर्शनके लिये आये। महाप्रभुने कहा,—"अभिराम! मेरा एक पुत्र हुआ है।" अभिराम गुरुपुत्र देखनेके लिये गये। सूतिकागारके द्वारपर उन्होंने नये उत्पन्न हुए पुत्रको प्रणाम किया। शिशुने उसी समय प्राण परित्याग किया। तीन चार बार ऐसा ही होनेपर महाप्रभुने तीन वर्षके लिये स्त्रीसहवास परित्याग कर बहुत योगका अनुष्ठान किया। मन्त्रसिद्धिसे उन्होंने फिर सन्तानोत्पादन किया। फिर अभिराम आये। उन्होंने फिर गुरु-पुत्रको प्रणाम किया, किन्तु इस बार शिशुकी कुछ भी हानि न हुई। बल्कि पुत्रने पैर उठा पिताके शिष्यको आशीर्वाद देनेका इशारा किया। नित्यानन्त महाप्रभुके उन पुत्रने ही वीरभद्रके नामसे विख्यात हो समस्त वङ्गभूमिमें वैष्णव सम्प्रदायका प्राबल्य संस्थापित किया था। इस कहानीमें एक प्रकृत तत्व निहित है।

अपने किसी किसी आत्मीयके बार बार गर्भस्राव होता सुन हमने उन्हें परामर्श दिया, कि अब गर्भधारणमें कुछ दिनोंकी देर लगा दो। देर होनेसे गर्भस्रावका दोष दूर हो जाता है। हमारी समझमें एक सन्तान होनेके ४–५ वर्षके बीच यदि फिर गर्भधारण न हो, तो प्रसूतिका शरीर-क्षय नहीं होता। इससे सूतिकागृहमें सन्तानोंकी उतनी मृत्यु होनेकी भी सम्भावना नहीं होती।

गहरे प्रणयमें सम्बद्ध दम्पतीकी सन्तान सुष्ठुशरीर और सुष्ठुमना होती है। इस लिये स्त्रीपुरुषमें परस्पर कलह और विसम्वाद सदाके लिये छोड़ देना चाहिये। विशेषतः जब गर्भधारण हो गया हो, तब गर्भिणीके मनमें किसी प्रकारका उद्वेग उत्पन्न होना न चाहिये।

सन्तानोत्पादन और सन्तानके पालनके सम्बन्धमें ऐसी कितनी ही बातोंकी रक्षा करनी पड़ती है। इस प्रबन्धमें उन सबका संक्षेपमें कहना भी सम्भव नहीं। एक मोटी बात यह है कि, अपनी अपेक्षा सन्तानको उत्कृष्ट बनाना चाहिये। अपना शरीर सुस्थ न होनेसे सन्तान सुस्थ शरीर न होगी; स्वयं अकृत्रिम धर्म्मशील न होनेसे सन्तान भी धर्म्मशील न होगी। स्वयं विद्याचर्चाके लिये उन्मुख न होनेसे सन्तानको विद्यानुराग न होगा। स्वयं मितव्ययी न होनेसे सन्तान सम्पत्तिशाली हो न सकेगी। इसका अनुसन्धान कितने ही देशके पण्डितगण बहुत दिनोंसे कर रहे हैं कि, समस्त धर्म्माचारका बीज कहाँ है। कोई कहते हैं प्रीति ही धर्म्मबीज है, कोई कहते हैं अपौरुषेय शास्त्रसे ही मनुष्यगण धर्म्मबीज लाभ करते हैं। कोई कहते, परोपकारके अतिरिक्त दूसरा धर्म्मबीज ही नहीं। किसी किसीके मतसे अधिक संख्यक लोगोंको अधिक परिमाणसे जो सुख मिले, वही धर्म्मकार्य्य है। इस प्रकार विविध मतवादमें जिसका अवलम्बन किया जा सके, कामके समय उसीके अनुसार अनुष्ठानके लिये फिर विचार और युक्ति संग्रह करना पड़ता है। हम कहते हैं, कि साधारणतः गृहस्थाश्रमोंके लिये अपेक्षाकृत एक सहज उपाय बता दिया जा सकता है। अपने लोगोंकी अपेक्षा सन्तानको सर्व्वतो भावसे, किसी एक विषयमें नहीं, सब तरहसे उत्कृष्ट बनानेकी चेष्टा करो। इससे ही धर्म्मसाधन होगा। सभी धर्म्मचर्य्यायें इस एक भित्ति के मूलमें संस्थापित की जा सकती हैं। पक्षान्तरमें भी देखो, जो लोग अपनी अपेक्षा सन्तानको उत्कृष्ट बना सके हैं, उन लोगोंने उन्नतिशील मानवजीवनकी सार्थकताका साधन किया है। उनके लिये इहलोक और परलोक, दोनों ही लोक रक्षित हैं। जो ऐसा कर नहीं सके, उन्हें इहलोकमें मनस्ताप होता और परलोकमें अधोगति होती है।

---

२७ प्रबन्ध।

शिक्षा-भित्ति।

सन्तानको लिखना-पढ़ना सिखाना चाहिये, यह विचार आजकलके प्रायः सभी लोगोंके हृदयमें जाग उठा है। पहले भी इस देशमें ऐसा ही विचार था। ऐसा नहीं कि, आजकलकी अपेक्षा कम था। परन्तु पहलेके गतानुगतिक लोगोंको यह विचार कुछ कम था, इस समय अपनी चिन्ता और उदरकी चिन्ता अथवा अभिनव शिक्षा द्वारा परिचालित नये लोगोंमें ऐसा विचार अधिक समाया है और वह सतेज भी हुआ है। पहलेकी व्यवस्था है कि पाँच वर्षके लड़केके हाथमें खड़ी थमाओ, उसे पाठशालामें भेजो, पाठका अभ्यास कराओ—यदि नहीं करते, तो "लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताड़येत्" वचनको याद कर जो करना हो, करो। जो उचित हो, वही सन्तानको सिखाओ। जो न उचित हो उसे भी बताओ। समझानेका प्रयोजन नहीं। उचित न करनेसे भी पीटो और अनुचित करनेसे पीटो। ऐसा करनेसे ही शिक्षा नीतिकी पद्धति और ज्ञान तथा उसका मुख्य अनुष्ठान पूरा होगा।

आजकल यह पद्धति दूषित होगई है, अब लड़केके हाथ खड़ी थमानी नहीं पड़ती; आजकल उसे अलक्षित रूपसे सिखानेकी व्यवस्था की जाती है। लड़का समझ न सके, कि वह कौनसी शिक्षा पाता है; फिर भी वह उसे सीख डाले। युरोपमें कहीं कहीं यह नियम है कि, लड़केको यदि पराई भाषा सिखानी हो, तो पराई भाषाके जाननेवाले नौकर या नौकरानीको उसके समीप रख देते हैं, उससे बातचीत करते-करते लड़का वह भाषा सीख लेता है। किसी द्रव्यका गुण या धर्म-व्यवहारादि सिखानेके लिये बातें कह देनेसे ही नहीं चलता। वह द्रव्य लाकर लड़केको देना चाहिये। उसके व्यवहारसे वह उसके गुण समझना आरम्भ करेगा और स्वयं पूछकर जानने योग्य बातोंको सीख लेगा। भाषा और वाह्य-पदार्थकी शिक्षाके लिये ऐसा ही नियम बनाया गया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानोत्पादनके लिये भी उस प्रणालीका अवलम्बन कर कितनी ही चेष्टायें की गई हैं। किसी सुविख्यात अङ्गरेजने शिक्षा सम्बन्धीय ग्रन्थमें आद्योपान्त ऐसा भाव प्रकाश किया है कि, लड़केको विधि या निषेध-कुछ भी मुँहसे न सिखा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये, जिससे सब विषयोंको वह समझकर सीखे। इसमें सन्देह नहीं, कि यह बहुत ही पक्की बात है। स्वयं सीखनेसे जैसी पक्की शिक्षा

होती है, वैसी और किसी प्रकार नहीं होती। अतएव उल्लिखित ग्रन्थ-कारने जैसा उपदेश दिया है, सम्भवतः उसके अनुसार चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

किन्तु क्या किसी स्थलमें विधिनिषेध द्वारा शिक्षादान नहीं है? मानवप्रकृतिमें क्या बिना अनुभव किये ज्ञान-लाभकी कोई राह नहीं?—स्वयं सीखना या अनुभव द्वारा सीखना इसका अर्थ सुखदुःखके भोग द्वारा शिक्षा लाभ करना है। लड़केने एक काम किया—चिरागके ऊपर उसने हाथ रख दिया-इससे उसका हाथ जला, उसे दुःख हुआ। इससे वह समझ गया कि, आगमें हाथ डालनेसे हाथ जल जाता है, आगमें हाथ डालना न चाहिये। यदि पृथ्वीके सभी काम ऐसे ही होते, अर्थात् कुछ ही देरमें उसका सुख दुःख मालूम हो जाता, तो ऐसी शिक्षा-प्रणालीका अवलम्बन किया जा सकता। किन्तु पृथ्वीके अधिकांश काम ऐसे नहीं। अनेक स्थलोंमें कुछ समय व्यतीत होनेपर सुख-दुःखका अनुभव होता है। लड़केने मीठा खाया, खानेमें अच्छा जान पड़ा। वैसे द्रव्यके भोजनके सुखने उसके मनको आकर्षित किया। दो चार दिनके बाद उसको पीड़ा हुई। लड़का उस मिठाईके खानेके साथ उसकी पीड़ाका कारण समझ न सका। उसे वह सम्बन्ध न समझा देनेसे किसी प्रकार उसे वह समझ न सकेगा। अतएव समझा देनेकी आवश्यकता है। किन्तु समझा देनेसे जो शिक्षा मिलती है, वह ठोकर खा सीखना नहीं है, उसका मूल शिक्षाका विश्वास मात्र है। अतएव विश्वासको भी शिक्षाकी एक स्वतन्त्र भित्ति मानना पड़ेगा। जो लोग विश्वासपर शिक्षाका सोपान स्थापन करनेमें नाराज हैं, उनका सब काम तो ठीक प्रकारसे चलता ही नहीं, बल्कि उनकी वृथा चेष्टा द्वारा शिक्षाप्रणालीका बहुत कुछ अङ्ग भङ्ग हो जाता है।

कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानका निदान ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जहीं उपस्थित हुआ जाय वह केवल सुख दुःखके ही विचारमें दिखाई नहीं देता है। उसे सब अपने २ हृदयमें ही पाते है। यद्यपि यह कहा जा नहीं सकता कि, हृदयमें कर्त्तव्यज्ञानका बीज पहले कैसे बोया जाता है, वह कैसे प्रकट हो जाता है, किन्तु कुछ मन लगा कर देखनेसे ही वह समझमें आ जाता है। हम एक सच्चा विवरण कहते हैं,—किसी गृहस्थके घर दो मनुष्य समय समयपर शतरञ्ज खेला करते थे। उनमें एक मनुष्यकी एक डेढ़ वर्षकी बालिका वहीं बैठी रहा करती थी। जब

वह शतरञ्जका मुहरा उठानेके लिये हाथ बढ़ाती, तब उसके पिता उसका हाथ पकड़कर कहते,—"हाथ न लगाना।" कुछ दिन इसी प्रकार होनेपर एक दिन बालिका खेलके नजदीक बैठी थी, फिर उसने अपना दाहना हाथ मुहरा उठानेके लिये आगे बढ़ाया बांये हाथसे उस हाथको पकड़ कर आप ही आप कहने लगी—"हाथ न लगाना।" इस व्यापारसे क्या समझमें आता है? कर्त्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानके अधिष्ठाता हृदयशाली पुरुषका जैसा अभ्युत्थान होता है, इस कामसे क्या उसका स्पष्टाकार दिखाई नहीं देता? बालिका स्वयं ही दो मनुष्य बन गई। उसका एक हाथ शतरञ्जका मुहरा उठानेको तैयार हुआ दूसरे हाथने उसे मना किया। जिसने मना किया, वह उसके हृदयमुकुरमें पिताका प्रतिबिम्ब था।

अतएव विधिनिषेध द्वारा कर्त्तव्यज्ञानका प्रत्येक विधान करना बहुत ही आवश्यक है। ऐसा करनेसे ही संस्कारकी दृढ़ता होती है। केवल सुख दुःखके विचारके ऊपर कर्त्तव्य-बोधका संस्थापन कभी कार्य्य-कालमें दृढ़ नहीं रहता, निष्काम धर्म्मसेवनमें प्रवृत्ति होने नहीं देता और यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता कि विधिका प्रतिपालन करना ही परम धर्म्म है। कर्त्तव्य-बोधकी स्थितिको इस प्रकार संकुचित करनेसे, जिस हिन्दू-धर्म्मने ऐसे ज्ञानके अत्युच्च सोपानपर अधिरोहण किया था, उससे वह स्खलित हो पड़ता है।

---

२८ प्रबन्ध।

सन्तानकी शिक्षा।

बातोंमें कहा जाता है, कि लड़केको मनुष्य बनाना चाहिये। हमें मालूम होता है, यह काम किसी मातापिताके बसमें नहीं। इसके लिये कोई चेष्टा भी नहीं करता। अङ्गरेज अपने लड़केको अङ्गरेज बनानेकी चेष्टा करते हैं और वही कर भी सकते हैं। चीना अपनी अपनी सन्तानको चीना बनानेका यत्न करते और ऐसा ही करते भी हैं। इसप्रकार विभिन्न जातिके लोग अपनी अपनी जातिके विशेष धर्म्म और गुणके द्वारा ही अपने वंशधरगणको विभूषित करना चाहते हैं। कोई मनुष्य साधारण धर्म्मकी ओर दृष्टि रखकर सन्तानका पालन और शिक्षाका सम्पादन नहीं करता। तब भी जो साधारण धर्म्म सब जातियोंमें ही मौजूद हैं, जात्यनुयायिनी शिक्षा प्रदान करते करते उन सभी धर्म्मोंसे सभी जातिके शिशु शिक्षा पाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अतएव सभी देशकी शिक्षाप्रणाली साधारण मनुष्य-धर्म्मकी ओर लक्ष्य न कर जातीय धर्म्मके साधनके उद्देश्यसे ही प्रवाहित होती है। असलमें ऐसा ही हो सकता है और ऐसा ही होना उचित भी है।

ऐसा इसलिये हो सकता है कि मनुष्य मात्रका मन पूर्व्व पुरुषोंके संस्कार और अपने प्रत्यक्षीभूत व्यापार सबके समवायसे संगठित होता है; संस्कार, स्वजातीय पूर्वपुरुषोंसे ही चला आ रहा है; प्रत्यक्षीभूत व्यापारका समधिक भाव भी सजातीय मनुष्योंका कार्य्यकलाप है। इसलिये जातीय भावका परिहार करना मनुष्यमात्रके लिये असाध्य है। जैसे वायुमण्डलको अतिक्रम कर उड़ा जा नहीं सकता, जैसे बिना जलके तैरा जा नहीं सकता, जैसे त्वक्-सीमाके बाहरी भागमें स्पर्शका ज्ञान हो नहीं सकता, वैसे ही जातीयभावसे परिशून्य हो किसी कामका अनुष्ठान भी मनुष्य द्वारा साधित हो नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त समाजके हिताहितके साथ समाजान्तर्गत मनुष्योंका हिताहित है। सब समयोंमें, सब देशोंमें, सभी अवस्थाओंमें, सब समाजका हिताहित एक नहीं। बर्ब्बर, अर्धसभ्य, पूर्णसभ्य प्रभृति विभिन्न समाजका हिताहित अनेकांशमें ही परस्पर विभिन्न है। विजित और विजेता, दुर्ब्बल और सबल, दृढ़ और शिथिल प्रभृति भिन्न भिन्न समाजका हिताहित भी एक नहीं। अभ्युदयोन्मुख और पतनप्रवण जातियोंका हिताहित भी एक नहीं। सुतरां समाजके प्रयोजनके साधनोपयोगी अनुष्ठान भी आप ही भिन्नरूप होते हैं।

समाजके प्रयोजन साधनोपयोगी अनुष्ठान ही प्रकृत शिक्षाके विषय हैं। इसी भित्तिका अवलम्बन कर हम लोगोंकी शिक्षाप्रणाली संस्थापित होती है और यही हम लोगोंकी एकान्त इच्छा है। हम हिन्दू हैं हमारा समाज जिस भावमें है, उससे हम लोगोंके क्या प्रयोजन है? इसीको सुपरिस्फुटरूपसे अवधारितकर, जिसमें हम लोगोंमें बादके पुरुष प्रयोजन साधनमें सहाय हों, उसका ही उपाय कर देना हम लोगोंके लिये प्रकृत शिक्षादान है। मनुष्यत्वका साधन करना एक उदात्त विषय है। मनुष्यत्व क्या है और वह क्या नहीं, तथा क्या हो नहीं सकता, शायद अबतक इस बातको कोई मनुष्य स्पष्टरूपसे समझ नहीं सका है। अतएव क्या करनेसे लड़केकी प्रकृति मनुष्यकी होगी। उसका बिचार न करनेसे लड़का कैसे समाजके अभावको दूर

करनेमें सहाय्य दे सकेगा, इसीपर विचार करनेकी आवश्यकता है। हम इसी विचार की कई बातें उद्धृत करते हैं।

(१) यह स्पष्ट दिखाई देता है, कि पहलेकी अपेक्षा आजकल हिन्दू दुर्ब्बल शरीर हैं। अतएव लड़केको शरीरके सबल बनानेके लिये हम लोगोंको अवश्य यत्न करना चाहिये। बचपनसे ही व्यायामचर्य्यामें उनका मन लगा देना माता पिताका काम है।

(२) हिन्दुओंका इन्द्रियवर्ग यद्यपि स्वभावतः किसी जातिके लोगोंकी अपेक्षा हीन तेज नहीं, तब भी शिक्षाके अभावसे इन्द्रियाँ कितने ही स्थलोंमें प्रकृत विषयकी उपलब्धिसे अक्षम हो पड़ती हैं। दर्शनादि द्वारा दूरता, नैकट्य, संख्या, भाव प्रभृतिका अवरोध हिन्दुओंमें प्रायः ही ठीक नहीं होता। अतएव बचपनसे उन सब विषयोंकी शिक्षा देना माता पिताका काम है।

(३) हिन्दुओंकी स्मृतिशक्ति बहुत ही प्रखर है। जो लोग हिन्दुओं-की निन्दा करते हैं, वे लोग भी इस बातको स्वीकार करते हैं। किन्तु कहते हैं, इनकी धीशक्ति और उद्भाविनीशक्ति उतनी अधिक नहीं। निन्दकोंके साथ विचारका प्रयोजन नहीं। केवल इतना ही कहना बहुत है, कि स्मृति एक स्वतन्त्र मनोवृत्ति नहीं है। मनोवृत्ति मात्रका ही कारणशक्तिका नाम स्मृति है। अर्थात् स्मृतिका अवलम्बन करके ही सब मनोवृत्तियां कार्य्यकारिणी होती हैं सुतरां स्मृतिको प्रखर कहनेसे सब मनोवृत्तियां ही तेजस्विनी समझी जा सकती हैं। किन्तु हिन्दुओंकी मनोवृत्तिके तेजस्विनी होनेसे ही उनकी शिक्षामें एक दोष उत्पन्न होता है। भावोंके परिस्फुट न होनेपर ही हिन्दूका मन उसे ग्रहण करता है—एक बारगी ही परित्याग नहीं करता, इससे कार्य्यकालमें क्षति होती है और कर्मसामर्थ्य भी घट जाता है। इसलिये हिन्दूके लड़केको सिखानेके समय सब भावोंके परिस्फुट होनेके लिये शिक्षक या माता पिताको यत्न करना आवश्यक है।

(४) अन्यान्य मनोवृत्तियां जैसी प्रबल हैं, हिन्दूकी दूरदर्शिता और कल्पनाशक्ति भी वैसी ही है। इसके अतिरिक्त शरीरके दौर्ब्बल्यकी वजहसे हिन्दू भीरुस्वभाव हैं। इन दोनों और अन्यान्य कारणोंसे हिन्दूके लड़कोंमें अनृतवादिताका (झूठ बोलनेका) दोष उत्पन्न हो सकता है। माता पिताको सदा सतर्क रहना चाहिये, जिससे उनमें वैसा दोष आने न पावे। दूरदर्शि-ताके बढ़नेसे ही अनृतवादिताका शासन करना चाहिये। सत्य ही ठहरता

है, मिथ्या कभी ठहर नहीं सकता, यह तथ्य (सत्य) सदा लड़केके हृदयमें जागता रहना चाहिये।

(५) हिन्दू प्रबलतम जातियोंके पदसे मर्दित हो क्षुद्राशय होते जाते हैं। अतएव आशाके वैफल्यवश सन्तानको भविष्यत्में चाहे जितना कष्ट हो, मातापिताका कर्त्तव्य है, कि उसे उच्चाशय सम्पन्न करें। जैसे सान्निपातिक विकारसे ग्रस्त रोगीके लिये धातुउत्तेजक औषधका प्रयोग किया जाता है, वैसे ही हिन्दुओंके मनमें उच्च आशाका उद्रेक करना बहुत ही आवश्यकीय है। ऐसी बातें सन्तानके कानमें पड़नी न चाहिये, कि दोनों समय दो मुट्ठी अन्न मिलनेसे ही काम चलेगा।

(६) हिन्दुस्थानकी वायु सजल और उष्ण है। आजकल हिन्दुओंका शरीर भी दुर्बल है; हिन्दू सहज ही श्रम विमुख हैं। अतएव मातापिताको सचेत रहना चाहिये, जिससे उनकी सन्तान श्रमशील हो। जो हिन्दू श्रमशील हैं, उनका परिश्रम भी दोषशून्य नहीं—एक बार वह खूब मिहनत करते, फिर कुछ भी नहीं कर सकते। ऐसे नियमसे दुर्बल शरीर और भी टूट जाता है। लड़केको ऐसा करने देना न चाहिये। जैसा परिश्रम सहा जा सके, वैसे ही नियमित परिश्रमका अभ्यास कराना चाहिये।

(७) आजकलके हिन्दू निस्तेज होनेके कारण, वे ही एक दूसरेके प्रति ईर्ष्या किया करते हैं। ईर्ष्याका दोष शीघ्र जानेका नहीं। तब भी उसकी बागडोर घुमाई जा सकती है। अतएव ऐसी चेष्टा होनी चाहिये, जिससे वह ईर्ष्या स्वजातीयकी ओर न होकर विजातीयकी ओर प्रतियोगिताके रूपमें परिणत हो जाय।

(८) हिन्दूके स्वभावमें अनुचिकीर्षावृत्ति अनुचितरूपसे प्रबला हो उठती है। इसमें सन्देह नहीं कि अनुकरण उत्कर्षके साधनका एक प्रधानतम मार्ग है। लेकिन अनुचित अनुकरणसे एक तरहका आत्म-हत्याका संघटन हो जाता है। अतएव हिन्दूके हृदयमें आत्मगौरवके बढ़ानेके लिये उपाय करना आवश्यकीय है। पूर्व्वपुरुषोंकी कीर्त्ति याद करनेसे आत्मगौरव उद्दीपित हो जाता है। इसलिये हिन्दूके लड़केको संस्कृतविद्याका स्वाद ग्रहण कराने का विशेष प्रयोजन जान पड़ता है। जब लड़के अङ्गरेजी पढ़ें तब अङ्गरेजी ग्रन्थमें किसी उत्कृष्ट भावको देख उनके मुग्ध होनेपर उस भावके अनुरूप अथवा उससे भी उत्कृष्ट भाव जो संस्कृत शास्त्रमें है, उसे दिखा देना चाहिये।

(९) हिन्दुओंकी सहानुभूति अपने समाजमें वैसी उदात्त नहीं होती। हिन्दू, हिन्दूकी प्रशंसासे यथोचित परितृप्त अथवा हिन्दूके तिरस्कारसे वैसे क्लिष्ट भी नहीं होते। अङ्गरेजोंकी प्रशंसा और अङ्गरेजोंकी निन्दा ही हिन्दुओंमें अधिक है। यह बहुत बड़ा दोष है। इसके प्रतिकार उपाय ढूँढे नहीं मिलता। तब भी यह जान पड़ता है, कि लड़केको हिन्दी भाषाकी चर्चामें कुछ प्रवर्त्तित करना अर्थात् कुछ कुछ हिन्दी ग्रंथोंको पढ़ने देना और जिनमें लिखनेकी योग्यता है, उनका हिन्दीप्रबन्ध लिखना अच्छा है।

(१०) दरिद्रके लिये विलासिता बहुत ही बड़ा रोग है। इस समय हम लोग दरिद्रजातिवाले हैं। हम लोगोंको सुख भोगनेकी चेष्टा अच्छी नहीं। गाना, बजाना, आमोद, प्रमोद, आदि विजयी, धनशाली, प्रबलप्रताप अङ्गरेजोंको शोभा देते हैं; हमलोगोंमें गाना, तमाशा, नाट्काभिनय आदि काम किसी प्रकार शोभा नहीं देते। अतएव सन्तानको विलासी होने देना न चाहिये। जो हमलोगोंमें धनवान् हैं, उनका भी यही कर्त्तव्य है, कि लड़केको बाबुआनेसे बचावें। समाजकी जो अवस्था है, उसके अनुरूप व्यवहार ही समाजान्तर्गत सब लोगोंके लिये ठीक होता है। हिन्दुओंको बहुत ही भार सहना पड़ेगा, कितनोहीको बोझा हटाकर उठना पड़ेगा, सुतरां हिन्दुओंके लिये कठोर शिक्षाभी होनी चाहिये। प्रत्येक परिवारके कर्त्ताको लाइकर्गस बनना पड़ेगा; कारण हिन्दुओंको स्पार्टान करनेके लिये राजकीय लाइकर्गस उत्पन्न न होगा।

बिना वश्यताके एकता उत्पन्न हो नहीं सकती। यहां हम एक कहानी कहते हैं। एक जहाजपर एक अनभिज्ञ नये कप्तान नियुक्त किये गये। कप्तानकी अपेक्षा समधिक अभिज्ञ दो चार मनुष्य उनके अधीन थे। एक दिन कप्तान जहाज चला रहे थे। ऐसे समय उनमेंसे एकने कहा,—"जहाज जिस वेगसे और जिस राहसे जा रहा है, उससे वह एक घण्टेमें एक डूबी हुई चट्टानसे टकरा, आहत होकर विनष्ट होगा।" दूसरेने कहा,—"तब यह बात तुमने कप्तानसे क्यों न कही?" उसने उत्तर दिया,—"कप्तान अपना काम कर रहे हैं, उनकी बात मानना ही हम लोगोंका काम है, उनके बिना पूछे अपने मनसे उनसे क्या कहा जा सकता है?" इस पर किसीने कुछ न कहा। जहाज भी नष्ट हुआ। ऐसी वश्यता पागलपन है। किन्तु हिन्दुओंकी उन्नतिके समय भी ऐसा ही पागलपन था; रामायण और महाभारत पढ़नेवालोंसे वह छिपा नहीं। जिस दिन हिन्दुओंमें फिर वैसा ही पागलपन उत्पन्न होगा, वही दिन हिन्दुओंका शुभ दिन कहा जावेगा।

बहुत दिनोंसे हिन्दू असामरिक हो गये हैं। इसलिये हिन्दुओंमें प्रकृत वश्यता बहुत कम दिखाई देती है। बलवान्के आगे दुर्ब्बलकी जो अधीनता और नम्रता है, उसे वश्यता नहीं कहते। हिन्दू प्रायः ही हिन्दूके वश होना नहीं चाहते। दूसरी जातियोंके वश होते हैं और वही हुआ है। वश्यता भक्ति-मूलक है, भक्ति बचपनसे ही सिखलानीं चाहिये और मातापिता पहीलेसे भक्तिके आस्पद होकर उस भावको अङ्कुरित तथा सम्बर्द्धित कर सकते हैं। जिस हिन्दूने मातापिताका भय और भक्ति सीखी वह हिन्दू नेताके भी वशीभूत हो सकेगा। जो हिन्दू बचपनसे ही माता पिताको मानना नहीं सीखता वह दो चार अङ्गरेजी किताबें पढ़ और लोगोंके मुंहसे दो एक अङ्गरेजी मतवाद सुन पिताको मूर्ख समझता और पिताके सजातीय समस्त हिन्दुओंको ही घृणित समझ अपनेको बहुत बड़ा विचारवान् समझता है।

---

२९ प्रबन्ध ।

गृह-शून्यता ।

स्त्री-वियोग होनेसे ही लोग 'गृहशून्य' कहते हैं। लोग ऐसा क्यों कहते हैं? सचमुच ही स्त्री-वियोग होनेसे घर एक बारगी ही सूना नहीं होता। लड़के, लड़की, भाई, बहन, मा, बाप, सब लोगोंके रहते भी तो मनुष्यका स्त्रीवियोग हो सकता है? तब घरके सबकी अपेक्षा सार पदार्थके जानेकी वजह को कहकर ही लोग कलत्रवियोगके शोकको बढ़ा ऐसी बातें कहते हैं? हमारी समझमें ऐसा नहीं है। स्त्रीवियोग होनेसे घर सचमुच ही सूना हो जाता है अर्थात् ऐसा ही विचार करके चलना पड़ता है, कि घर सूना हुआ। जगतमें सबकी अपेक्षा अपना कहनेके लिये स्त्रीके अतिरिक्त और कोई नहीं। मा या लड़के, इन लोगोंको तुम्हारे अतिरिक्त दूसरेका भी सहारा रहता है, किन्तु स्त्रीके लिये तुम्हीं सर्व्वस्व हो। स्त्रीके साथ ही तुम्हारा भी धर्म्म, आमोद, प्रमोद, सब है। इसीसे शास्त्रकारोंने नियम बनाया है, कि स्त्रीवियोग होनेसे संसाराश्रममें रहना न चाहिये। वानप्रस्थाश्रमका अवलम्बन करना चाहिये। स्त्रीके मरने पर घरमें न रहो, बनमें जाओ और तपश्चरण करो।

किन्तु आजकल बन जाना सम्भवपर नहीं है। बन भी पूर्व जैसा सघन-बन नहीं। शरीरका अभ्यास भी पहले जैसा नहीं। धर्म्म कार्य्यकी

प्रकृति भी इस समय पहलेकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। ये सब परिवर्त्तन होनेपर भी हमारे विचारसे शास्त्रोक्त उपदेशके मूल तात्पर्य्यमें कुछ भी व्यत्यय नहीं हुआ है। शून्य गृहमें रहना न चाहिये, बाकी जीवनकाल धर्म्म कार्य्यमें बिताना चाहिये।

गृहशून्य मनुष्य यदि संसारी होकर रहें, तो वह देखेंगे, कि धीरे धीरे उनके धर्म्मकी हानि होगी। वह जिसे हर तरहसे अपना समझते थे, उसे सबसे अधिक पराया पाएँगे। वह अपने व्यथित, विच्छिन्न और विदग्ध हृदयसे जिन पर स्नेह करेंगे, उनमेंसे कोई भी पूर्णमात्रासे उस स्नेहके प्रतिदानमें समर्थ न होंगे। वह अपना प्रीतिसर्व्वस्व उन्हें उपहार देंगे, किन्तु वे कोई उन्हें सर्व्वस्व न देंगे। उनमेंसे किसीको भी अधिकार नहीं, कि वह उन्हें सर्व्वस्व दान करें।

ऐसा देखकर भी क्या उनका हृदय सरस रहेगा? क्या उनका मन कड़वा न हो जायेगा? अवश्य ही नीरस और कड़वा होगा। वह क्रम क्रमसे कठिन हृदय, स्वार्थपर अथवा विरक्तचित्त तथा क्रोधन-स्वभाव हो जायेंगे। तब गृहशून्य मनुष्यका गृहाश्रममें रहना कैसे धर्म्मोन्नतिके अनुकूल होगा? जो धर्म्मोन्नतिके अनुकूल नहीं, वह कैसे सुखका कारण हो सकता है? फलतः गृहशून्य मनुष्यके लिये गार्हस्थ्यका अवलम्बन करके रहना धर्म्महानि और दुःखका कारण है। जो शून्यगृहमें रहते हैं उनके कार्य्यकलापमें भी बहुत विपर्य्यय होता है। हरेक काममें कुछ कटुता और कुछ मधुरताका प्रयोजन है। भय और मैत्री, दोनोंहीके सम्मिलित न होनेसे किसीसे भी अच्छी तरह कोई काम कराया जा नहीं सकता। कटुता और मधुरता, भय और मैत्री ये ऐसे परस्पर विरुद्ध पदार्थ हैं, कि इनका एकत्र सन्निवेश कुछ विशेष चेष्टा करनेसे ही होता है। जबतक दोनों मनुष्य हैं, तबतक एक भय और एक प्रीतिके आधारस्वरूप होकर बहुत ही सुचारुरूपसे घरका काम चलाते हैं। किन्तु एकके न रहनेसे दूसरेको विभिन्न दो मूर्त्तियाँ धारण करनी पड़ती हैं। उनको धारण करना कोई सहज काम नहीं; सहज न होनेके कारण ही काम करना कठिन हो पड़ता है।

इसके अतिरिक्त कामके सङ्कोचका और भी एक कारण उपस्थित होता है। समझ लो, तुम घरके मालिक हो, तुम कुटुम्बके केन्द्रस्वरूप हो, तुम्हें घेर कर ही तुम्हारे घरके सब लोग यथावत् अवस्थित हैं। ऐसे समय तुमने गृहिणीको खो दिया। सुचारु विचार पूर्व्वक देखनेसे ही तुम समझ सकोगे, कि अब तुम्हारा

मालिकपन अक्षुण्ण नहीं है। तुम कुटुम्बके केन्द्रीभूत रह नहीं सकते। सब परिस्थिति सञ्चालित हो भिन्नरूप धारण कर रही है; तुम स्वस्थानसे भ्रष्ट हुए। क्या तब भी तुम केन्द्र बनकर रहना चाहते हो? रहो, किन्तु कुछ ही दिनमें तुम देख सकोगे, कि तुम्हारी बातोंमें वैसा बल ही नहीं है। सभी लोग तुम्हारी बातें सुनेंगे, जो कहोगे, वही करेंगे, किन्तु पहले तुम्हारी आज्ञा जैसे ईश्वरकी आज्ञाके समान सर्व्वदोषशून्य व मङ्गलमय जानी जाती थी, वैसी फिर न जानी जायगी। वह आज्ञा दोषगुणसे मिश्रित हो विचारके साथ चलेगी। पिताके मनका अब कोई ठिकाना नहीं, किन्तु उन्होंने जो कहा है, उसे करना ही पड़ेगा, परन्तु यदि ऐसा न कह वे ऐसा कहते तो अच्छा था। परिजनोंके मनका भाव इस प्रकार बदल जाने पर भी, क्या स्वतः प्रवृत्त हो किसी कामके करने-करानेकी इच्छा होगी? यदि कामकी ही इच्छा सङ्कुचित हुई, तब एकाग्रचित्त हो कैसे कोई काममें लग सकता है? यदि काममें न लगा रहे, तो जीवनका ही सुख कैसे रहेगा?

गृहशून्य मनुष्यके सामान्य भोगसुखमें जो व्याघात होता है, उसे वह कहनेकी अपेक्षा नहीं करता। तथापि हम एक उदाहरण दे इसे स्पष्ट दिखाते हैं। खानेका प्रधान सुख क्या है? बहुत ही सुस्वादु पदार्थके भी गलेके नीचे उतर जाने पर फिर उसका स्वाद ज्ञान नहीं पड़ता और उदरपूर्त्तिका सुख पदार्थके गुणागुणपर निर्भर नहीं करता; एक दूसरा मनुष्य तुम्हारी भोजनतृप्तिसे तृप्त होता है, इसी ज्ञानसे भोजनका प्रधान सुख मिलता है। स्त्रीके न रहने पर फिर वह सुख नहीं रहता। लड़के, लड़की, बहिन प्रभृति परिजनगण खाद्य सामग्री ठीक होती है कि नहीं इसको देखते हैं, खिलानेके समय सामने बठते हैं, किन्तु खाते देख सुखी होनेके लिये वे लोग तुम्हारे पास नहीं बैठते। वे भलमनसियत समझ तुम्हें खिला देते हैं। जैसी भलमनसियत समझ वे लोग आते हैं, वैसे ही तुम भी उनके आगे सन्तोष प्रकाश करते हो। इससे भलमनसियतकी कटाकटी होती है और दया एवं कृतज्ञताका आदान प्रदान चलता है। वे लोग अपना कर्त्तव्य कार्य निबाहते हैं, तुम भी उनपर अधिक भार देनेकी इच्छा नहीं करते। तुम फिर खानेकी फरमाइश नहीं करते, अथवा यदि करते भी हो तो दूसरेका नाम लेकर। अपने खानेकी बात कहना बहुत ही लज्जाकर है। कलत्रविहीन गृहस्थ बहुत ही निमन्त्रणपटु होते हैं। उन्हें सदा निमन्त्रणकरके लोगोंको खिलानेका शौक़ रहता है। ऐसा

करनेसे वे घरकी नौकरानी व बहुओंको बहुत ही हैरान करते हैं। बार बार निमन्त्रण दे खिलानेका और एक कारण भी है। किन्तु जिस कारणका उल्लेख किया गया, वह भी कुछ न कुछ अवश्य है।

बिना कहे पहले हीसे मनकी बात जानकर काम करनेका सामर्थ्य एक उसका ही है और किसीका नहीं। "तुम्हारे मनमें ऐसा था। तुमने खुलकर कुछ न कहा, मैं कैसे समझूँ?" यह बातें सभीके लिये फवती हैं। केवल स्त्रीके लिये नहीं। स्त्रीको मनकी बात समझनी ही पड़ेगी। मनकी बात न समझ सकनेसे स्त्रीकी गलती पकड़ी जा सकी है और इससे स्त्री भी बहुत ही दुखित होती है; परन्तु अन्य किसी लिये यह गलती नहीं है।

कितने ही योग्य सुसन्तानके पिताने कुछ दुःखकरके कहा है,—"महाशय! लड़कोंका कोई दोष नहीं। वे सब बहुत ही आज्ञा उठानेवाले हैं। यदि मैं कहूँ, तो वे बाघिनका दूध भी ला सकते हैं; किन्तु मैं जो कितनी ही बातें नहीं कहता और कह नहीं सकता, वे इस बातको नहीं समझते।" यह ठीक है। कितनी ही बातें कही नहीं जातीं और बातें करते करते बातोंको समझ सके ऐसा एक व्यक्तिके सिवाय दूसरा नहीं होता। ऐसी अवस्थामें गृहवासमें क्या आमोद है?

तब क्या करूँ? घरमें रहना न चाहिये और वनमें जा तप-जप करनेका समय नहीं है। इस प्रश्नका उत्तर देना बहुत ही कठिन है। अवस्था भेदसे इस प्रश्नका उत्तर भिन्न-भिन्न होगा। साधारणतः यह बात कही जा सकती है कि जितना हो सके कुटुम्बसे विच्छिन्न हो रहना चाहिये। कुटुम्बमें अकेले रहना न चाहिये। केवल उपदेश, परामर्श और साहाय्यदान करके ही निवृत्त हो जाओ। कोई अन्याययुक्त व्यवहार करे तो विरक्त हो उसका दण्डविधान करनेपर उद्यत न हो। केवल इतना ही समझा दो, कि यह काम अच्छा नहीं हुआ और किस कारण अच्छा नहीं है। जहाँतक हो सके वीतराग और फलकामनाविहीन हो कार्य करो। लड़के की बीमारी सुन उसके प्रतिविधानके लिये जो आवश्यक समझो, कहला भेजो। प्रयोजन हो, तो स्वयं उसके पास जाओ, चिकित्सा कराओ, किन्तु उसके आरोग्यता प्राप्त करनेपर क्षणभर भी उसके पास न रहो। फिर जैसे दूर थे, वैसे ही दूर रहो। कुटुम्बियोंके साथ केवल इतना ही सम्पर्क रक्खो। स्वप्नमें भी ऐसा न समझना, कि कुटुम्बियोंके साथ रहकर तुम सुखी हो सकोगे। इस प्रकार रह सकनेसे वनमें न जानेपर भी वानप्रस्थाश्रमका

शुभ फल हो सकता है। परिजनों (आत्मीयों) के प्रति अभिमानी न होना, मन यथासम्भव सरस रहेगा और धीरे धीरे मनकी उदारताके बढ़ानेका उपक्रम होगा।

मनुष्यका मन विना स्नेह-विस्तार किये रह नहीं सकता। जीवन रहनेसे ही स्नेह करना पड़ता है, दूसरोंके साथ सम्बद्ध रहना पड़ता है। लतिकाके सजीव रहनेसे ही आकर्षण निकलता है। विशेषतः, जो मनुष्य गृहस्थाश्रममें रह कर एक वार पवित्र प्रीतिरससे अभिषिक्त हुए हैं, उनका मन बहुत ही कोमल हो गया है। वह मन प्रणय पदार्थकी सृष्टि किये विना रह नहीं सकता।

किन्तु उस सृष्टिके व्याघातक दो कारण हैं। एक तो जो कोई उनका प्रीतिपात्र बननेके लिये सामने उपस्थित होता है, उसके अनित्य, अस्थायी और क्षणभङ्गुर होनेके कारण उसके प्रति विश्वास करनेमें त्रुटि होती है एवं विश्वासके अभावसे प्रीति उत्पन्न नहीं हो सकती। द्वितीय कारण उसका अभिमान है। "मैं चाहे जितना ही क्यों न स्नेह करूँ, वह मनुष्य उसका पूरा प्रतिदान न कर सकेगा। तब हमारे स्नेह करनेका कारण ही क्या है?" यह भाव भी प्रीति-सञ्चारमें व्याघात पहुँचाता है।

जहाँ ऐसी अनास्था या अभिमान उत्पन्न न हो सकेगा और जहाँ क्षणभङ्गुरता अथवा अकृतज्ञताका सन्देह न उठेगा, ऐसे स्थलमें स्नेहके सञ्चारित होनेमें कोई प्रतिबन्धकता नहीं है।

गृहशून्य और कर्त्तव्यपरायण मनुष्योंके हृदयमें स्वदेशवात्सल्यही बल है और ईश्वरपरायणताही बल है, ऐसे भाव बहुत ही प्रबल हो सकते हैं। आजकल जिनको ऐसा हुआ है, वेही वास्तवमें गृह-शून्य होकर तपश्चरणमें प्रवृत्त हुए हैं।

---

३० प्रबन्ध।

द्वितीय विवाह।

" And such was she "—'वह स्त्री भी ऐसी ही थी'—अर्थात् जो स्त्री मर गई, वह तुम्हारी जैसी या इनकी ही जैसी थी। यह बात कौन कह सकता है? हमारे विचारसे अङ्गरेजलोग ऐसा कह सकते हैं। उन लोगोंका विवाह अधिक उम्रमें होता है, देह और मनको जैसा होना चाहिये, वैसा ही परिपक्व हो जाने पर वे लोग स्वच्छन्द हो विवाह करते हैं, अतएव उन लोगोंने जैसी एक देखी थी, वैसी ही दूसरी भी वे लोग देख सकते हैं।

किन्तु हमलोगोंको तो वह भी ऐसी ही थी, यह कहनेका सामर्थ्य नहीं है। 'तुम या वह ठीक वैसी ही है' यह बात हम किसे कहें? और कोई क्या हमारे हाथकी घड़ी, देहमें मली या मनमें बसी हुई चीज है? हम दोनोंका बचपनमें मिलाप हुआ था, मैंने उसे अपने मनके अनुसार बना डाला था और मैं भी उसके मनके अनुसार हो गया था। सुतरां वह जो थी, अपने ही समान थी और हमारे मनके अनुसार भी थी। दूसरी कोई वैसी हो नहीं सकती। और कोई उससे अच्छी हो, तो हो, किन्तु वैसी हो कैसे सकती है।

शास्त्रकारगण इस विषयको समझते थे इसीलिये जहाँ उन लोगोंको सच्चे प्रेम और एकसे अधिक दारपरिग्रहका वर्णन एक साथ करना पड़ा है, वहाँ उन्होंने एक कौशलका अवलम्बन किया है। उन्होंने नायक नायिकाके मनमें इस भावकी कल्पना कर दी है, कि जो मरी थी, यह वही है। दक्षकन्या सती ही हिमालय-कन्या उमाके नामसे उत्पन्न हुई हैं, महादेवने ऐसा ही जानकर द्वितीय दारपरिग्रह किया था। श्रीकृष्ण यही जानते थे, कि व्रजेश्वरी राधिका, रुक्मिणी देवीके शरीर में विलीन हैं। रतिदेवी भी प्रद्युम्नको पुनरुज्जीवित मदन जानती थीं। हमारे किसी मित्रने एक दिन बातों बातोंमें कहा था, कि "हमारी पहली स्त्री ही यह द्वितीया होकर आई हुई है ऐसा समझ सकने पर मुझे सुख होता है।" यह बात यथार्थ है। वैसा प्रेम दो बार नहीं होता और दो स्त्रियोंपर भी वैसा प्रेम नहीं होता। जो प्रेम करता है उसने 'एकमेवाद्वितीयं' इस वेद वाक्यको समझा है। इसलिये अद्वैतवादी पवित्रमना मनुष्यके लिये द्वितीय दारपरिग्रह असम्भव है।

जो संन्यासी हुआ है, वह क्या फिर गृहस्थ हो सकता है? यदि हो भी, तो वह यथार्थमें आश्रमभ्रष्ट है। सामान्य युक्तिके द्वारा भी देखो, जो मर गई है, उसको याद करना ही होगा। यदि उसको भूल सको, तब तुम क्या नहीं कर सकते? और जिसे ग्रहण किया है, उसके अतिरिक्त और किसीको भी तो ध्यानमें नहीं लाना चाहिये और उसको याद करना ही पड़ेगा। अतः दूसरी बार विवाह करनेसे महासङ्कट हुआ। एक ओर, याद करना ही पड़ेगा और दूसरी ओर, याद करना नहीं चाहिये। इन दोनोंमेंसे जिस किसी पक्षका भी अवलम्बन किया जाय, उससे कर्त्तव्यमें त्रुटि होगी, ध्यानमें व्याघात उपस्थित होगा और पवित्रता विनष्ट होगी।

ऐसा विचारकर देखनेसे कोमत (Compte) का मत ही ठीक जान

पड़ता है। उन्होंने कहा है—स्त्री या पुरुष, कोई भी एक बारसे अधिक विवाह न करे। हमारे शास्त्रमें भी कहा है—पहला विवाह ही संस्कार है, उसके बाद का दूसरा विवाह संस्कार नहीं कहाता।

हम एक सच्चा विवरण कहते हैं। हमने अपने जिन मित्रकी बातें पहले कही है, वे एक विज्ञ और विशुद्धमना पुरुष हैं। उन्होंने यह नियम बना रखा है, कि उनकी पहली पत्नीका जिस दिन वार्षिक श्राद्ध होता है, उस रातमें वे अकेले सो कर पहली स्त्रीका ध्यान करते हैं। द्वितीयाके शयनागारमें नहीं जाते हैं। किन्तु द्वितीयाके वस्त्रालङ्कारादि द्वारा सम्पूजिता, सब तरहसे गृहिणीके पद पर प्रतिष्ठिता और यथोचितरूपसे समादृता होने पर भी वर्षमें इस एक रातको ऐसा व्यवहार होता है इसके लिये वह बहुत ही अभिमानिनी (नाराज) हुआ करती है। यहाँतक अभिमानिनी (नाराज) होती है; कि उस समय अधीरा हो स्पष्ट कहती है—"यदि उन्हें भूल ही न सकोगे, तो मुझसे विवाह क्यों किया ?" उस अभिमानिनीका अभिमान क्या अन्याय्य है ? हमारे विचारसे अन्याय्य नहीं है। विना पूरे अधिकारके प्रणय-प्रवृत्तिका परितोष नहीं होता है।

हम यह भी नहीं समझ सकते, कि जो लोग एक स्त्रीका वियोग होनेपर दूसरा विवाह नहीं करते, उन्हें क्या सुख होता है। हमारी माताके वार्षिक श्राद्धके दिन पिताकी थालीमें दो हिस्सोंमें दोके खानेको अन्न और व्यञ्जन परोसा जाताथा। वे भोजन करनेको बैठते थे किन्तु वे अपना भाग भी पूरी तरहसे खा नहीं सकते थे। आँखें डबडबा आती थीं, शोकावेगसे पेट भर जाता था। मातृदेवीके लोकान्तरमें जानेपर भी पिताजी पचीस वर्ष तक जीवित थे। हमने बराबर उन्हें ऐसा ही देखा। इससे जान पड़ा, कि समय बीतनेपर भी शोक नहीं घटता। पिताने जिस दिन देह त्याग किया, उस दिन कहा था,—"मुझे गङ्गायात्रा कराओ, वह, इतने दिन बाद मुझे लेने आई है। मैंने फिर उसे देख लिया।" परलोकके अस्तित्वके विषयमें पिताको पूरा विश्वास था। तब भी उनके उल्लिखित वाक्योंमें—"इतने दिन बाद मैंने फिर उसे देखा है" इसका क्या मतलब है ? उन्होंने जो अन्त तक वियोगकी यन्त्रणा भोगी थी, यही ज्ञान पड़ता है। अतएव द्वितीय दार-परिग्रहसे दुःख है एवं अपवित्रता है और अपरिग्रहसे केवल दुःख है, सुख किसी प्रकारसे भी नहीं है—यह स्थिर सिद्धान्त है।

तब सुख कैसे हो सकता है ? सो किसी समय हमारे मनमें जैसा आया था, उसे हम कहते हैं। हमें शिकारके लिये शौक़ हुआ। छर्रोंसे भरी बन्दूक हाथमें ले हम चिड़िया मारने चले। देखा, कि एक पुष्करिणीके किनारे एक वृक्षकी डाली पर ही दो चिड़ियाएँ पास पास बैठी हैं। हम बन्दूक छतिया रहे थे कि ऐसे समय एक चिड़िया उड़ गई। दूसरी कुछ देर बैठी रही। किन्तु हम बन्दूक छोड़ न सके। एक ही फायरमें यदि हम दोनोंको मार सकते तभी तो मारते। मन ही मन हमने यमराजसे कहा, कि हम दोनों दम्पतीको भी एक साथ ही मारना। यदि यम यह प्रार्थना सुनते तो हमको सुख होता।

---

३१ प्रबन्ध।

बहुविवाह।

इससे पहले प्रबन्धमें जो लिखा गया है, उसे पढ़नेसे यह प्रस्ताव बिलकुल ही असम्भव जान पड़ेगा। जब एक स्त्रीके मरनेपर भी दूसरी स्त्रीसे विवाह करना अवैध है, तब एक स्त्रीके मौजूद रहते, दूसरी स्त्रीके पाणिग्रहणकी बात कही नहीं जा सकती। वास्तवमें ऐसा ही है भी। तब भी क्षणभरके लिये विचारकर देखनेमें दोष ही क्या है ?

क्या एक पुरुषको एकसे अधिक स्त्रियाँ चाह नहीं सकतीं ? चाह सकती हैं। क्या एक पुरुष एकसे अधिक स्त्रियोंको चाह नहीं सकता ? यह भी हो सकता है, किन्तु यह चाहना, वैसी चाहना नहीं है।

वास्तवमें प्रेमका क्रम है, इसमें विलक्षण तारतम्य है। प्रेम ऐसा है, जिसके लिये सब छोड़ दिया जाता है। हम जिससे प्रेम करते, उसको भी उसकी भलाईके लिये छोड़ सकते हैं, यह प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। इस पवित्र प्रणयाग्निमें स्वार्थपरताकी पूर्णाहुति हो जाती है। इससे आत्मविलोप उत्पन्न होता है। उसके सुखमें ही हमारा सुख नहीं है। उसका सुख ही सुख है। युधिष्ठिरने स्वर्गमें प्रवेश करनेसे पहले इस प्रेमका उदाहरण दिखाया था। उन्होंने अपनी समस्त पुण्यराशि एक ब्राह्मणको अर्पण कर दी थी।

सेण्टपालने भी इस प्रेमका प्रमाण दिखाते हुए कहा है—" मेरी इच्छा होती है, कि अपने माता पिता प्रभृतिके उद्धारके लिये मैं स्वयं नरकगामी होऊँ।" और एक प्रकारका प्रेम है, वह यह, कि उसके लिये मैं सब छोड़ सकता

हूँ, किन्तु उसे छोड़ नहीं सकता। यह प्रेम पहले प्रेमकी अपेक्षा निकृष्ट है। तब भी यह बहुत सामान्य पदार्थ नहीं है। यह पूरे आत्मविलोपका पूर्ववर्त्ती भाव है। संन्यासी होना, घरसे बाहर निकल जाना, धिक्कार, लांछना और अपमानको तृणवत् समझना, यह सब काम ऐसे ही प्रेमसे होते हैं। और भी एक प्रकारका प्रेम है, जिससे आप ही आप किसीके भी विसर्जन करनेकी इच्छा मनमें नहीं होती; किन्तु किसी प्रकार किसीके कहनेपर किसी कामके लिये असम्मत भी नहीं होते। दूसरेके लिये रुपये खर्च करना व परिश्रम स्वीकार करना, उक्त प्रेमका यह एक साधारण स्थल है। और एक ऐसा प्रेम है, कि हम जिससे प्रेम करते हैं, उससे बिना मिले क्षोभ दूर नहीं होता, अभाव नहीं मिटता और अपना सुख पूर्ण नहीं होता। वह सबसे निकृष्ट है, यह केवल प्रवृत्तिका उत्तेजक मात्र है। किन्तु यह भी प्रेम है, सुतरां अच्छा पदार्थ है। तब भी इससे स्वार्थका प्रथम संस्कारमात्र होता है, यह स्वार्थको परार्थके अन्वेषणमें प्रवृत्त करता है और स्वार्थको विस्तृत करता है। स्थूलस्वरूप इन चार प्रकारके प्रेमोंमें जो नर-नारी प्रथम दो प्रकारके भुक्तभोगी हैं, उनके लिये द्वितीय परिणय या बहुविवाह, कोई भी सङ्गत नहीं है। तृतीय और चतुर्थ प्रकारके प्रेममें द्वितीय परिणय तो चलता ही है, बहुविवाह भी असाध्य नहीं होता है।

फलतः जिस प्रकारसे धर्म्मचर्चामें है, वैसे ही प्रेमचर्चामें भी अधिकारी-भेदसे व्यवस्था भेद है। सभी नर-नारी अद्वैतवाद ग्रहण नहीं कर सकते। जो नहीं ग्रहण कर सकते, उनका प्रेमके उच्चोच्च सोपानपर चढ़ना प्रायः असाध्य होता है। इसलिये एकसे अधिक विवाह धर्मका व्याघातक है। जिनका एकसे अधिक विवाह होता है, उन्हें प्रायः चिरजीवन ही प्रणयोन्नतिके निम्नवर्त्ती सोपानपर रहना पड़ता है। उनकी स्वार्थपरताका पूरा संशोधन नहीं होता। वे यावज्जीवन पश्वाचारी रहते हैं कभी वीर या दिव्यभावके अधिकारी नहीं होते।

किन्तु हम यहीं तक कह कर शान्त नहीं रह सकते। और भी एक विषय विचारणीय है। जगत्में एक ऐसा महदाश्चर्य्यका विषय यह है, कि इसका कार्य्य सब ही परस्पर संश्लिष्ट है, एकसे दूसरेमें परिणत है, किन्तु कुछ भी सम्यक् स्वतन्त्र नहीं है। जो बहुत ही उच्च है, वह भी नीचसे बिलकुल पृथग्भूत नहीं है। देखो, मनुष्यमें अव्यूढ़ जड़ पदार्थका धर्म्म, उद्भिद्का धर्म्म,

पशुका धर्म्म और मनुष्यका धर्म्म, ये चारों ही धर्म्म एकत्र मिले हुए हैं। पशुमें जड़ धर्म्म, उद्भिद् धर्म्म और पशु धर्म्मका समावेश है। केवल मनुष्य धर्म्म नहीं है। उद्भिद्में जड़ धर्म्म और उद्भिद् धर्म्म है; अन्य दोका अभाव है। जड़में केवल जड़त्व ही विद्यमान है। फलतः जगत्के सब विषयोंमें ही ऐसा है। उत्कृष्टके भीतर निकृष्टका अवस्थान है। हम लोगोंका मनोभाव भी इस नियमसे अलग नहीं है। प्रणयके जो चार प्रकारके भेद बताये गये हैं, उनमें यही नियम विराजमान हैं। सर्व्वोच्च प्रणयभावके भीतर अन्यान्य तीनों भाव वर्तमान हैं। तृतीयमें नीचेके दो हैं, और द्वितीयमें उसके भी नीचेका है, ऐसा ही समझ लेना चाहिये।

उल्लिखित तत्वके प्रति लक्ष्य न रखनेसे प्रणयपदार्थकी यथार्थ प्रकृतिका अवबोध नहीं होता है, प्रणयपरीक्षामें नाना प्रकारके भ्रम होनेकी सम्भावना होजाती है और प्रेमियोंके परस्परके व्यवहारमें भी दोष और मन ही मन सन्देह उत्पन्न हो सकता है।

हमारी समझमें एकत्वमें अनेकत्वके समावेशका प्रयोजन है। सौंदर्य्यका एक प्रधान उपादान अनेकत्व है। एक ही सूर्य्य प्रतिदिन निकलते और प्रतिदिन अस्त होते हैं। किन्तु दो दिनकी शोभा ठीक समान नहीं होती। मानस आकाशके सूर्य्यको भी ऐसा ही करना पड़ता है, एक फिर भी एक हो नहीं सकता। गायत्रीदेवी तीन सन्ध्यामें तीन रूप धारण करती हैं; एक रूपमें ध्यानगम्या नहीं होतीं। सदा एक ही प्रकार, सब विषयोंमें ही समान भाव और सब बातोंमें ही एक प्रकारका उत्तर कभी अच्छा नहीं लगता। बिलकुल ही मिट्टीके पुतलोंसे स्वामी वशमें नहीं आता, बिलकुल ठण्डे दिलवाले पुरुषगण भी कामिनियोंका चित्तरञ्जन कर नहीं सकते।

जो पुरुष एक अपनेमें और अपनी एक पत्नीमें अनेकत्वका समावेश कर नहीं सकते, वे पवित्र प्रणयबीजके यथायोग्य पोषणमें अशक्त हैं। उनके वृक्षके मूलमें कीड़े लग जाते हैं, वृक्ष कभी यथोचित रूपसे बढ़ नहीं सकता; और परिणाममें वितृष्णारूप फल उत्पन्न कर सकता है।

---

३२ प्रबन्ध।

वैधव्य व्रत।

यह न कहनेसे भी चल सकता है, कि जब पुरुषोंके लिये द्वितीय दार-परिग्रह धर्म्मव्याघातक है, तब स्त्रियोंके लिये भी द्वितीय विवाह अविधेय है। जिन जिन कारणोंसे पुरुषोंका द्वितीय विवाह अनुचित है, स्त्रियोंके लिये वेही कारण हैं। इसके अतिरिक्त स्त्रियोंके द्वितीय विवाहमें कई विशेष दोष हैं। किन्तु हम उन सब विचारोंमें प्रवृत्त नहीं होते। हमने कहा है कि पुरुषोंका भी द्वितीय बार विवाह करना अनुचित है। हमने कहा है कि गृहशून्य मनुष्य स्वदेशवत्सलके रूपमें हो या वह ईश्वरपरायण हो तपश्चरण करे। इस समय देश और समाजकी जैसी अवस्था है, उससे हम केवल इतना ही कहेंगे, कि विधवाको क्या करना चाहिये और परिवारके सब लोगोंको विधवाके प्रति कैसा भाव रखना चाहिये।

वैधव्य एक बहुत बड़ा व्रत है। यह व्रत दूसरेके लिये आत्मोत्सर्ग है। आत्मोत्सर्ग व्रतका अनुष्ठान कुछ न कुछ सबको ही करना पड़ता है। कोई जान सुनकर करते और कोई न समझके करते हैं; कोई थोड़ा करते और कोई अधिक करते हैं; किन्तु इसे सभी लोग किया करते हैं। तब भी दूसरेके लिये इस व्रतकी शिक्षा और इसका पालन धीरे धीरे निर्व्वाहित होता है; इससे इसके क्लेशका अनुभव कम होता है; स्थलविशेषमें कोई क्लेश नहीं होता। विधवाके लिये इस व्रतका भार एक बारगी ही भारी पड़ जाता है। इसलिये वह विकल होजाती है। यहांतक विकल होजाती है कि वह समझही नहीं सकती कि वह कैसे महत् व्रतमें व्रती हुई। वह समझती है कि 'मैं जन्मभरके लिये गई'। वास्तवमें वह अपने लिये जन्मभरके वास्ते जाती है। वह एक बारगी ही उदासिनी, सर्व्वत्यागिनी, ब्रह्मचारिणी बन जाती है।

ब्रह्मचारी, सर्व्वत्यागी, उदासीन मनुष्योंके प्रति जनसाधारणका कैसा भाव है? सभी लोग संसार विरागियोंके प्रति अकृत्रिम भक्ति और अविचलित श्रद्धा किया करते हैं। विधवा भी वैसी ही भक्ति और श्रद्धाकी पात्री हैं। परन्तु एक बात है। जो ज्ञानपथावलम्बी हो संसारके प्रति बहुत ही तितिक्षाकी वजहसे संसारत्यागी होते हैं, उनके मानसिक बल और दृढ़ताके प्रति जितनी भक्ति होती है, सांसारिक दुःखसे परितप्त, दैव दुर्घटनासे उत्तेजित हो

संसार त्याग करनेवाले पर उतनी प्रगाढ़ और विशुद्ध भक्ति नहीं होती; उनके प्रति जो भक्ति होती है उसमें कुछ दया भी मिली रहती है। हमें मालूम है कि श्रीकाशीधाममें एक बहुत ही पवित्रात्मा मनुष्य थे, जिन्होंने पहले केवल दैव विडम्बनावश ही संन्यासधर्म्म ग्रहण किया था। उनके पढ़नेके समय ही पुत्रकलत्र मर गये थे। उसी दुःखसे उन्होंने गृहस्थाश्रमको परित्याग किया था। फिर योगाभ्यास और अन्यान्य तपश्चरण द्वारा सब लोगोंके प्रति अगाध प्रीति सम्पन्न, बहुत सदालापी, मधुरभाषी और परोपकार परायण हो सभीके लिये प्रीति भक्ति और विश्वास भाजन बने। ऐसे महापुरुषही विधवाओंके लिये आदर्श रूप हैं। उन्हींकी तरह दैवविडम्बनाकी वजहसे सन्यासाश्रमग्रस्त विधवाओंका भी कर्त्तव्य है कि वे आत्मदान और परोपकार व्रतके पालन द्वारा अपनेको शुचि, शान्त और सुखी बनायें।

जिस परिवारमें कोई स्त्री विधवा हो गई हो, उस परिवारके कोई मनुष्य विधवाकी प्रकृत अवस्थाको क्षणभरके लिये भी न भूलें। उस घरके स्त्री-पुरुष सबको ही याद रखना चाहिये कि विधवा दैवदुर्विपाकवश बहुत ही कठोर ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण किये हुई है। दैवविडम्बनावश ही उसने कठोर व्रतावलम्बन किया है, अतएव वह बहुत ही दयाकी पात्री है। उसने ऐसा उच्च व्रत धारण किया है, अतएव विशेषरूपसे उसपर भक्ति करनी चाहिये। विधवाके प्रति ऐसे ही मिश्रभावका अवलम्बन कर चलनेसे उसकी तपस्यामें बहुत कम विघ्न पड़ेगा, उसका अशन वसनके निमित्त उत्पन्न क्लेश बहुत कुछ कम होगा और उसके हृदयमें जैसे जैसे आत्मगौरवका प्राधान्य बढ़ेगा, वैसे ही वैसे उसके शम दमादिके व्यापार सुकर होते जायेंगे।

परिवारस्थित विधवाके पालनमें कर्त्ताके किसी प्रकार लापरवाह होनेसे काम न चलेगा। विधवायें जिस व्रतकी व्रती होतीं, उससे उम्र और अवस्था के भेदसे उनकी प्रकृति भिन्न हो जाती और उनके सुपालनके लिये विभिन्न रूपके व्यवहारोंका भी प्रयोजन होता है। एक प्राचीन या प्रौढ़ा ससन्ताना विधवा होती हैं, उन्हें सब प्रकारके धर्म्मकार्य्योंका अनुष्ठान करने देना चाहिये; तीर्थादिके दर्शनकी इच्छा हो तो करने देना चाहिये, बिना इनकी सलाहके सांसारिक काम करना न चाहिये। इनसे जो कुछ कहना हो, वह घरके मालिक स्वयं कहें। नौकरानी या बहूसे कभी न कहलायें। विधवा माताको स्त्रीके मुँहसे कुछ कहला कितने ही युवा पुरुषोंने मातृस्नेह खो दिया है।

पहले ही ऐसा उपाय करना चाहिये, जिससे विधवाके सन्तानगण घरके समवयस्क और समवयस्का अन्यान्य पुत्र कन्याओंके साथ दृढ़रूपसे सौहार्द्दके बन्धनमें सम्बद्ध हों। द्वितीय, युवती ससन्ताना विधवा होती हैं,—इन्हें अपनी सन्तानके यत्नमें जितनी इच्छा हो, उतना ही समय बिताने देना चाहिये किन्तु उन सन्तानोंके समवयस्क या उनसे कम उम्रके घरके अन्यान्य लड़के भी उस यत्नके फलभागी हों, इसका उपाय भी विशेष चेष्टाके साथ करना चाहिये। विधवाके हृदयमें स्नेहके बढ़ानेका उपाय किया जाय, किसी प्रकार वह स्नेहराशि थोड़ेसे स्थानमें बन्द हो दूषित न होने पावे। विधवाके हृदयमें किसी प्रकार अपने परायेकी समझ उत्तेजित हो ईर्षा द्वेषादिके प्रभावसे वह उसके प्रकृत व्रतको भङ्ग न करने पावे। विधवा घरके सब लड़कोंको प्यारसे रखे, ऐसा न होनेसे समझना चाहिये, कि उसके साथ उचित व्यवहारमें त्रुटि हुई। तृतीय निःसन्ताना बालविधवा होती हैं। इनका प्रतिपालन केवल रोटी कपड़ेका प्रतिपालन नहीं। इनमें धर्म्मोन्नति साधन, बहुत ही कठिन काम है। इसलिये विशेष कठिन है, कि इनके बचपनकी साहजिक स्वार्थपरताके बहुत प्रधान दो संस्कार बाकी रह गये। वह पति-प्रेमाग्निमें द्रवीभूत हो कभी दूसरे पात्रमें विस्तृत नहीं हुआ और सन्तान वात्सल्य रससे परिषिक्त हो किसीको आत्मज धन रूपसे प्राप्त न हो सका। इनका मन उदार की जगह क्षुद्र, प्रीतिपूर्णकी जगह शुष्क और सदयकी जगह ईर्षापूर्ण होनेकी सम्भावना है। तब भी एक भरोसा है। इस देशके भले घरकी बालिकाओंके हृदयमें प्रगाढ़ भक्तिका बीज बो दिया जाता है। माता-पिताकी भक्ति, गुरुजनके प्रति भक्ति, देवता ब्राह्मणकी भक्ति, शास्त्रशासनकी भक्ति, ये सब सहजात धर्म्म हैं। इन पर ही अवलम्बन कर चलना पड़ता है। विचारकर चलनेसे उस भक्तिबीजसे ही विपुल प्रीतिका उद्गम होता है, जो जीवनक्षेत्रको सरस, शीतल और आत्माके लिये सुखप्रद बना डालता है। बालविधवाके पालनके लिये हम कई एक नियम बताते हैं–

(१) विशेष इन्तजामके साथ कर्त्ता स्वयं उसके आहारका नियम बना दे। इतना दूध और इतना फल, इतना अन्नव्यञ्जन—इस प्रकार विधवाके लिये भोजनका ठीक कर देना चाहिये। जैसे देवताके नामसे द्रव्यादि संग्रह किया जाता है, उसे घरके लोग खाते नहीं, वैसे ही विधवाके लिये घरके मालिक जो ठीक कर दें, उसे घरके और किसीको लेना न चाहिये।

(२) विधवा दो एक शिशु-सन्तानोंको पास लेकर सोये। विधवाको लड़कोंका आदर सिखाना चाहिये।

(३) यदि हो सके, तो विधवाको संस्कृत पढ़ाना चाहिये। अन्ततः अच्छे संस्कृत ग्रन्थोंका अनुवाद सुनाना चाहिये। उसका तात्पर्य्य उसे समझाना चाहिये।

(४) विधवाको सांसारिक कामोंमें विशिष्ट रूपसे लगा देना चाहिये। केवल अनुज्ञा द्वारा नहीं, गृहकार्य्यमें विधवा स्त्रियोंको सधवाओंकी सहकारिणी बनाना चाहिये।

(५) विधवाको व्रतादि करने देना चाहिये। स्वयं उसे व्रत करनेको कहना न चाहिये। किन्तु यदि वह करना चाहे, तो करने देना चाहिये, व्रतादिके उद्यापनके समय खर्चमें कमी करना न चाहिये। शारीरिक मेहनत उसकी, रुपया तुम्हारा। घरकी सधवा स्त्रियां वे सब व्रत या उनके अनुरूप व्रतादि करने न पायें। सधवाओंके व्रतके उद्यापनमें कम खर्च हो और आडम्बर भी कम हो।

(६) विधवाको कोई आज्ञा देना हो, तो कर्त्ता स्वयं दे—स्त्री, कन्या, या पुत्रवधू प्रभृति अन्यान्य किसी स्त्री द्वारा न दिलायें। किन्तु अनुज्ञा सचमुच ही कर्त्ताकी अपनी हो, अर्थात् स्वयं ही देख-सुन विचार-चिन्ताकर अनुज्ञा करें। गृहिणी द्वारा उपदिष्ट और स्वयं उसके ही मुख-स्वरूप न हों। बिल्कुल स्त्रैण पुरुष द्वारा विधवाका सुपालन प्रायः ही अच्छी तरह नहीं होता।

उल्लिखित नियमोंका बुद्धिपूर्वक पालन करनेसे बाल-विधवाओंकी किस प्रकार धर्मोन्नति होती है, उसे जिन लोगोंने अपनी आँखों देखा है वेही समझ सकते हैं। विधवा स्वतः प्रवृत्त हो भोगसुख परित्याग कर देती है। गृहकार्यमें बहुत ही निपुण हो जाती। अतिथि, अभ्यागत, कुटुम्बी, स्वजनगणको प्रीतिसे खिलाती है स्वयं सबल और सुष्ठुशरीर होती है। ईर्षादि दोषसे परिशून्य हो सधवाओंके प्रति अनुग्रहशालिनी और उनके पुत्रोंके प्रति मातृवत् स्नेहशीला होती है जिस घरमें विधवा इस प्रकार रहती हैं, उस घरमें मानो एक जीवन्त देवी मूर्त्ति है। विराजमान है। उस घरके स्त्री पुरुष ऋषिचरित्रके द्रष्टा और फलभोक्ता होते हैं। वहां 'परार्थजीवन' क्या वस्तु है सो केवल मुखसे कहा नहीं जाता या पुस्तक में पढ़ा नहीं जाता, उसकी जाज्वल्यमान मूर्त्ति अपनी आँखों दिखाई देती है।

जब मद्यसेवी, मांसाहारी युरोपीयगणकी कन्यायें भी धर्मशिक्षाके प्रभावसे चिर-कौमारके व्रतका नियम यथायथ पालन कर सकती हैं, तब अति उदार संस्कृत शास्त्रके साहाय्यसे पवित्र आर्यवंशोद्भवा विधवाओंके ब्रह्मचर्यके पालित न होनेकी बात बिल्कुल ही अश्रद्धेय है।

---

३३ प्रबन्ध।

चिर-कौमार।

मनुष्य गृहस्थाश्रमी होगा, विवाह करेगा, परिवारसे परिवृत हो रहेगा यही साधारण नित्यधर्म्म है और इसी नित्यधर्म्मका अवलम्बन करके ही पारिवारिक प्रबन्ध लिखे गये हैं। किन्तु गृहाश्रमी हो कर भी, अर्थात् संसारमें रह कर भी बिना विवाह किये रहना बिलकुल असाध्य या असम्भव नहीं है। विवाह करना और परिवारका प्रतिपालन करना दिन पर दिन अधिकतर अर्थसाध्य और कष्टसाध्य होता जाता है। गृहस्थ होनेसे अवश्य ही विवाह करना पड़ता है, यह जो एक प्राचीन संस्कार था, वह कालगतिसे क्रमशः दुर्बल होता जाता है। कितने ही अकुलीन ब्राह्मण सन्तानोंके विवाहका ठिकाना नहीं लगता—ऐसे ब्राह्मणोंका विवाह करा ब्रह्मस्थापन करनेकी जो धर्म्मप्रथा थी, आजकल इस प्रथाका समादर भी घट गया है। इसके अतिरिक्त अङ्गरेजोंमें बड़े आदमी और छोटे आदमियोंमें कितने ही लोग विवाह नहीं करते, या कर ही नहीं सकते, यह जान कितने ही नौजवान यह समझते हैं कि विवाह करना या न करना अपनी इच्छाके अधीन है; अवश्य कर्त्तव्य संस्कार कार्य्य नहीं। अतएव पारिवारिक प्रबन्धके अन्तिम हिस्सेमें चिर-कौमार विषयक विचार बिलकुल ही अयोग्य जान नहीं पड़ता।

हमारे विचारसे चिर-कौमार व्रत धारण करनेके योग्य नरनारी पृथिवीमें अबतक बहुत ही थोड़े उत्पन्न हुए हैं। पारिवारिक धर्म्मके सुपालन द्वारा जिन सब पूर्व पुरुषोंका शरीर और मन सुसंयत हुआ है, ऐसे पूर्व्व पुरुषोंके गुण जिन सब सन्तानोंमें पूरी तरहसे प्रविष्ट हुए हैं, वेही चिर-कौमार व्रतके धारणमें अधिकारी हो सकते हैं। इस प्रकार लोगोंकी कामप्रवृत्ति दुर्ब्बल होती है और हृदय परार्थ चिन्तासे पवित्र हो जाता है। हम यह नहीं कह सकते कि समय पाकर ऐसे मनुष्योंकी संख्या बढ़ नहीं सकती बल्कि हम देखते

आते हैं, कि उन दोनों लक्षणोंमें जहां एक भी रहता है, दूसरा भी प्रायः ही वहाँ रहता है। कामप्रवृत्तिकी दुर्ब्बलता और परार्थपूत-चित्तता अनेक स्थलोंमें एक ही जगह विद्यमान रहती है।

इसके अतिरिक्त हमें दृढ़रूपसे जान पड़ता है, कि जीव संख्या और आहार सामग्रीकी वृद्धिका नियम इस समय जिस प्रकार परस्पर निरपेक्ष भावसे चल रहा है, भविष्यतमें मनुष्य गण आपसमें उस नियमको वैसे निरपेक्ष भावसे चलने न देंगे; उसे परस्पर सापेक्ष बना लेंगे। इस समय मनुष्यसंख्याकी वृद्धि जिस क्रमसे होरही है, उस क्रमसे आहार सामग्रीकी वृद्धि नहीं होती। इससे ही अनेक स्थलोंमें दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध प्रभृति दुर्घटनायें हुआ करती हैं। समाज में यह प्राकृतिक तथ्य जितना अधिक परिज्ञात होगा, उस तथ्यके ज्ञानसे प्रणोदित होने पर वैवाहिक व्यवस्थाका जितना उत्कर्ष साधित होगा, वे सब व्यवस्थाएँ जितने अधिक परिमाणसे प्रतिपालित होंगी, उतनीहो ऐसी सन्तानें उत्पन्न होंगी, जिनकी कामप्रवृत्ति सहजही दुर्ब्बला और परार्थप्राणता बलवती होगी। जब हमारा विश्वास और इच्छा ऐसी ही है, तब हम चिर-कौमारकी अवस्थाके पक्षपातीही हैं, कभी विरोधी हो नहीं सकते। परन्तु हम अवश्य यह कहते हैं, कि ऐसे तैसे मनुष्य इस व्रतके पालनके अधिकारी नहीं। साधारण अङ्गरेज़ोंमें भी कोई कोई विवाह नहीं करते। उसका एक मात्र कारण यह है, कि वे लोग सांसारिक धर्म्मश्रृङ्खलामें बँधना नहीं चाहते अथवा वे स्त्री पुत्रोंके पालनके भारसे आक्रान्त होनेमें नाराज हैं। वे लोग एकमात्र स्वार्थ परवश होकर ही संसारयात्रा निर्वाह करते हैं। हम ऐसे चिर-कौमारके विद्वेष्टा हैं।

यदि किसीको चिरकौमार व्रतके धारणकी सच्ची इच्छा हो तो उन्हें कई एक विषयोंको विशेष ध्यानपूर्वक समझ लेना चाहिये। पहले उन्हें समझना चाहिये, कि वह अपने शरीरको पूरी तरहसे विशुद्ध रख सकते हैं या नहीं? उनको ऐसे भ्रममें पड़ना न चाहिये, कि देहके अपवित्र रहनेसे भी हृदय विशुद्ध रह सकता है। देह और मनको विभिन्न पदार्थ न समझ बाहर और भीतर इस विभिन्न प्रत्यक्षके विषयीभूत होनेकी वजह वह एकही पदार्थका द्विविध आभास मात्र है; ऐसा ही समझना अच्छा है। ऐसा सिद्धान्त कभी सत्य सिद्धान्त नहीं है, कि पशुधर्म्मके आचरणमें दिव्याचारका व्यभिचार नहीं होता या छिपकर विगर्हित व्यवहारके अनुष्ठानसे आत्मग्लानि उत्पन्न नहीं होती है। अतएव इन सब बातोंका तात्पर्य्य पूरी तरहसे ग्रहण कर कोई चिरकौमार

व्रतके अधिकारी हैं या नहीं, इसे वह स्वयंही समझ ले सकते हैं। यदि इन सब बातोंका विचार कर कोई कौमार व्रत धारण करे, और पीछे वह समझ सके कि वह व्रतके पालनमें अशक्त है, तो उन्हें व्रत त्यागकर विवाह करना चाहिये। उससे संकल्प भङ्गका दोष होगा सही, किन्तु उस दोषमें कपटाचारकी अपेक्षा कम दोष है। उससे असारल्य और कपटाचारकी वृद्धि और समस्त बुद्धि तथा चित्तवृत्ति विकृत नहीं होती। सङ्कल्पभङ्गसे चरित्रकी दुर्ब्बलता मात्र होती है।

चिरकौमारके व्रताभिलाषीको और एक विषय विचार कर देखना चाहिये। वह पूरी तरहसे निष्कपट प्रीतिदान अर्थात् प्रतिदान न पाकर भी प्रीतिदान कर सकते हैं या नहीं। हम ईश्वरकी उपासना करते हैं, उनसे प्रीति करते हैं, उनके प्रिय कार्य्यका साधन करते हैं, अतएव मङ्गलमय ईश्वर अवश्य हमारा मङ्गल करेंगे, ऐसे भावसम्पन्न मनुष्यके लिये चिरकौमार व्रतका पालन असाध्य व्यापार है। ईश्वर हमारे प्रति अनुग्रह करे या न करे, हम अपने स्वभावसिद्ध धर्म्मसे उनमें अनुरक्त रहेंगे—उनके निग्रहसे भी हमारा अनुराग बढ़ेगा, जिनके हृदयमें ऐसा आत्मगौरव, आत्मप्रतीति और असीम प्रेम विद्यमान है, अथवा विद्यमान रहनेका उपक्रम हुआ है, वह चिरकौमार व्रतके धारणके पूरे अधिकारी हैं। वह स्वबन्धु, स्वकुल, स्वजाति, स्वदेश सब मनुष्यों या समस्त जीवोंके लिये अपनेको उत्सर्ग कर सकते हैं। भीष्मदेव, शुकदेव प्रभृति तेजस्वी विशुद्धात्मागण ऐसे ही मनुष्य थे। वैसी ही तेजस्विता और पवित्रताके जो आधार हो सकते हैं वेही चिरकौमार व्रतके धारणके योग्य हैं।

हमारी लिखी बातोंसे कोई अपने मनमें यह न समझे कि "चिरकौमार व्रतका अधिकारी कोई नहीं" हम सचमुच ऐसा भाव प्रकट कर रहे हैं। हम मनुष्योंकी क्रमोन्नतिशीलता पर बहुत ही विश्वासवान हैं। हमें यह कभी विश्वास नहीं होता कि भीष्मदेव जैसे तेजस्वी और शुकदेव जैसे पवित्रतासम्पन्न मनुष्य पृथिवीमें जन्म ग्रहण कर नहीं सकते या इस समय भी मौजूद नहीं हैं। भीष्मदेव और शुकदेव किसी समय जीवित थे। अथवा ऐसे पुरुषोंकी पहले कल्पना हो गई है; यही परवर्त्ती समयमें ऐसे महात्माओंकी उत्पत्तिका कारणस्वरूप होता है। मनुष्यकी उन्नति केवलमात्र वैषयिक व्यापारसे ही सम्बद्ध रहती है, धर्म्मप्रणालीमें व्यापक हो नहीं सकती, जो

ऐसी बातें कहा करते हैं, वे उन्नतिके बाह्य लक्षण मात्रको ही देखते हैं, प्रकृत हेतुको नहीं समझते। वे लोग इस गूढ़ तथ्यको नहीं समझते, कि मनमें उन्नतभावके प्रवेश और सञ्चयके कारणसे स्नायुमण्डल और शरीर-धर्म्मका उत्कर्ष और उस उत्कर्षका पुरुषानुक्रमिक संक्रमण मनुष्यकी उन्नतिका प्रकृत हेतु है। जब एक भीष्म उत्पन्न हुए थे तब अवश्य ही दश भीष्म, सौ भीष्म और सहस्र भीष्म हो गये हैं, हैं और हो सकते हैं।

अतएव भीष्म और शुकदेवका नाम लिख मैं चिरकौमार व्रतके धारण-की असाध्यता प्रकट नहीं करता। उन व्रतधारियोंका आदर्श मात्र दिखाता हूँ, मैंने केवल यही कहा है कि कौन कौन गुणोंके प्राचुर्यसे यह व्रत सुसम्पन्न हो सकता है। भीष्मका नाम ले अस्वार्थपरता, दृढ़प्रतिज्ञता, त्यागशीलता और भक्तिमत्ताका भी प्रयोजन दिखाया गया है और शुकदेवका नाम ले ज्ञानचर्चा और ऐकान्तिकताकी आवश्यकता दिखाई गई है। सच्चे वीर और सच्चे ज्ञानानु-रक्त मनुष्य ही चिरकौमार व्रतके पालनके अधिकारी हैं।

जिस जातिके लोगोंमें वीरभाव और विद्यानुराग अधिक है उस जातिमें ही चिरकौमार व्रतका आधिक्य हो सकता है। किन्तु बीज और वृक्षके सम्बन्ध-के समान कार्य्य कारणका सम्बन्ध अनेक स्थलोंमें ऐसा परस्पर सापेक्ष है कि उनमेंसे एककी उपस्थितिमें दूसरेकी उत्पत्ति होनेकी सम्भावना होती है। अतएव हिन्दुओंके लड़की और लड़कोंमें यथोचित पात्रका विचार कर चिर-कौमार व्रतके धारणकी राह खोल देनेसे इस देशमें भी फिर प्रकृत वीर भाव और विद्यानुरागका सञ्चार हो सकता है। सब लड़के और सब लड़कियोंको ही विवाह सूत्रमें सम्बद्ध होना होता है यह एक बड़ा दोष है।

किसी साधुशीला बुद्धिमतीने कहा है,—"लड़कियोंका विवाह न होने से कोई क्षति नहीं होती। वे अपने भाई बहन और उन भाई बहनोंके पुत्र कन्याओंके प्रति ऐकान्तिक यत्नपरायण हो सुख और स्वच्छन्दतासे समय बिता सकती हैं।"

---

३४ प्रबन्ध ।

धर्म्म-चर्य्या ।

हरेक परिवार समाजका एक एक अणु बन्धन है। वह सब अणु जितने प्रकारके प्रबन्धसे परस्पर सम्बद्ध हैं, उनमें धर्म्मबन्धन प्रधानतम है। सुतरां किसी समाजमें जो धर्म्मप्रणाली प्रचलित रहे, अविकृत अवस्थामें उस समाजके अन्तर्गत हरेक परिवारमें भी वही धर्म्मप्रणाली प्रचलित रहेगी। ऐसा न रहनेसे मनुष्योंमें परस्पर ममताका ह्रास, विद्वेषका प्राचुर्य्य, अयथाचारकी वृद्धि और समाज बन्धनका शैथिल्य उत्पन्न होता है।

इस समय हम लोगोंके हिन्दू समाजका अविकृत भाव नहीं है। इस समय समाज-प्रचलित धर्म्मप्रणालीके प्रति कितनेही लोगोंकी सम्पूर्ण ऐकान्तिकता की रक्षा नहीं होती। बिलकुलही मूर्ख और परम ज्ञानीके अतिरिक्त अन्यान्य कितनेही लोगोंके मनमें सन्देह का एकाध विषमय भाव घुसा हुआ है। देशका जल वायु विदूषित होनेसे जैसे उस देशके निवासियोंका कुछ न कुछ स्वास्थ्यभङ्ग होता है, वैसेही सामाजिक धर्म्म-विप्लवका सूत्रपात होने पर समाजके अन्तर्गत सब परिवारोंमें ही कुछ न कुछ दोषका संचार हो जाता है। सर्व्वतोभावसे उस दोषके अतिक्रम करनेका कोई उपाय ही नहीं है।

किन्तु यद्यपि सर्व्वतोभावसे उस दोषका अतिक्रम करना हम लोगोंके लिये साध्यातीत है, तथापि विचक्षणताके साथ चेष्टा करनेसे यह बात कही जा सकती है, कि यह कुछ उतना असाध्य नहीं। विशेषतः उन सब दोषोंके निवारणके लिये सचेष्ट होना बहुतही आवश्यक है। सामाजिक धर्म्मबन्धनका शैथिल्य आईनके जोरसे, कुछ शासन कर्त्ताओंके प्रभावसे, कुछ अन्य लोगोंकी मुखापेक्षाके बलसे चाहे, जिस प्रकार हो, एक प्रकार दूर हो जा सकता है। किन्तु पारिवारिक बन्धनका यदि कुछ भी शैथिल्य हो, तो उसके पापका प्रायश्चित और उसके दुःखका प्रतीकार इह जन्ममें भी नहीं होता और परजन्ममें भी नहीं होता। इसका क्या उपाय है, जिससे सामाजिक धर्म्मविप्लवका दोष परिवारमें संक्रामित होने न पावे? मैं जहाँ तक समझ सकता हूँ उन्हीं उपायोंको उदाहरण सहित लिखता हूँ।

(१) ऐसा समझनेसे काम न चलेगा, कि धर्म्मविप्लव उपस्थित होने पर केवल चिरन्तन धर्म्म पर ही विश्वासवान् होकर रहूँगा। बुद्धि वृत्तिको परिचा-

लन करना चाहिये और युक्तिके साथ शास्त्रार्थका.निष्कर्ष करना चाहिये । अपने परिवारमें उच्छृङ्खल तर्कका प्रयोजन नहीं है सही, किन्तु अनुष्ठेय धर्म्म व्यापार-की यौक्तिकता परिवार वर्गको दिखा देनी आवश्यक है । उदाहरण—

"दुर्गापाठ सुननेसे पुण्य होता है; उसका कारण यह है कि दुर्गाकी पुस्तकमें मृत्युभयकी प्रकृति और उसभयके निवारणका एकमात्र उपाय जो अवि-नाशिनी आद्याशक्तिमें श्रद्धा है, वह बहुत ही सुन्दर रूपसे वर्णित किया गया है,—आज घरमें दुर्गापाठ हो रहा है—चलो हम दोनों चलकर सुनें—हम तुम्हें स्थूलर तात्पर्य्य समझायेंगे । " * * * 'मृत्युभय महिषासुर कितने ही प्रकारके रूप बदल कर आया, जैसे ही एक रूप नष्ट हुआ, वैसे ही उसने दूसरा रूप धारण किया । एक बारगी किसी प्रकार नहीं मरा । अन्तमें उसका दमन हुआ ही " ।

(२) धर्म्मविप्लवके समय जो मतवाद निकले, उसीको मान लेना उचित नहीं । समाजका बिलकुल ही विगर्हित आचार अवश्य हो परिवर्ज्जनीय है । उदाहरण—

"बेटा ! तुम्हें अङ्गरेजीका लिखना पढ़ना सिखानेका यही फल हुआ कि तुमने देव ब्राह्मणकी भक्ति छोड़ दी; इसके बाद अभक्ष्य भक्षण और अपेय पान भी करोगे; तबतक मैं जीवित न रहूँ तो अच्छा । " * * * "

"मैं प्रतिज्ञा करता हूं, कि अभक्ष्य भोजन या अपेय पान न करूँगा । ऐसा कोई पदार्थ मेरे गलेके नीचे न उतरेगा, जिसे मैं आपके सामने न खा सकूँ । "

(३) धर्म्मविप्लवमें जिन सब भिन्न भिन्न मतवादका परस्पर विरोध हो वे सब मतवाद जिस व्यापकतर मतवादके अन्तर्भूत हों, उसके ही अवलम्बन करनेका अभ्यास करना चाहिये । जहांतक हो, सके अपने मनको विद्वेषसे दूषित होने देना न चाहिये । उदाहरण—

"अन्यान्य सभी धर्म्म मिथ्या हैं—केवल हमारा धर्म्म ही सत्य है" । * * * "ऐसा न कहना चाहिये ? सभी धर्म्ममें अच्छे मनुष्य हैं । भले आदमियोंका धर्म्म सत्य नहीं तो क्या मिथ्या हो सकता है ? धर्म्मका उद्देश्य मनुष्यको भला बनाना ही तो है ?"

(४) सारांश यह है, कि भक्ति और प्रीति जो धर्म्मका बीज है और पूजा का प्रकृत भाव जो एकाग्रता है, उसे सदा स्मृतिपथमें जागरूक रख परिवार में प्रकृत धर्म्मभाव उद्दीपित करना चाहिये । किन्तु उन सब उपायोंका अव-

लम्बन करनेके लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है; सदा सतर्क रहना चाहिये; परिवार वर्गको मनोगत सन्देहादिकके प्रकट करनेके लिये साहस प्रदान करना चाहिये, उनकी सहायताका अवलम्बन कर धर्म्मभावको अक्षुण्ण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

इन सब परिश्रमोंसे पराङ्मुख होनेसे, या सहिष्णुताके अभावसे, या विचारकी त्रुटिसे, कितने ही सुबोध, शान्त प्रकृतिक और परिवारके प्रति विलक्षण स्नेहसम्पन्न मनुष्य भी अपने परिजनगणको धर्म्मविप्लवकी अनिष्ठकारितासे रक्षा करनेके उद्देश्यसे अपने अपने विश्वासके विपरीत आचरणमें प्रवृत्त हो समाज प्रचलित धर्म्मानुयायी कार्य्यकलापका ऐसे भावसे * अनुष्ठान करते हैं, मानो किसी प्रकार देशमें धर्म्मविप्लव उपस्थित नहीं हुआ है। "नहीं है कहने से सांपका विष भी नहीं रहता" उन्हें सचमुच ही ऐसा विश्वास हो जाता है। क्या वास्तवमें ऐसा होता है ? जब देशकी जल वायु दूषित हुई है, तब क्या घरका द्वार बन्द रखने ही से पीड़ाके हाथसे छुटकारा पाया जा सकता है ? तब व्यायामचर्य्या, जलसंशोधन, उच्चवास और पवित्राहारका पूरा प्रयोजन होता है ।

जो लोग ऐसा आचार करते हैं उन्हें हम "भांड" "कपटी" प्रभृति कटुवाक्यों द्वारा गाली दे नहीं सकते। हम यह भी शंका नहीं करते, कि वे लोग ऐसे अनृताचारवश दुर्ब्बलमना हो पड़े हैं । इस बात पर भी हमारा दृढ़ विश्वास नहीं होता कि उनके चरित्रका सारल्य दूर हो क्रमशः कुटिलता प्राप्त हुई है। हम केवल इतना ही कहेंगे कि उनके अवलम्बित उपायोंसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती। हमने सैकड़ों स्थलोंमें देखा है, कि जिन लोगोंने परिवारमें अभिनव धर्म्म सन्दिग्धताका प्रवेशद्वार बन्द रखनेकी चेष्टा की है, उन लोगोंने संस्कार कार्य्यमें बिलकुल ही उद्धत मनुष्योंकी अपेक्षा परिवारिक धर्म्म विप्लवका अनिष्ट भोगा है; उनके पुत्रकलत्रोंने एक बारगी ही भक्तिमार्गको त्याग दिया है और अभक्ष्य भोजन, अपेय पान प्रभृति कार्य्योंसे भीतरी निरङ्कुशताका जो भाव प्रकट होता है, उसमें वह एक बारगी ही डूब गये हैं ।

* गृहस्थाश्रमीका काम परिवार वर्गके लिये अनुकरणीय है । अतएव कुछ अनुष्ठान उनके लिये अत्यावश्यक है। भगवान् ने कहा है,—"उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्य्यां कर्म्म चेदहम् । "

जो लोग धर्म्मके सम्बन्धमें प्रकृत मनके भावको छिपा रखते, वे सामाजिक उन्नतिके पथको रोक रखनेकी चेष्टा करते हैं। वह चेष्टा अवैध है। वे अपने जीवन कालको एक प्रकारसे काटनेकी चेष्टा करते हैं और समझते हैं, कि उन्हें सामाजिक धर्म्मविप्लवका कोई अनिष्ट भोगना न पड़ेगा। किन्तु धर्म्म-बुद्धिका निदानभूत और सांसारिक सब सुखोंका आकरस्वरूप जो अपना समाज है, वह दुःख पाने लगा, दिन दिन दौर्बल्यका अनुभव करने लगा, सांघातिक पीड़ासे लगातार जर्ज्जरित होने लगा, उसके दुःखमोचन, बलाधान और रोगोपशमके लिये उन्होंने कोई कष्ट स्वीकार न किया। उन्होंने केवल अपने सुखके लिये ही अपने अपने परिवारको धर्म्मविप्लवके दोषसे मुक्त रखने का यत्न किया। उनकी सङ्कीर्ण स्वार्थबुद्धिको वैफल्यमें परिणत होना ही चाहिये और ऐसा ही हुआ करता है।

प्रकृत दोष न रहनेसे कभी किसी विप्लवका बीज समाजमें अङ्कुरित हो नहीं सकता। वास्तविक हम लोगोंकी सनातनधर्म्म प्रणालीमें कितनी ही अशास्त्रीय, अयौक्तिक, अनिष्टकर प्रथाएँ मिल गई हैं। हम लोगोंमें अनेक स्थलों में ही आचारकी खींचतान बढ़नेसे धर्म भावकी अन्तस्सारशून्यता उत्पन्न हुई हैं। हम लोगोंकी जातीय उन्नतिके प्रतिबन्धक स्वरूप कितने ही कुसंस्कार समाजकी गति रोककर खड़े हुए हैं। जो असलमें इस प्रस्तावके सब दोषोंको समझ सके हैं, उन सब लोगोंका ही कर्त्तव्य है कि कायमनोवाक्यसे उन सब दोषों-के दूर करनेकी चेष्टा करें। यदि कहो, कि सब विषयोंका यत्न करनेसे परिवार में धर्म्मभेद उत्पन्न होगा, तो हम कहते हैं कि यह भ्रम है। स्वयं बहादुरी न करके परिवारके सब लोगोंको अपने साथ एकमत समझ उन्हें अपना सहायक बना लो; विचक्षणताके साथ स्पष्टरूपसे निरूपण कर दो कि कौनसा दोष दूर करने योग्य और कौनसा गुण अनुकरणीय है। इससे तुम देखोगे कि परिवारके सब लोग बहुतही उत्साहके साथ तुम्हारे पैरके चिह्न पर पैर रखते तुम्हारे साथ चलेंगे।

पृथिवीमें अबतक जितने पैगम्बर या नरदेव उत्पन्न हुए हैं, उनमें मुहम्मदही सर्व्व प्रधान जान पड़ते हैं। ऐसा समझनेका एक कारण यह है, कि मुहम्मद अपने परिवारवर्गको सबसे पहले अपने धर्म्ममें दीक्षित कर सके। वह पहले परिजनगणमें अपने मतवादका प्रकार करनेमें कृतकार्य्य हुए। इसके बाद उन्होंने जातभाई कुटुम्बी और अन्तमें सर्व साधारणमें अपने मतवादका

प्रचार किया । हम सब लोगोंको मुहम्मद बननेके लिये कह नहीं रहे हैं । किन्तु पवित्रमना और प्रकृतदर्शी धर्म्म-संस्कारकोंका यही एक प्रकृत लक्षण है, यह बात याद रखना चाहिये । हम लोगोंमें इस समय जिन अनुचिकीर्षु संस्कारकोंकी अधिकता हो गई है, उनमें यह लक्षण दिखाई नहीं देता । बहादुरी करना ही उनके लिये बहुतही प्रयोजनीय होगया है । वह लोग विजातीय रीतिके पक्षपाती हो अपने सजातीयगणके अग्रणी हैं ऐसा दूसरोंको दिखाना चाहते हैं। उनकी बातें अलग हैं । वह लोग अपने परिजनोंके प्रति अधिक दृष्टिपात नहीं करते । हमने सुना है, कि उनमें से एक मनुष्यने अपनी माताकी आज्ञाके पालन से मुंह फेर यह कहा,—" माँ ! मैंने क्या तुम्हारे लिये जन्म लिया है ?— मैंने जगत्‌के लिये जन्म लिया है !! "

धर्म्मसंस्कारके काममें अपने परिजनके साहाय्य लेनेकी चेष्टा करनेसे बहुत ही शुभ फल उत्पन्न होता है; संस्कारके काममें पैर रखना जरा धीरे धीरे होता है । इससे प्रकृत सीमाके अतिक्रम करनेकी भी सम्भावना कम रहती ।

किसी बुद्धिमती और भक्तिमती हिन्दू रमणीके साथ एक खृष्टानीकी हमने जैसी बात चीत सुनी है, यहां उसको लिख हम इस प्रस्तावको समाप्त करते हैं ।

" बहन ! तुम्हारी जैसी स्त्रियों को हिन्दू रहना ठीक नहीं । तुमने रोशनी पाई है, फिर अन्धकारमें क्यों रहती हो ? " * * * *

" यह कैसी बातें बहन ! अन्धकार कहाँ है ? घरके सब द्वार और खिड़कियां खुली हैं; अन्धकार कैसा ? बाहर भी कुछ उतनी रोशनी नहीं, केवल अधिक धूप और धूल छा रही है । "

---

३९ प्रबन्ध ।

आचार-रक्षा ।

कोई द्रव्य हो, वह कितनाही स्वच्छ क्यों न हो, उससे कुछ न कुछ रोशनी रुकेगीही । यह जो हमारे देशमें अङ्गरेजी विद्याकी ' सुविमल ज्योति ' फैली है, उससे भी सत्यका बहुत कुछ अपलाप हो देशके मनुष्योंका अपकार ही होरहा है । देखो, अङ्गरेजीका प्रादुर्भाव होनेसे हम लोगोंकी जातीय आचार-

पद्धतिका विलोपसाधन हुआ है। स्वप्नमें भी न समझना, कि उससे प्रबल हानि हो नहीं रही है। आचार-पद्धतिके लोपसे गृहकार्यकी शृङ्खला नष्ट हुई है, स्वास्थ्यमें व्याघात उत्पन्न हुआ है, लोगोंका आयुष्काल घट गया है और आत्मगौरवकी त्रुटि होनेसे जातिसाधारणमें नीचानुकरणकी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

अङ्गरेजोंके धर्मके साथ उन लोगोंकी आचारप्रणाली घनिष्टरूपसे संयुक्त हुई नहीं है। अभी इसी बातपर यथेष्ट लड़ाई चल रहीं है, कि उनका धर्म अच्छा है या हम लोगोंका। इसपर अनेक विचार चल रहे हैं, कि उनका द्वैतवाद अच्छा या हमारा अद्वैतवाद अच्छा। इन विचारोंपर हम लोग जिन जिन युरोपीय पण्डितोंकी सहायता पा रहे हैं, हम लोग उन्हींको माथे चढ़ा नाच रहे हैं। किन्तु युरोपीय पण्डितगण तो यह बता न सकेंगे कि हम लोगोंकी आचार-पद्धति कैसी होना आवश्यक है। सुतरां स्वपक्ष या विपक्ष किसीके लिये इस देशकी उपयुक्त आचार-शिक्षाकी सुविधा हो नहीं रही है।

धन्य यहूदी जाति! उस जातिकी दशा हम लोगोंकी अपेक्षा भी अपकृष्ट होगई है। हम लोग तो अपने देशमें हैं, हम सब लोग अब भी इकट्ठे हैं, वे लोग अपने देशमें भी नहीं अपनी जातिमें भी नहीं। वे लोग पृथ्वीके सब देशोंमें नाना जातिके लोगोंमें फैले पड़े हैं। तब भी उन लोगोंने अपनी आचार-प्रणालीको ठीक रखा है। इसी गुणसे यहूदी लोग चाहे जिस देशमें रहें, वे लोग उस देशवासियोंकी अपेक्षा स्वस्थशरीर, दीर्घायु और धनशाली होते हैं।

आचार-प्रणाली सामान्य वस्तु नहीं। हम लोगोंके कृतविद्यगण आचार-पद्धतिकी ओर बिलकुल ही अवज्ञा दिखा बहुतही स्वल्पदर्शिताका काम कर रहे हैं। एक विशिष्ट कृतविद्यके साथ किसी समय हमारी जैसी बातचीत हुई थी, उसे हम लिखते हैं:—

हम। धर्मकी बड़ी बड़ी बातोंपर ही हम लोग तर्क करते हैं, किन्तु हम लोगोंके धर्मके भीतर जो आचार-प्रणाली है, उसके गुणागुणपर कुछ भी विचार नहीं करते; यह हम लोगोंका एक भ्रम है।

वह। आचार-प्रणालीपर अब क्या विचार होगा? वे तो याजक-सम्प्रदायकी मनःकल्पित बातें हैं, उसमें कुछ भी नहीं।

हम। हम ऐसा नहीं मानते, कि आचार-प्रणाली याजक-सम्प्रदायकी मनघड़न्त बातें हैं। प्रकृतिकी पूरी आलोचना द्वारा जो प्राकृतिक नियम ज्ञानि-वर्गके बोधगम्य होते हैं, आचार-पद्धतिमें वेही निबद्ध होते हैं। आचार-पद्धति साक्षात् प्रकृतिका आदेश है।

वह। प्रकृतिका आदेश क्या है? उसके जाननेके लिये किसी शास्त्र-पद्धतिके सीखनेका प्रयोजन जान नहीं पड़ता। कारण यह है कि प्रकृतिके आदेश बहुत ही स्पष्टाक्षरोंमें प्रकृतिमें सर्वत्र देदीप्यमान हैं। अन्यान्य जीवोंको—जैसे गौ, भैंस, बिल्ली, कुत्ते प्रभृतिको किसी भी आचार-पद्धतिके सीखनेका प्रयोजन दिखाई नहीं देता।

हम। यह सही है, किन्तु इसीलिये पशु पक्षियोंमें विध्वंसका प्राकृतिक नियम बहुत ही बलवान् रूपसे काम कर रहा है। कितने ही प्रकारके पशु पक्षी पृथ्वीमें उत्पन्न हो एकबारगी ही विध्वस्त हो गये हैं। किन्तु मनुष्य जिस बहुतही प्राचीनकालसे प्रादुर्भूत हुए हैं, तबसे ही वह आत्मरक्षा करते आते हैं। पशु पक्ष्यादि पृथ्वीके केवल देश विशेषमें और समय विशेषमें अवस्थिति कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य सब स्थानोंमें सब समय रहनेमें समर्थ हैं। इसका कारण यह है, कि मनुष्य देशभेद और कालभेदसे अपने आचारको भिन्न कर ले सकते हैं।

वह। तब क्या मनुष्यके लिये प्राकृतिक नियम ही यथेष्ट नहीं है।

हम। मनुष्यके लिये मनुष्य प्रकृतिके जो नियम हैं, वह यथेष्ट हैं—किन्तु पशु पक्षियोंकी प्रकृतिके नियम मनुष्योंके लिये यथेष्ट नहीं।

वह। क्या खाने पीने आदि व्यापारमें मनुष्यकी प्रकृति पशु-प्रकृति-से भिन्न है?

हम। भिन्न नहीं तो क्या है? मनुष्यकी प्रकृतिमें परिणामदर्शिता बहुतही बलवती है। मनुष्यकी प्रकृतिमें भावी सुखकी इच्छा वर्त्तमान सुखकी इच्छासे तेजस्विनी है, मनुष्यकी प्रकृतिमें कार्य-कारण-सम्बन्धीय समझ बहुत दूरकी सीमाको अतिक्रम करके चलती है और मनुष्यमें वाक्शक्ति तथा उससे उत्पन्न भाषा और लिपि-प्रणाली रहनेसे एक दूसरे मनुष्यसे वह अपनी अभिज्ञता प्रकट कर सकता है। इसी कारणसे मनुष्य-प्रकृति पशु प्रकृतिसे भिन्न है। तुम भी जैसे प्रकृतिका अनुसरण करने कहते हो, मैं भी वही कहता हूँ। परन्तु मनुष्यके लिये कहनेके लिये हम कहेंगे, कि मनुष्यकी प्रकृतिका

अनुसरण करो। प्रज्ञावान् शास्त्रकारगण भी शायद इसलिये, अर्थात् परिणाम-दर्शी मनुष्योंकी प्रकृतिका अनुसरण करनेके लिये ही आचार पद्धति बना गये हैं। मनुष्य प्रकृतिका समादर करनेसे ही परिणामदर्शिता और अभिज्ञताका समादर करना पड़ता है। जब जो अच्छा लगे, जिसमें प्रवृत्ति हो, उस समय वही करनेसे काम नहीं चलता। इसीलिये आचार-शास्त्रकी सृष्टि हुई है। यहां हम एक दृष्टान्त देते हैं। हमलोगोंके देशकी जलवायु ऐसी है, कि यहां कितने ही ऐसे रोग होते हैं जो युरोपमें नहीं होते। युरोपीय चिकित्सा-शास्त्रमें उन सब रोगोंका नाम भी नहीं। हमारे यहां कई व्रतोंका ऐसा विधान है, जिसके अनुष्ठानसे उन सब पीड़ाओंका दोष बढ़ने नहीं पाता। उन व्रतोंको हमलोगोंके शास्त्रकारोंने ही ठीक किया है। क्या उन सभोंका पालन करना आवश्यकीय नहीं? व्रत करनेसे ही उपवासादिका क्लेश स्वीकार करना पड़ता है। ऐसे क्लेशका स्वीकार करना पशुप्रकृतिके विरुद्ध है। असलमें श्रेयः और प्रेय दोनोंमें चिरन्तन भेद है। * आचार-पद्धति इसी भेदको जान कर विधिवाक्य द्वारा यह दिखाता है कि कौन वस्तु प्रेय न होनेपर भी श्रेयः है। * * *

मतवादको लेकर झगड़ा करनेसे बुद्धिकी तीक्ष्णता बढ़ सकती है। किन्तु देशकी प्रकृत्यनुयायी आचार रक्षा करनेसे शरीर दृढ़, मन सबल और गृह पवित्र होता है।

* * * *

"बहू सावित्रीका व्रत करना चाहती है; किन्तु उसकी गोदमें लड़का है। सावित्री व्रत करनेसे बहुत उपवास करने पड़ते हैं, वह उसे सह न सकेगी।" * * "यह बात सही है—सावित्रीने जब व्रत किया था; तब उसका केवल विवाह हुआ था;—लड़के हुए न थे—बहू जन्माष्टमीका व्रत करे,—कभी कोई आपत्ति नहीं। तब भी वह सावित्री व्रतके बदले प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान आह्निक समाप्त कर एकाग्र चित्तसे स्वामीके मङ्गलकी चिन्ता करती हुई जल ग्रहण करे—मेरी मा सदा मेरे पिताका चरणामृत धो पीती थीं, तुम तो जानती ही हो! सावित्री व्रतके बदले यह एक महा व्रत है"। * * *

---

* "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोःश्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते॥

कठोपनिषत्।

" तुम्हारा एकादशीका व्रत करना सुन उस दिन उमेशकी बहनको बड़ा आश्चर्य्य हुआ—उसने कहा, कि अङ्गरेजी लिख पढ़कर भी एकादशीका व्रत करते हैं-और मेरा भाई कई वर्ष पढ़ साहब बन गया है-वह कुछ नहीं मानता"। * * * "एकादशीका व्रत किसी किसीके लिये बहुत अच्छा है। जिनके शरीरमें वात और कफका कोई लक्षण रहता है वह इस व्रतका विशेष उपकार समझ सकता है।" * * * "श्यामाचरणकी मा विधवा है। उसकी इतनी उम्र हुई, किन्तु वह सबके हाथका छुआ खाती है"। * * * " यह अच्छा नहीं। जो ठीक ठीक शुद्धाचारसे रहना चाहते हैं, उन्हें ऐसे वैसेके हाथका खाना न चाहिये। सामान्य स्पर्श दोष ही बहुत बड़ा दोष है। इससे एक मनुष्यके शरीरकी पीड़ा और प्रकृतिका दोष दूसरेके शरीरमें जा सकता है। पाकस्पर्श दोष उसकी अपेक्षा भी गुरुतर दोष है—कैसा आश्चर्य्य है! अङ्गरेज लोग सामान्य स्पर्श दोषको खूब मानते हैं, किन्तु ऐरे-गैरेके हाथका खाते हैं—वह लोग मेहतरका हाथका भी खाते हैं।"

---

३६ प्रबन्ध ।

घरमें धर्म्माधिकरण ।

एक एक परिवार एक एक राज्य है। राजाको राजकार्य्यमें बाहरी शत्रुसे राज्यकी रक्षा और राज्यके भीतर शान्ति संस्थापन की चेष्टा करनी पड़ती है। किन्तु परिवारके कर्त्ताको बाहरी शत्रुसे मारपीट करना नहीं पड़ता। चोर, डाकू साहसिक, फ़रेबी आदिके दौरात्म्यसे समाज-शासन और उसका प्रतिभू स्वरूप राज-शासन परिवार रूप राज्यकी रक्षा करता है। किन्तु परिवारके भीतर शान्तिकी रक्षा गृह स्वामीका कर्त्तव्य है। उसमें सामाजिक शासन या राजशासनका कोई वश नहीं। लड़कों लड़कोंका झगड़ा, लड़की लड़कीका झगड़ा, लड़के और बूढ़ोंका झगड़ा, सास बहूका झगड़ा, इन सब व्यापारोंसे घरकी भीतरी शान्तिमें सदा व्याघात पहुँचता है। अतएव इसके लिये यत्नवान् और सतर्क होना चाहिये, कि जिसमें वह सब कष्टका व्यापार होने ही न पावे और हो भी, तो अधिक नहीं, वह भी शीघ्र निवृत्त हो जाय और समधिक परिमाणसे उसका अशुभ फल होने न पावे।

जो पारिवारिक शान्ति रक्षाका मूल है, वही सामाजिक शान्ति रक्षाका भी मूल है—अर्थात् कृत्रिम अपक्षपातिता। जिस परिवारके कर्त्ता विना पक्ष-

पातके झगड़ा रोक सकते हैं, दोषीको तिरस्कारित और निर्दोषीको प्रसन्न कर सकते हैं, वह परिजनगणको शान्ति सुखसे रख केवल आप ही सुखी नहीं; बल्कि परिवारमें धर्म्मबीज बो अपने जीवनको सफल कर सकते हैं। दया, दाक्षिण्य, सौजन्य विनय, कार्य्यतत्परता आदि यावतीय सद्गुणोंके मूलमें न्यायानुगामिताका रहना आवश्यकीय है। परिवारमें उस न्यायानुगामिताका अभाव होनेसे समाजमें भी उसका अभाव होगा और सत्यनिष्ठा तथा श्रद्धाके घटनेसे समाज भी हीनबल हो पड़ेगा।

हमारे इस दुःस्थ अधःपतित देशमें क्षमा, दान शीलता आदि कोमल सद्गुणोंका जितना गौरव है उतना अधिक न्यायपरता, सत्याचार, वाङ्निष्ठा, दृढ़ प्रतिज्ञता, अध्यवसाय आदि कठोर सद्गुणोंका गौरव नहीं। किन्तु जैसे स्त्री पुरुषोंके मिलनेसे ही संसारकी उत्पत्ति और सुख होता है, वैसे ही कोमल और कठोर दोनों प्रकारके गुणोंके मिलनेसे ही सत्कार्य्यकी उत्पत्ति और धर्म्म होता है। कोमल गुण कठोर गुणोंके अभावसे ठीक राह पर रह नहीं सकते। इसलिये अनेक स्थलोंमें ही हम लोगोंकी दया केवल बातोंमें, क्षमा अशक्तिमें और दानशीलता केवल मात्र मनही मन रह जाती है—यह सब क्रमशः वन्ध्या हो पड़ी हैं।

किन्तु हम लोगोंकी पारिवारिक व्यवस्था जिस प्रकारकी है, उससे कठिन और कोमल दोनों ही प्रकारके सद्गुणोंका यथायथ साधन हो सकता है। केवल मात्र पारिवारिक कार्य्यकी ओर कुछ मन लगाना पड़ता है। जैसे बूढ़े लोग,—"दूर हो, हमसे नहीं होता" ऐस कह कर औदासीन्य दिखाते हुए आलस्यका सुख भोगते हैं, वैसा करनेसे काम न चलेगा। और जैसे नये लोग सामाजिक विषयोंका दोष बता अपने समाजको गाली दे निश्चिन्त हो जाया करते हैं, वैसा करनेसे भी काम न चलेगा। पारिवारिक सब कामोंमें ही विशेष रूपसे मन लगाना पड़ेगा। परिवार कोई ऐसा अलौकिक यन्त्र नहीं है जो विना यत्नके आप ही लगातार चलेगा, और आप ही आप सुख, शान्ति, धर्म्म प्रसव करता रहेगा।

लड़के लड़केमें झगड़ा—यह क्या इतना सामान्य व्यापार है, कि तुम उस झगड़ेके निदान पर विचार न करोगे, उसके क्रमको न देखोगे और उसके चरम फलको न समझोगे? लड़कोंके झगड़ेके निदान प्रधानतः तीन हैं,— (१) उन सबकी असीम स्वार्थपरता, (२) मारने और काटने तथा आँकड़ानेमें

उन सबकी स्नायु और पेशीके सञ्चालनसे होने वाले सुखका अनुभव, (३) उन सबका अपने अपने माता पितादि बड़े लोगोंके परस्पर आन्तरिक विद्वेषके भावका अनुकरण। इन तीनोंमें पहिलेके दो कारणोंसे जो सब विवाद, मारपीट, लड़ाई झगड़ा उत्पन्न होता है, वह सब लड़कोंके कुछ बड़े होने पर, उनमें कुछ भी ज्ञान आते ही प्रायः आप ही आप दूर हो जाते हैं। बचपनसे उसके निवारणकी प्रकृत चेष्टा करनेसे लड़कोंका स्वभाव विशेष रूपसे अच्छा हो जाता है; किन्तु चेष्टा न करनेसे भी बहुत ही दूषित नहीं होता। किन्तु तृतीय कारणसे जिन सब विवादोंकी उत्पत्ति होती है, उसे मूलसे ही दमन करना चाहिये। वह सब विवाद प्रायः ही भाई भाईमें नहीं होता। छोटे चाचा, बड़े चाचा, मामा भाई, मौसिया भाई आदि जाति-भाइयोंकी भाई बहनोंमें ही हुआ करता है। जब ऐसे विवादको बार बार होते देखो, अथवा विभिन्न भाइयोंका विभिन्न दल बनते देखो, तब निश्चय समझ लो, कि परिवारके भीतर अप्रकट रूपसे विद्वेष बुद्धि उत्पन्न हो गई है। सपौरियाका भाव बच्चोंका स्वाभाविक भाव है; किन्तु ऐसा न हो सहोदार्य्य भावके प्रबल होने पर समझ लेना चाहिये, कि कुछ जाति-विवादका सूत्रपात हो रहा है। तब मुहूर्त्त मात्र भी उदासीन न रहो। लड़कोंमें झगड़ा होते ही, इसका अनुसन्धान करना चाहिये, कि ऐसा क्यों हुआ। बिलकुल ही पक्षपातशून्य विचारसे जो लड़का दोषी ठहरे, उसे अवश्य दण्ड देना चाहिये। उम्रके हिसाबसे दण्डमें कमी बेशी होगी, किसीको सामान्य अनादर मिलेगा, कोई धमकाया जायगा, कोई मार खायगा, दण्ड इस प्रकार होगा, जिससे घरके लड़के, नौकर, नौकरानी सभी दोषीकी निन्दा कर दण्डको उचित कहें। जिस घरमें भाई भाईमें ही अधिक झगड़ा हो, विशेषतः यदि बड़ा छोटेको पीड़ित करे, तो इससे अंतर्भूत पक्षपातिताका दोष सूचित होता है। लड़कोंके बाप या मा अथवा और कोई किसी लड़केको कम और किसी लड़केको अधिक प्यार करते हैं उससे ऐसा ही समझा जाता है। उस विवादको भी पहिले ही की तरह शीघ्र दूर करना चाहिये और दण्ड भी पहिले ही जैसा होना चाहिये। अधिक स्थलोंमें इन बातोंके प्रकट न होने देनेमें ही भलाई है, कि मा बाप लड़कोंका पक्षपात करते हैं।

वयस्था स्त्रियोंका झगड़ा यदि घरके कर्त्ताके कानों तक न पहुँचे, तभी अच्छा। कारण, सब बातोंके कर्त्ताके कानमें चढ़नेसे स्त्रियोंकी लज्जा-

शीलता कम हो जाती है। किन्तु यदि गृहिणी बुद्धिमती, सहनशीला और पक्षपातशून्या हों तभी कर्त्ताके न सुननेसे काम चलता है, नहीं तो उन्हें अवश्य ही सुनना पड़ता है और ठीक विचार कर निन्दा, भर्त्सना, दुःख प्रकाश और क्रोध प्रकाश कर दण्ड देना पड़ता है।

जिस घरमें बूढ़े और लड़कोंका झगड़ा होता है अर्थात् युवक-युवती वृद्ध-वृद्धाके साथ झगड़ेमें प्रवृत्त होते और उनकी बातोंका रूखा उत्तर प्रदान करते हैं वह घर बहुत घृणित है। उस घरमें धर्म्मके मूल बीज भक्तिका बिलकुल ही अभाव रहता है। किन्तु यदि दुर्भाग्यवश ऐसाही घर तुम्हारे हाथ हो, तो क्या करोगे? पूरे पक्षपात-शून्य बन विचार पूर्व्वक युवक-युवतियों-का दोष होनेसे, उन्हें जहाँतक सम्भव हो कठिन दण्ड दो। वृद्ध-वृद्धाका दोष होनेसे उनकी निन्दा करो। वृद्ध वृद्धा की नाराजी का भय न करो, आसपासके अन्यान्य लोगों की निन्दा का भी भय न करो। किन्तु तुमने जो उचित विधान किया है, उसे भी किसीके समझानेमें प्रवृत्त न हो—बड़ोंपर दण्ड का प्रयोग करने की वजह संकुचित भावसे रहो और उस विषयमें थोड़ी बातें करो। किन्तु और एक बात है। यदि वृद्ध-वृद्धा उम्र अधिक होनेसे अथवा पीड़ावश वास्तवमें क्षीणबुद्धि हों, तो जिन युवक-युवतियोंने उन्हें रूखा उत्तर दिया है, वही सच्चे दोषके भागी हैं। ऐसे स्थलमें उनका ही दण्ड विधान उचित है।

वयस और सम्पर्कके गौरवकी रक्षा करना हमारा जातीय उत्कृष्ट धर्म्म है। परिवारमें इस धर्म्मका पूरी तरह पालन होना चाहिये। इस मर्य्यादाकी रक्षा करते हुए भी घरमें विवादकी मीमांसा करनेके लिये पक्षपात शून्य विचार हो सकता है। बल्कि उस मर्य्यादाकी रक्षा करनेसेही असलमें पक्ष-पात शून्य विचार होता है।

जो विधवा सास अपनी पुत्रवधूसे झगड़ा करती है, उसका रोकनाही सब से कठिन काम हैं। यहाँ हम एक उदाहरण देते हैं:—"मा! आज इतना चिल्ला चिल्लाकर क्यों बोल रही थी? बाहरी घरतक आवाज आ रही थी।" * * * "शौकसे चिल्लाती थी! बहूने अब खूब मुह पर जवाब करना सीखा है, वह कोई बात ही सुनना नहीं चाहती।" * * * "कौनसी बात उसने नहीं सुनी।" * * * "तुझे इन सब बातोंसे क्या मतलब?" * * * "मतलब क्यों

नहीं है मा ! देखो न , घरमें इतना झगड़ा होना अच्छा है ? लोग निन्दा करेंगे। और देखो, झगड़ेसे कितनी ही खराबियाँ हैं, लड़के खराब होते, खाना-पीना खराब होता, संसारमें मनको सुख नहीं-मिलता और ऐसे घरको लक्ष्मी छोड़ देती है।" * * * ऐसा रह, तू अपने घर की लक्ष्मी लेकर रह, जिधर मेरी दोनो आँखें ले जायँगी उधरही मैं चली जाऊँगी—हा विधाता ! मेरे भाग्यमें यही था।'' * * *
"मा ! मैं अब जाता हूं। भोजनके समय मुझे बुला लेना; किन्तु देखो, बाहरसे शोर न सुनाई दे।"

* * * * * *

"मा के भोजन करने को बुलाने पर मैं आया—अब कहो, उस समय क्या हुआ था ? " * * * " अब उन बातोंसे क्या मतलब, हुआ ही क्या ? तुम खाओ।" * * * " यही कहो न। तुमने चिल्ला चिल्ला कर बाजार लगा दिया था। जो लोग मुझसे मुलाकात करने आये थे, वे सभी झगड़ा सुन घरकी निन्दा कर गये। उन लोगोंने कहा कि तुम्हारी मा बहू को देख नहीं सकती।"
" ऐसा क्यों कहेंगे ! क्या उन लोगोंके घर झगड़ा नहीं होता है ?" * *
"होता हो, तो हो। किन्तु मेरे घर होना न चाहिये।'
* * * "अच्छा तू खा ले, अब उन बातों से मतलब नहीं।"

* * * * * *

"क्या आज सबेरे मा तुम पर नाराज हुई थीं ? मैं यह नहीं पूछता, कि वह क्या कह रही थीं, किन्तु तुमने उनकी बातों का कोई जबाब तो नहीं दिया ?" " नहीं " * * *
"मेरी लक्ष्मी हो" * * * "क्यों मा ! आज तुम्हारी बहू इतना रो क्यों रही है। मैंने घरमें जाकर देखा, कि वह बहुत रो रही है। क्या हुआ है ? * * तुम जानती हो, मैं तो उससे कभी यह सब बातें पूछताही नहीं, वह भी अपनेसे कुछ नहीं कहती। * * * तुम्हीं बताओ, कि तुम्हारी बहू क्यों रोती है ? * * न बोलोगी ? अच्छा मैं (बहन) उमासे पूछता हूं। ऐसे कामोंमें चुप रहना अच्छा नहीं।—उमा ! क्या हुआ था। तुम्हारी भाभी इतना रोती क्यों है ?" उमाने कहा, "मा ने आज भाभी को बहुत कठोर गाली दी है। वह उन्हें भाईखानी कहती

थीं।" * * * "मा! मेरी एक बात सुनो। यह सही है, कि तुम मनसे गाली नहीं देती, कारण, तुम मेरे सालों को बहुत चाहती हो, किन्तु यह बात सुननेमें बड़ी कड़ुई है। तुम्हीं विचार कर देखो, यदि तुम्हारी लड़कीकी सास उसे भाईखानीकी गाली दें, तो तुम्हारा मन क्या कहेगा? यह काम अच्छा नहीं। ऐसा करनेसे बड़ीही निन्दा होती है। अकारण किसीके मनमें बहुत दुःख देना, लड़के, लड़की, पड़ोसी, बहू, सबकेही लिये महापाप है"। * * *

जिस घरमें सास–बहूमें ऐसाही न्याय रक्षित हुआ था दो वर्षमें वह घर निर्व्विवाद शान्तिमय-निकेतन बन गया। प्रतिवेशीगण कहने लगे, कि कोई सास बहू को इस प्रकार अपने पेटकी लड़कीकी भाँति प्यार नहीं कर सकती।

हम और एक घरकी बात कहते हैं। इस घरमें भी विधवा मा और लड़का कर्त्ता था। लड़केने लिखना पढ़ना सीखा था। माताकी भक्ति भी जानता था। उसने मा की आज्ञासे चलना ही परम धर्म्म माना था। माने कहा,-"बेटा! मेरी हड्डि भून गई है। तुम ऐसे सोनेके चांदकी तरह और तुम्हारे भाग्यमें यह उल्लू बहू मिली। मैंने भी तुम्हारे संसारमें सुखी होनेकी जो आशा की थी, वह सब निष्फल हुई। बेटा! तुम और एक विवाह करो।—मैं घरमें बहू ला सुखी होऊं।" लड़का चुप रह गया; उसने यह नहीं कहा, कि यह विवाह मेरे पिताने किया है। पत्नीका त्याग करना पिताका अपमान करना है। उसने यह भी खयाल न किया, कि स्त्रीने क्या दोष किया है। केवल वह उसकी मा को पसन्द नहीं आती तो क्या इसलिये वह निरपराधिनी डूबके मर जाँय। उसने यह भी विचार नहीं किया, कि उसकी पत्नी उस समय अन्तःसत्त्वा है, कहां उसे प्रसन्न रखना चाहिये कहां उसके हृदयमें शल्य विधनेकी आज्ञा मिली। कई महीनेमें मातृ-भक्त पुत्रने दूसरा विवाह कर ससत्त्वा पहली भार्य्याको परित्याग किया। किन्तु तबसे माकी स्पर्द्धा और भी बढ़ गयी। लड़का उनकी बातसे सब काम कर सकता है यह विचार वह नाना प्रकारकी फरमाइशें करने लगीं। वह स्वयं भी बिलकुल निरङ्कुश हो गई। पांच वर्षमें माता पुत्रने एक दूसरेका मुँह देखना छोड़ दिया, दोनोंने अन्न मकान पृथक कर लिया। बहुत खिंचने से सब टुट गया। दूसरी पत्नी कहां गई, उसका कुछ ठिकाना नहीं रहा। पहिलीही गृहलक्ष्मी और घरकी मालकिन होकर रही।

निष्कर्ष यह है कि मातृ-भक्ति कहो या जो कहो, न्यायके साथ रहनेसे

ही सबकी रक्षा होती है। वही धर्म्म है वही सबको धारण करता है। अतएव, परिवारमें न्यायपरताका एक सबसे ऊंचा आसन स्थापित कर रक्खो।

---

३७ प्रबन्ध।

गृहकार्योंकी व्यवस्था।

हम लोगोंके समाजमें ऐसा कितना ही परिवर्त्तन होता जाता है, जो पारिवारिक व्यवस्थामें भी अन्तःप्रविष्ट हो कितनी विशृङ्खलता उत्पन्न कर रहा है। सद्विचारकर्त्ता गृहस्थोंका काम है, कि वह जहां तक हो सके, उस दोषका प्रतिविधान करते चलें। जिस सामाजिक परिवर्तनकी ओर लक्ष्यकर हम यह बात कह रहे हैं, थोड़ेमें उस शब्दको कहनेसे बाबुआना या चिकनापन कहा जा सकता है। हमारे देशमें एक प्रकारका चिकनापन या बाबुआना बढ़ रहा है और बढ़कर सर्व्वनाशकी तय्यारी कर रहा है। पहिलेकी अपेक्षा देशका धन घटता जाता है। पहिले जो लोग झूलन और दुर्गा-पूजा करते, उनमें कितने इस समय निरन्न हो पड़े हैं। हर वर्ष ऐसे लोगोंकी संख्या घटती जाती है, जो प्रतिदिन दोनों समय पेट भर खा सकें। पहिले जो व्यवसाय वाणिज्य देशी मनुष्योंके हाथमें था, वह धीरे धीरे विदेशियोंके हाथ होता जाता है। पहिले जो हज़ार दस हज़ार या लाख रुपये प्रतिवर्ष जमा कर सकते थे वे लोग इस समय जमाकी ओर देख नहीं रहे हैं; बल्कि ऋणमें फँस गये हैं। जो देशके भले आदमी पहिले पूरी पिराठे खाते, वह लोग इस समय रोटी खा रहे हैं। किन्तु देशकी दैन्य दशाके ये सब लक्षण दिखाई देने पर भी देशके लोगोंमें एक प्रकारका बाबुआना प्रचलित होता जाता है।

ऐसा होनेके दो कारण हैं। एक अङ्गरेजोंकी अनुकृति। द्वितीय अङ्गरेजोंके प्रवर्त्तित साम्यवादका अधिक विस्तार। कोर्ट अव् डिरेक्टरने कहा— "हमारे भतीजोंका दल भारतवर्षमें राज्य-शासन करेगा; अतएव उन लोगोंको ऐसे दौलतमन्द और खुसपोशाकी हो चलना चाहिये, जिसमें बाबुआना भक्त भारतवासियोंकी आंखोंमें उनके गौरवमें त्रुटि न हो।" यह कह उन लोगोंने सिविलियन दलकी इतनी तनखाह बढ़ाई, कि पृथिवीके किसी देशमें कभी ऐसे राजकर्म्मचारियोंकी इतनी तनखाह नहीं बढ़ी थी। अब दिन पर दिन अधिक दरिद्र भारतवर्षीयगण सिविलियन लोगोंके बाबुआने पर हाथ भी बढ़ा नहीं

सकते। इस समय जितनी बड़ी बड़ी गाड़ियां, तेज घोड़े हैं, वह सभी सिविलियनगणके; उनका अपना होनेपर तो उनका है ही, देशी राजे रजवाड़ोंका होनेपर भी उनका ही है। अङ्गरेजोंकी इस नवाबीको देख देशके लोग उनके अनुकरणकी चेष्टा कर रहे हैं। जो दो या दश मनुष्य कर सके हैं, उन लोगोंने घर, गाड़ी, घोड़े, साज, लेवास, पोशाक सभी अङ्गरेजी ढङ्गसे कर लिया है। मध्यवित्त ऐसे-वैसे लोग किसी प्रकार घर, आफिस, गाड़ी, घड़ी, पतलून, कोट, केप और चुरुटके लिये चेष्टा कर रहे हैं। छोटे लोग भी ठीक इनकी दुम पकड़े चले जा रहे हैं। पेटको अन्न हो या न हो, एक किनारदार धोती और पोशाक बनवा रहे हैं। पेटभर चना फरुईका जलपान न कर एक पैसेकी जलेबी या एक पैसेका बरफ जीभ पर रख बाबुआना कर रहे हैं। ऐसा होना किसी किसी अर्थशास्त्रीके मतसे बहुत अच्छा है। किन्तु असलमें उससे कुछ भी उपकार नहीं। * तब भी देशमें धनागम होनेसे यह कुछ सहा जा सकता है, इससे मनुष्य मर नहीं सकता। किन्तु दरिद्रके लिये यह बाबुआना बहुत ही सांघातिक है। शरीरका खून बढ़नेके साथ बाबुआना बढ़नेसे स्वास्थ्य समझा जाता है, किन्तु खूनकी कमीके साथ जो बाबुआना उत्पन्न होता, वह मारात्मक क्षयरोग है। हमारे समाजमें इस रोगका सञ्चार होनेसे पारिवारिक प्रणालीमें भी बहुत कुछ दोष प्रविष्ट हो सकता है। हमलोग अङ्गरेज मात्रको ही खुश पोशाक और बाबू हो घूमते देखते हैं। किन्तु यह नहीं जानते, कि यह लोग अपने देशमें किस प्रकार रहते हैं। सुतरां जिस अनुकरण शक्तिसे हमलोग काम लिया करते हैं, पारिवारिक व्यवस्थाके सम्बन्धमें हमारी वह शक्ति पूरी तरह काम कर नहीं सकती। हमलोगोंमें कोई भी अपनी आंखोंसे देख नहीं रहे हैं, कि अङ्गरेज लोग किस प्रकार अपने घरका काम चलाते हैं। हमलोग नहीं देखते, कि वह लोग स्त्री-पुरुष नित्य नैमित्तिक खर्चका हिसाब रखते हैं—उनके घरकी बीबी झाड़ू देती—रसोई करती—वर्त्तन मलती—कपड़ा धोती—इस्त्री करती—सूईका काम तो करती ही और ग्रामोंमें स्त्री-पुरुष खेतमें काम करते, गौखाना साफ करते, हम लोग कुछ भी देख नहीं सकते। हमलोगोंमें कितने मनुष्य जानते हैं, कि राज-राजेश्वरी विक्टोरिया स्वयं रन्धनागारमें जा नित्य कौन कौनसा व्यञ्जन बनें

* "Luxury supports a state as the hangman's rope supports a criminal." Laveleye.

स्वयं उसकी व्यवस्था कर देती थीं और रन्धनकार्य्यमें कितनी निगाह रखती थीं ? कितने मनुष्य जानते हैं, कि उनकी कन्या एलिस् एक बड़े कुलीनके घर विवाहिता हो अर्थकी कमीसे तीन-चार लड़कोंकी मा होकर भी केवल एक वृद्धा दासीके अतिरिक्त और परिचारिकायें रख न सकीं ? एक दुग्धवती गो रखनेसे ही उनके बच्चोंको बहुत दूध मिलता, उनके भाग्यमें वह भी न हुआ। राजकुमारी एलिस् अपने हाथसे ही घरका सब काम चलाती थीं। किन्तु केवल ऐसा ही नहीं, कि वह दुःखिनी होनेकी वजहसे ही यह सब काम करती थीं। युरोपके सब देशोंके गृहस्थ या बड़े आदमी--सब घरकी स्त्रियां ही अपने अपने हाथ और अपने अपने शारीरिक बलसे घरका काम किया करती हैं। इनमें दास-दासियोंकी संख्या उतनी अधिक नहीं और अब भी घरमें झाड़ू आदि देनेका काम इन्नसे नहीं होता।

अङ्गरेजों की देखा देखी बाहरी आडम्बर और बाबुआनेके प्रति लालसा होने, अङ्गरेजोंके स्वदेश का व्यवहार न जानने, अङ्गरेजोंके घरकी भीतरी व्यवस्था न जानने और अङ्गरेजोंके मौखिक साम्यवादसे उन्मत्त होनेके कारण हमलोगोंकी अन्यान्य जो क्षति हो रही हैं, उनका तो कोई ठिकाना नहीं इसके सिवाय घरके भीतर भी बड़ा ही विप्लव संघटित हो रहा है। लड़के अङ्गरेजी सीख साहब बने हैं। लड़कियाँ बिना अङ्गरेजी सीखे ही बीबियां बनने लगीं। जिस घरमें महीनेमें एक सौ रुपया आता, उस घरकी स्त्रियां रसोई नहीं बनातीं, घरमें झाड़ू नहीं लगातीं, बिछौना न सुखाती, न उठातीं और न बिछातीं, मसाला नहीं पीसतीं, केवल शाक कूटती, बाकी सब काम नोकरानी करती हैं। वह सब किताबें पढ़तीं, कार्पेट बुनती और ताश खेलती हैं। इसका फल क्या होता है ? घर और घरकी वस्तु मलिन रहती हैं। भोजन खराब बनता और शरीर मट्टी हो जाता है। जो सब सन्तान उत्पन्न होतीं, वह क्षुद्राकार, स्वल्पबल, रुग्णदेह होती हैं, बालक सदा पीड़ित रहते, स्वल्पायुः होते अथवा अकाल ही मर जाते हैं।

देशमें कितने ही प्रकारके संस्कारका आन्दोलन चल रहा है। विशेषतः स्त्रीशिक्षा का उल्लेख तो सदा ही होता रहता है। किन्तु अयथा अनुकरण जात इन सब विपदोंसे उत्तीर्ण होनेके लिये स्त्रियोंकी जो बहुत बड़ी शिक्षा थी, उसकी रक्षाकी कोई बात सुनाई नहीं देती। यह भी कहा जा नहीं सकता, कि ऐसी बातें कब सुनाई देगीं। हां जो लोग इङ्गलेण्ड हो आये हैं, उनमें

यदि कोई अङ्गरेज परिवार की भीतरी अवस्था को समझ सके हैं और इस देश में उसका विवरण प्रचलित कर सकते हैं, तो उनके इस कामसे इस देशका बहुत उपकार हो सकता है। जब तक ऐसा नहीं होता और अङ्गरेजोंके यथा यथ अनुकरणका पथ प्रकट नहीं होता, अन्ततः तबतक स्थिर रह गृहकार्य्यमें पूर्व प्रचलित देशी व्यवस्थाओं की रक्षा करना ही ठीक है। आजकलके समय उस व्यवस्थाकी रक्षा और प्रत्यानयनके लिये जो सब सदुपाय किये जा सकते हैं उसका ही कई एक उल्लेख यहाँ किया जाता है।

(१) घरके स्वामी यदि वृद्ध न हों, तो प्रतिदिन अपने हाथ कुछ काम करें।

(२) घरमें बढ़ई और राजमिस्त्रीके दो-चार औजार रहें। घरके सामान और घरकी छोटी मोटी मरम्मत, घरके प्रौढ़ लोग अपने हाथ करना सीखें।

(३) घरके कामका परिमाण समझ उनमें कितने ही कामका भार स्त्रियों पर रख देना चाहिये। अर्थात् यदि घरकी स्त्रियोंकी संख्या कम और खानेवाले लोगोंकी संख्या अधिक हो, तो वेतनग्राही रसोईदारको कामका भार देनेका प्रयोजन है सही, किन्तु तब भी घरका बहुत कुछ काम स्त्रियोंपर ही रहे। स्त्रियाँ घरकी सफाई, मसाला पीसने, बासन मांजने आदि सब कार्योंमें ही कुछ न कुछ दखल दें। नौकर, नौकरानियोंकी संख्या न बढ़ायें। स्त्रियाँ जो कर न सकें, केवल उसके ही लिये नौकर रखना चाहिये।

(४) हरेक नौकरके लिये काम बाँध दिया जाय; यदि उस निर्द्दिष्ट काम की अपेक्षा किसीको कुछ अधिक या विशेष फरमाइश करना हो, तो घरकी मालकिनके अतिरिक्त दूसरा और कोई न करे।

(५) घरकी अन्यान्य स्त्रियोंको काम बांटना घरकी मालकिनका काम है। वह उनके शरीरकी अवस्था और उसका विचारकर कामका भार दें और जहाँतक हो एक ही काम नित्य एक ही स्त्रीको न दें।

(६) घरकी मालकिनके लिये सभी काम अपना है; उन्होंने गोशालेमें जाकर देखा, कि गो गोबरके ऊपर खड़ी है। उसी समय उन्होंने उसे अपने हाथ साफ कर दिया। उन्होंने ठाकुरके घरमें जाकर देखा, कि सफेद चन्दन उतारा गया है; किन्तु लाल चन्दन उतारा नहीं गया। उसी समय वह अपने हाथ लाल चन्दन रगड़ डालें। उन्होंने हलदी पीसी जानेके समय

कोई अकिञ्चित्कर होगा। इसमें सन्देह नहीं, कि अन्तिम उपाय सबसे निकृष्ट है। किन्तु उसमें एक गुण है। वह बहुत ही शीघ्र प्रतिवेशिनियोंके मनमें बैठ जायेगा और ऐसा होनेसे उन लोगोंके घर भी तुम्हारे ही घर में जैसी व्यवस्था होने लगेगी।

---

३८ प्रबन्ध ।

काम करना ।

बहुत दिनकी बात याद आई; हमारे समाध्यायी किसी मनुष्यने हमसे कहा था,—"सुनो! यदि सचमुच ही अच्छी तरह अङ्गरेजी सीखना चाहते हो, तो मैंने जैसा किया है, वैसा करो। अङ्गरेजीमें पढ़ो, अङ्गरेजीमें लिखो, अङ्गरेजीमें बातें करो, अङ्गरेजीमें चिन्ता करो और अङ्गरेजीमें स्वप्न देखना भी सीखो।" जिसने यह बात कही, वह पढ़नेमें हम लोगोंकी श्रेणीमें सबसे उत्कृष्ट छात्र था। हम अङ्गरेजी पढ़ते और अङ्गरेजीमें ही पत्र लिखते थे सही, किन्तु अङ्गरेजके अतिरिक्त और किसीसे अङ्गरेजीमें बात करते न थे। अङ्गरेजी में चिन्ता करनेकी तो हमने कभी चेष्टा ही न की। बल्क यदि चिन्ताके समय खोपड़ी तोड़ अङ्गरेजी भाव मनमें आते, तो उसी समय हम अपनी मातृभाषामें उन भावोंकी आलोचना कर समझते, कि भाव ठीक हैं या नहीं। ऐसा करने से अङ्गरेजीमें विचार करना और अङ्गरेजीमें स्वप्न देखना हमारे भाग्यमें कभी नहीं आया।

किन्तु हमें कितने ही काम काज अङ्गरेजीमें ही करने पड़े हैं। अङ्गरेजीमें विचारका अभ्यास न करनेसे अङ्गरेजीमें लिखना हमारे लिये कुछ कष्टकर होता था और बार बार यह विचार कर देखना पड़ता था, कि अङ्गरेजीमें जो लिखा, वह विशुद्ध है या नहीं, उसमें अनर्थक शब्द विन्यास तो नहीं आया, कोई बात जो लिखा है, वह उसकी अपेक्षा संक्षेपमें और विशद-रूपमें लिखी जा सकती है या नहीं। सुतरां हमारा अङ्गरेजी लिखना वैसा शीघ्र होता न था। दूसरे लोग, यहां तक कि जो हमसे थोड़ी अङ्गरेजी जानते, वह शीघ्र लिखते थे, किन्तु हम ऐसा कभी कर न सके। अङ्गरेजी लिखनेमें हमें विलम्ब होता और कागजमें बहुत काट कूट रहता था।

किन्तु हमें कितने ही काम अङ्गरेजीमें करने पड़े, कितनी ही बड़ी बड़ी

चिट्ठियां और रिपोर्ट अङ्गरेजीमें लिखने पड़े, प्रतिदिन ५०। ६० पत्रोंका जवाब अङ्गरेजीमें देना पड़ा है और दूसरोंकी लिखी अङ्गरेजीका दोष संशोधन कर अनेक स्थलोंमें उसे शुद्ध बनाना पड़ा है। किन्तु हम शीघ्र शीघ्र अङ्गरेजी लिख न सके। अङ्गरेजीमें विचार करनेके अनभ्यासके कारण बहुत बड़ी बाधा रहने पर भी हमने उन सब कामोंको जैसे पूरा किया और उन सब कामोंके अच्छा करनेकी प्रशंसा पाई, वह कहते हैं।

किन्तु उस बातके कहनेके पहले हम और एक बात कह रखना चाहते हैं। हमारे आत्मीय बन्धु बान्धव जब हमसे मिलने आते, उस समय हमारे हाथ चाहे कोई काम क्यों रहे, हम निरुद्विग्न चित्तसे उनसे बात चीत किया करते थे। कई काम पड़े रहनेके कारण उनसे बात चीतमें अन्यमनस्कता या चञ्चलता प्रकट करते न थे। उनमें किसीसे मुलाकात हो जाने पर हम एक बारगी ही अपना काम काज भूल उनसे बातें करने लगते थे। वह लोग जानते थे कि इतना काम रहने पर भी जो इस प्रकार समय बिताता है, उसका कारण इसकी लघुहस्तता है।

किन्तु असलमें ऐसा नहीं था। किसी विषयमें हममें तेजी न थी। क्रमसे बहुत दिनोंके अभ्यास वश किसी विषयमें कुछ लघुहस्तता उत्पन्न हुई थी सही, किन्तु वह सामान्य विषयमें और बहुत ही सामान्य मात्रासे, अङ्गरेजी लिखनेमें कुछ भी नही।

तब हम अङ्गरेजीमें इतना काम कैसे करते थे? काममें हम बहुत समय लगाते थे। इतना समय पाते कहांसे थे? नीचे हम वही बात कहते हैं।

किन्तु उस बातके कहनेसे पहले हम और कई बातें कह डालना चाहते हैं। हमें काम काजमें बड़ा ही आनन्द आता था। हम ऐसा विचार कभी न करते, कि यह पराया काम कर रहे हैं। जो करते, उसे अपना ही काम समझते। कैफियत देनेके समय शायद परायेका काम जान पड़े और इससे आनन्दमें त्रुटि हो, इसलिये हम ऐसा काम करते, जिससे कैफियत देना न पड़े। अङ्गरेज मालिकका काम कर मनमें ऐसे भावका रखना बहुत ही कठिन है। वह लोग प्रायः ही देशी मनुष्योंके मनमें वैसा भाव रहने नहीं देते। क्रमशः इतना प्रभुत्व बताते हैं कि मनुष्यके मनमें यह भाव बस जाता है, कि मालिक अङ्गरेज हैं, काम उनका है, हम उनके अनुज्ञापालक नोकर मात्र हैं। किन्तु हमारे पहलेसे ही उस विषयमें सावधान होनेके कारण हो, अथवा शुभादृष्ट वश हो

हम कभी ऐसे दुर्भाग्यमें नहीं पड़े। हमारा काम सदा अपना निजका काम और स्वदेशका काम था।

और भी एक बात है। बचपनसे हमारा ऐसा संस्कार था, कि भोगमें प्रकृत सुख नहीं, कामके सम्पादनमें ही सुख है। हम ठीक बता नहीं सकते, कि यह संस्कार कैसे हुआ। परन्तु इतना याद आता है, कि पिताजी हमारे पढ़नेके समय सदा कहते, "छात्रानामध्ययनं तपः"। फिर हमारे बड़े हो दीक्षाग्रहण करने पर नित्य सबेरे एक बार सुनाते,—"यत् करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनं"। हमारा दृढ़ विश्वास भी यही था, कि एकाग्रचित्तसे काम पूरा करनेके लिये परिश्रम करना ही प्रकृत पूजा है। अब हम यह कहते हैं, कि काम करनेके समय हम समयका संग्रह कैसे किया करते थे।

(१) हम समस्त द्रव्य और कागज पत्रका सजा रखना खूब जानते थे। कागज, कलम, दावात, और जिन सब पत्रोंको उत्तर देना पड़ता, उन सबको यथा स्थान रखते; वह सब ढूँढनेमें हमारा समय जाता न था।

(२) मैं अङ्गरेजी पुस्तकोंमें जो कुछ पढ़ता, मातृभाषामें मनही मन उसका अनुवाद किये बिना न छोड़ता। सुतरां हमारा मन बहुत कुछ स्थिर रहता, कि किस विषयमें कैसा सिद्धान्त होना चाहिये। राय स्थिर करनेमें हमें बहुत कम समय लगता था। कई पुस्तकोंके अतिरिक्त अङ्गरेजी किताबोंमें इतना शब्दोंका आधिक्य और पुनरुक्तिका बाहुल्य है, कि मातृभाषामें उसका मानसिक अनुवाद करना बहुत ही जरूरी है। इस प्रकार एक बार छांट न लेनेसे भूसीका भाग अधिक और चावलका भाग कम रह जाता है। फलतः मातृभाषामें अनुवाद रूपी सूर्प द्वारा अङ्गरेजी ग्रन्थोंके छांट लेनेका परामर्श हम सभी अङ्गरेजी पाठकोंको देते हैं।

(३) हमने कभी अङ्गरेजी शब्द विन्यासका परिपाट्य लिख लेनेके लिये अच्छे अच्छे अङ्गरेजी शब्दों या भावोंका अभ्यास नहीं किया। हम नहीं कह सकते, कि इससे हमारा उपकार हुआ या अनुपकार। तब भी हम इतना कह सकते हैं, कि अङ्गरेजी शब्दोंके विन्यासपर कुछ भी नशा न रहनेसे कामके समय अर्थात् पत्रादि लिखनेके समय शब्द ढूँढ़नेमें हमें थोड़ा ही समय लगता था।

ऊपरके (२) और (३) चिन्हित बातों द्वारा हमारा यह कहना है, कि इसका निश्चय करनेके लिये, कि कौन बात किस प्रकार कहना या करना चाहिये,

अङ्गरेजी शब्दों और अङ्गरेजी शब्दसमष्टिका जोड़नारूप जो विषम अन्तराय है, वह अन्तराय हममें नहीं था और इसीसे हमें मतलब ठीक करनेमें कम समय लगता था। केवल इतना ही कष्ट और झगड़ा रहता, कि मतलब कैसे प्रकट करें। इसका भी समय कुछ निद्रासे, कुछ भोजनसे और कुछ मित्रोंसे बातचीतके समयसे संग्रह कर लेते थे। इसके अतिरिक्त हमें घरके ऊटक नाटकमें तो फंसना पड़ता ही न था, इसलिये हमें बहुत समय मिलता था। इस प्रकार समयका संग्रहकर हम धीर हो आरामसे धीरे धीरे अङ्गरेजी लिखते थे। प्रायः अपना प्रतिपक्ष बन हम मन ही मन बहस करते, कि क्या लिख रहे हैं। प्रतिपक्षकी आंखसे हम आप ही अपनी भूल पकड़ते—अपनी ही आंखोंसे हम अपनी भूल सुधारते, इससे खूब काट कूट होता। किसी किसी पत्रको हम बदल बदल कर दो तीन बार लिखते।

एक बार हम किसी दूर स्थानमें गये थे। घरमें आकर देखा, कि बहुतसे कागजपत्र जमा हो गये हैं। उसी समय हम सब पत्र लेकर बैठे। पढ़ते पढ़ते जिन सबका जवाब देना हमने उसी समय आवश्यकीय समझा, उन्हें छाँटकर अलग रखा। जिनका उत्तर विचार कर देना और कुछ कागज पत्र देख कर जवाब लिखना ठीक जान पड़ा, उन्हें दूसरी ओर छाँटकर रखा। पहली थाकका उत्तर लिखा। जबतक वह काम समाप्त न हुआ, तबतक उठे नहीं। "बहुत देर हुई, खाने पीनेके बाद कागज-पत्र लेकर बैठते तो अच्छा था।" "यह तो ठीक है, किन्तु इन चिट्ठियोंको विदा किये बिना खाना पीना भी अच्छा न लगेगा।" घरमेंसे प्रायः ऐसी बातें सुननेमें आती थी।

"आज तीसरे पहर अमुकके आनेकी सम्भावना है; बहुत कुछ काम बाकी है; समाप्त न करनेसे बात चीतका सुख न मिलेगा; तुम्हें भी कोई काम हो, तो उसे इसी समय समाप्त कर डालो।" * * "रात, दो पहरको, बैठे बैठे यह क्या हो रहा है? न खाना न सोना, तबीयत खराब हो जायेगी।" "नहीं, तबीयत खराब न होगी। मैं एक बार सो चुका हूँ। और इसे लिखना ही होगा कल न भेजनेसे"—"क्या होगा?"—"कुछ बहादुरीमें त्रुटि"—"होने दो।" सचमुच ही उस रात लिखना पढ़ना नहीं हुआ, किन्तु अन्यान्य रातोंको होता था।

३९ प्रबन्ध ।

एकान्नवर्त्तिता ।

उत्तर पश्चिम और बिहार प्रदेशमें मिताक्षराके अनुसार और बङ्गालमें दायभागके अनुसार व्यवहार प्रचलित है । मिताक्षरा और दायभागमें एक बहुत ही गुरुतर विषय पर मतभेद है । मिताक्षरामें पैतृक धनसम्पतिके लिये जाताजात समस्त सन्तान सन्तति का एक एक प्रकार का हक माना जाता है, दायभागमें वैसा हक माना नहीं जाता। दायभागके मतसे धनसम्पत्तिमें पिता का ही निव्यूढ़ स्वत्व है— वह स्वेच्छानुसार उसका दान और विक्रयादि कर सकते हैं ।

भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशमें प्रचलित व्यावहारिक दो स्मृति शास्त्रोंमें ऐसा प्रभेद क्यों हुआ, इसकी सर्ववादिसम्मत कोई मीमांसा की जा नहीं सकती । तब भी एक प्रकारसे ऐसा कहा जा सकता है, कि वाणिज्य वृत्ति की अधिकतासे धन सम्पत्तिके विभागके अनुसार व्यवस्था हुआ करती है और बङ्गालमें सुनाव्या नदियोंके प्राचुर्य्यवश पश्चिमोत्तर और बिहार प्रदेश की अपेक्षा यहां बहुत दिनोंसे वणिक्वृत्ति की सुविधा और प्रादुर्भाव होता आया है । आजकल इस देशके समस्त व्यवसाय युरोपीयगणके हाथमें हो जाने पर भी उन सब प्रदेशों की अपेक्षा बङ्गालमें वणिक्वृत्ति-परायण देशीय लोगों की संख्या अधिक है । यह कहा जा नहीं सकता कि इस तथ्यके साथ हम लोगोंके दायभागकी व्यवस्थाका कार्यकारण रूप कोई सम्बन्ध है या नहीं। परन्तु बङ्गालियोंके व्यवस्थाशास्त्रके इस प्रकार होनेसे उनमें पैतृक-सम्पत्तिके विभाग की सुविधा हुई है और ऐसा होनेसे भाई-भाईके पृथगन्न होने की प्रथा भी अन्यान्य प्रदेशों की अपेक्षा यहां अधिक प्रचलित हुई है; ऐसी बात कही भी जा सकती है । ऐसा नहीं, कि बङ्गालियोंमें पृथगन्न होना लोक निन्दा नहीं, किन्तु पश्चिमोत्तर और विहारमें उसकी जितनी निन्दा और अन्तराय है, वंगालमें उतना नहीं । वस्तुतः दायभागकारगण मनुसंहिताके एक वचन * को जान बहुत ही स्पष्टाक्षरमें पृथगन्न हो रहने की प्रशंसा कर

* एवं सहवसेयुर्व्वा पृथग् वा धर्म्मकाम्यया ।
पृथग् विवर्द्धते धर्म्मस्तस्माद्धर्म्म्या पृथक् क्रिया ॥

गये हैं। किन्तु प्रदेशीय धर्म्मशास्त्रके एक प्रकार प्रशंसा कर उत्तेजना देने पर भी बङ्गाली लोग पृथगन्न होने की इच्छा नहीं करते और पृथगन्नवर्त्ती परिवार की निन्दा किया करते हैं। ऐसा होने का कारण—चाहे जो हो, इस देशके लोगों की दारिद्र्य दशा उसमें एक मुख्य कारण है, इस विषयमें हमारे मतमें कोई सन्देह नहीं है। यदि बङ्गालियोंके प्रति परिवारमें एक मनुष्य ही कृति और उपायक्षम न हो अनेक कृति और उपायक्षम होते, तो पृथगन्न हो रहने का कष्ट कम होता, दायभागकारोंने जैसा कहा है, वैसे धर्म्मकार्य्य का भी आधिक्य होता और पृथगन्नवर्त्तिता, परिवारकी सम्पत्तिशालिताव बलवत्ताका परिचायक होनेसे निन्दनीय न हो विशेष प्रशंसाके योग्य ही गिना जाता। वस्तुतः पैतृक धन विभागके सौकर्य्य, सब भाइयोंमें कुछ कुछ उपार्ज्जन की क्षमता, उन्हें परस्पर स्वतन्त्र भावसे काम करने का अधिकार यह सब देशके मङ्गल और उन्नतिके लिये बहुत ही प्रार्थनीय हैं। इन सब विचारोंसे हमारी इच्छा होती है, कि लोग पृथगन्नवर्त्तिता की निन्दा न कर उसकी प्रशंसा ही करना सीखें।

किन्तु एकान्नवर्त्तितामें भी बहुतेरे गुण हैं। कृषिप्रधान देशमें और दरिद्रताके बाहुल्यमें एकान्नवर्त्तिताका बहुत ही प्रयोजन और अवश्यम्भाविता है। इसका उल्लेख न करनेपर भी एकान्नवर्त्ती परिवारमें अनेकानेक धर्म्मभावोंका विशेष उत्कर्ष और संरक्षण होता है। प्रधानके प्रति वश्यता बहुत ही बड़ा गुण है। इसकी शिक्षा एकान्नवर्त्ती परिवारमें ही मिलती है। परार्थके लिये अपने उपार्जित धनांशके नियोगसे स्वार्थ संकोचका अभ्यास होता है, यह भी सामान्य गुण नहीं। एकान्नवर्त्ती परिवारमें ही इस गुणका अभ्यास होता है। फलतः वश्यता, त्यागशीलता, समदर्शिता आदि अनेकानेक मूल धर्म्मकी शिक्षायें एकान्नवर्त्तिताके फल हैं और उन सब फलोंके उत्पन्न होनेसे ही हमारे देशमें इसकी प्रशंसा होती आयी है।

उस प्रशंसाके भीतर और भी एक प्रबल कारण हो सकता है। इस देशमें समस्त परिवारोंके एकान्नवर्त्ती होनेकी वजह ही लाईफ इन्शुअरेन्स या जीवन बीमाका प्रयोजन नहीं है। "पुअर ला" या दरिद्र पालन आईनकी भी आवश्यकता नहीं। अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है, कि युरोपीयगणके अनुमोदित उन सब व्यवस्थाओंके अभावसे इस देशमें यदि एकान्तवर्त्ती परिवार न होता, तो दुःख और कष्टकी परिसीमा न रहती। सब परिवारोंकी

एकान्नवर्त्तिता इस देशमें उल्लिखित व्यवस्थाओंके कामको बहुत ही सुन्दर-रूपसे संसाधित कर देती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रथगन्नर्त्तिताके कितने शुभ फल और एकान्नवर्त्तिताके कितने शुभ फल हैं। दोनों प्रकारके शुभ फलोंका एकत्र समावेश करना ही अच्छा है। हमारी समझसे यदि विजातीय रीति-नीतिके प्रादुर्भाववश हम लोगोंके जातीय धर्म्म भावकी त्रुटि न हो, तो उल्लिखित दोनों प्रकारके शुभ फलोंका एकत्र समावेश हो सकता है। विशेषतः जब देश इतना दरिद्र है और देशके लोग भी एकान्नवर्त्तिताके पक्षपाती हैं, तब जातीय धर्म्म भावका संरक्षणकर एकान्नवर्त्ती हो रहना ही अच्छा जान पड़ता है। जिस प्रकार से एकान्नवर्त्तिताकी रक्षा की जा सकती है, और उसका अशुभ फल अधिक परिमाणसे उत्पन्न हो नहीं सकता, शुभ फल ही हो सकता है उसका उपाय है।—

(१) सुस्थ शरीर मनुष्यमात्रको कुछ न कुछ उपार्ज्जन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। एक को दूसरेका गलग्रह हो रहना न चाहिए।

(२) अपने लोगोंमें सबसे बड़ेको घरका कर्त्ता मानना और उसके उप-देशके अनुसार ही चलना चाहिये।

(३) चाहे जिसके हाथ उपार्जित हो, वह सब कर्त्ताके हाथ समर्पित होना चाहिये।

(४) कर्त्ताको उचित है, कि (१) सबसे सलाह ले काम करना। (२) खर्च्च और आमदनीका पूरा पूरा हिसाब रखना। (३) सबके प्रति समदृष्टि रखना।

इन नियमोंके यथायथरूपसे प्रतिपालित होनेसे ही भाई लोग एकान्न-वर्त्ती हो स्वधर्ममें रह सकते हैं। किन्तु इस समय जैसा समय है, उससे और भी एक नियम रखना चाहिये। वह नियम यह है,—

(५) पारिवारिक सब खर्च्च पूरा कर जो बचे, वह आमदनीके हिसाब-से भाइयोंकी अपनी अपनी सम्पत्तिके रूपमें गिना जाय। इसपर हम एक दृष्टान्त देते हैं।—

राम, हरि और कृष्ण तीन भाई थे—रामकी वार्षिक आमदनी ३ हजार, हरिकी चार हजार और कृष्णकी दो हजार थी। कुल नौ हजार थी। इसमें घरका वार्षिक खर्च ४ हजार था, सुतरां खर्च काटकर ५ हजार बचता था।

उस पाँच हजार में,—

(१) ९ : ५ : : ३ : $\frac{१५}{९}$ = १$\frac{२}{३}$ हजार रामकी निज सम्पत्ति ।

(२) ९ : ५ : : ४ : $\frac{२०}{९}$ = २$\frac{२}{९}$ हजार हरिकी निज सम्पत्ति ।

(३) ९ : ५ : : २ : $\frac{१०}{९}$ = १$\frac{१}{९}$ हजार कृष्णकी निज सम्पत्ति ।

जिस परिवारमें आर्यधर्म-प्रणालीके प्रति अधिक मर्यादा है, उस परिवारमें उल्लिखित नियमको रख चलनेसे ही सब ठीक रहेगा। उससे एकान्नवर्त्तिताके सभी शुभफल फलेंगे और परवर्त्ती पुरुषोंमें विवाद विसम्वाद कम होगा।

किन्तु एक बात है। यह धर्म्मवृद्धिकी उपयोगी व्यवस्था है। इसकी पूरी रक्षा कर चलनेसे दूसरे एक विषयमें धर्म्मकी रक्षा कर चलना पड़ता है। किसी भाईको उचित नहीं, कि अपनी आमदनी दूसरेकी अपेक्षा कम रहते अपने परिवार (स्त्री-सन्तानादि) की संख्या संवर्द्धित अथवा अपने खर्चको अधिक बढ़ायें। ऐसा करनेहीसे वह अपना भार दूसरेपर रख गलग्राहिताके दोषसे दूषित होंगे।

"हमारे इस दरिद्र देशमें किसी मनुष्यको भी सुस्त, अकर्मण्य और उपार्जन में अक्षम होना उचित नहीं।" * * * "परन्तु यदि कोई रुपया कमा न सके तो क्या वह मर जायगा?" * * * "उसे मरनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु सन्तानादि उत्पन्नकर दूसरेपर बोझ रखनेका उसे अधिकार नहीं।—भिखारीको ब्रह्मचारी बनना चाहिये।" * * * "क्या इसीसे जितने दिनतक नौकरी नहीं मिली, अपने हाथ लकड़ी चीरते और बाहर रहते थे?" * * * "हो सकता है मनमें कुछ ऐसा ही आ गया था।"

---

४० प्रबन्ध।

अर्थ-सञ्चय।

हम लोगोंका देश बड़ाही दरिद्र है। यह इतना दरिद्र है, कि कितनेही लोग मन में इसकी धारणा कर नहीं सकते। "उन्नीसवीं शताब्दी चल रही है" "देश की उन्नति हो रही है"—अङ्गरेज़ों की बार-बार यह बातें सुन कृतविद्यगण तोतेकी तरह इन शब्दों का उच्चारण रट रहे हैं। "उन्नीसवीं शताब्दी भी अङ्गरेज़ोंकी है—उन्नति भी अङ्गरेज़ोंकी है"! इन सब उक्तियोंसे हमारा

तुम्हारा कोई सम्पर्क नहीं। इतिहास ऐसी बात नहीं कहता, कि हर समय हर जाति ही उन्नति नहीं करती। जैसे उम्र बढ़नेके साथ साथ बालककी देह पुष्ट होती है सही, किन्तु वृद्धोंके लिये ऐसा नहीं। वैसेही अङ्गरेज़ोंकी उन्नति उन्नीसवीं शताब्दीमें होती है, किन्तु हमलोगों की उन्नति नहीं होती। हमारी अवनति ही हो रही है।

समाजकी अवनतिके अनेक चिन्ह हैं *—वे सभी दरिद्रताके सूचक हैं अतएव एक दारिद्र्यको ही अवनतिका लक्षण माना जा सकता है। पण्डितोंने हिसाब कर देखा है,—१८८० ईस्वीमें ब्रिटन द्वीपमें प्रति मनुष्यके हिस्सेकी वार्षिक आमदनी ३३०, फ्रांसमें २६०, पुर्त्तगालमें ८०, तुरस्कमें ४० और भारतवर्षमें २१ रूपये थी। इन सब देशोंमें किसीके लिये कोई ऐसी बात नहीं कहता, कि वह लोग दोनों समय पेटभर भोजन नहीं पाते। भारतवर्षके सम्बन्धमें कहा गया है, कि यहांके पांच करोड़ मनुष्य, अर्थात् समस्त जन संख्याका पांचवां हिस्सा आधे भोजनसे दिन बिताता है।

इस बुभुक्षापीड़ित निरन्न देशमें दानधर्म्मका बड़ाही समादर है। यहांके लोग मानो शुष्ककण्ठ चातक पक्षीकी तरह सदा ऊर्ध्वमुख हो बिन्दु पातकी प्रत्याशा किया करते हैं और कदाचित् कहींसे कणामात्र पातेही आनन्दसे कोलाहल कर उठते हैं। इस देशमें दानधर्म्मकी जो इतनी प्रशंसा है, वह बहुत कुछ चातक पक्षीकी सहर्ष कलकल ध्वनि है।

किन्तु सर्व्वत्र ऐसाही नहीं। इस देशके मनुष्योंका प्रगाढ़ धर्म्मभाव भी इस प्रशंसाका बहुत कुछ कारण है। इस देशके लोगोंमें परकालके प्रति श्रद्धा इतनी दृढ़ है, कि वह लोग इहलौकिक कार्य्यकलापको बिलकुलही अकिञ्चित्—कर समझते हैं। पृथिवी तो सदा की वासभूमि नहीं; सांसारिक सुख अधिक दिनों तक स्थायी नहीं रहता। अतएव पार्थिव विषयके सञ्चय करनेमें वृथा कष्ट पानेकी आवश्यकताही क्या है। यदि किसीको दान करनेकी क्षमता हो, तो वह हाथके सुख और मनके आनन्दसे दान कर ले। लोग यश गायेंगे, परकालमें भी दिव्यगति होगी। यक्षकी तरह रूपयेकी पोटली अगोरकर क्या होगा। आंख मूँदनेपर कोई किसीका नहीं—कहांके पुत्र—कहांके कलत्र।

* जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्म्मणः।
ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयतां॥

तब क्या आर्य्यजातियोंमें पारिवारिक स्नेह ममता अन्यान्य जातियोंसे कम है? यह किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। किन्तु वह स्नेह ममता विचारके दोषसे पूरी तरह कार्य्यकरी होने नहीं पाती। जैसे जीवन बीमा करानेसे किसी किसीकी मितव्ययिता घट जाती है, वैसेही सम्मिलित परिवारमें रहनेसे एक प्रकारसे हमलोगोंका भी जीवन बीमा हो जाया करता है। हम लोग खर्च दबाकर चलना नहीं सीखते। यदि मर जायँ, तो हमारे जो भाई रोजगारी हैं; वह अवश्य ही हमारी कन्याका विवाह और पुत्रोंको शिक्षा तथा हमारे परिवारको रोटी-कपड़ा देंगे। यह भाव कहीं परिस्फुट और कहीं अपरिस्फुट रूपसे हम लोगोंके हृदयमें रहता है। इसीसे कन्या, पुत्र, कलत्रादिके प्रति समूह स्नेह हो कर भी इस देशके लोगोंके लिये सञ्चयशीलताकी अपेक्षा व्ययशीलता ही अधिक प्रशंसाकी वस्तु हो गयी है। सम्मिलित पारिवारिक व्यवस्थामें स्त्री पुत्रादिके लिये मोटी रोटी और कपड़ेका ठिकाना रहा—शास्त्रके शासनसे स्थूल दृष्टिमें इहलोककी अपेक्षा पर लोकके लिये अधिक आस्था उत्पन्न हो गई—दारिद्र्य प्रपीड़ित समाज लगातार दान धर्म्म के प्रति उत्तेजना करने लगा; इन सब कारणोंसे आर्य्यसन्तान अन्यान्य जाति समूह की अपेक्षा अधिक इन्द्रिय-संयमशील, आसव व्यवहार विवर्जित, शान्त स्वभाव और परिणामदर्शी हो कर भी क्रमशः सञ्चयशीलता गुणको छोड़ रहे हैं। इसीसे दिखाई देता है, कि किसीके बहुत दिनों तक ४।५ सौ रुपये महीना पानेपर भी मर जानेके बाद उनकी स्त्री पुत्रादिके भरण पोषणके लिये चन्देकी किताब घुमानी पड़ती है। इसीसे देखनेमें आता है, कि किसी धनवान् मनुष्यके एक बहुत बड़ा मकान आधा बनवा मर जानेपर उनके लड़के उस मकानके ईंट-कबाड़ बेंच खाते-पीते हैं। इसीसे देखनेमें आता है, कि कोई सम्पन्न मनुष्य जैसे ही मरे वैसे ही कर्जके दोषसे उनका घर, स्त्रीके गहने, सामान आदि सभी नीलाम पर चढ़ाये जाते हैं। इसीसे यह प्रशंसा सुनाई देती है, कि फलानेकी इतनी आमदनी थी, किन्तु जमा एक पैसा नहीं। फलाने स्वयं कर्जदार होकर भी दान करते हैं। फलाने जो पाते वही खर्च कर डालते हैं। उनका कहना है, कि लड़कोंके लिये कुछ न रखना ही अच्छा है; धनवान्के पुत्र प्रायः बदचलन होते हैं और निकम्मे निकलते हैं।

हमारे विचारसे अमितव्ययिताकी प्रशंसा समाजके लिये मङ्गलकर नहीं। जो कुछ आमदनी हो, वह सभी खर्च कर देना गृहस्थधर्म्मका अनुकूलाचरण

नहीं और ऐसा करना पारिवारिक प्रणालीका सच्चा तात्पर्य्य नहीं है।

दान धर्म्मकी प्रशंसासे यदि अमितव्ययिता बढ़ जायँ, तो दान करनेमें सक्षम लोगोंकी संख्या क्रमशः घटती जायँगी। आत्मसंयम, भविष्यदर्शन, उपायोद्भावन आदि अनेक उन्नत शक्तिकी खर्वता हो जायगी। कृपणतामें बहुत दुःख और अनेक दोष होते हैं। किन्तु वह लोग प्रायः संयताचारी, अविलासी और वाङ्निष्ठ होते हैं। दूसरी ओर खर्च करने वाले लोग प्रायः ही विलासी और कितने ही स्थलोंमें अनृताचारी हो पड़ते हैं। जिस समाजमें शक्ति सञ्चारका प्रयोजन है उसमें कृपण लोगोंकी संख्याका बढ़ना अच्छा, खर्च करने वाले लोगोंकी संख्या बढ़ना ठीक नहीं। इस देशके जितने समाजकी बात हम जानते हैं, उनमें मारवाड़ी और जैन समाजकी प्रणाली अच्छी जान पड़ती है। वह लोग सदा बहुत ही दीन—दरिद्रके भावमें रहते हैं। उनकी स्त्रियां भी अपने हाथ घरका सब काम करती हैं। उन लोगोंमें मोटा कपड़ा पहने, पानीसे भीगने और पैदल चलनेमें करोड़पतियोंका भी अपमान नहीं। वह लोग जिस व्यवसायमें हाथ लगाते, उसीमें सफलता पाते हैं। अनायास ही किसीके कुछ मांगनेपर वह लोग देते भी नहीं। किन्तु कोई ऐसा मारवाड़ी बनिया नहीं, जिसकी सहायतासे और भी दो तीन मारवाड़ी निरन्न दशासे उठ अच्छी अवस्थामें न आये हों। वह लोग दानधर्म्म और सञ्चयशीलता दोनों हीका मिलान समझते हैं। इनके घर लक्ष्मी खानदानी होती हैं। तब भी आजकल दिखाई देता है, कि उन लोगोंमें भी संसर्ग दोषके संक्रामित हो जानेसे किसी किसी मारवाड़ी बनियेका पुत्र विलासी, अमिताचारी और निर्द्धन हो पड़ा है।

यह बातें सभी देशके विज्ञ लोग कह गये हैं, कि गृहस्थको कुछ न कुछ सञ्चय करना चाहिये। अङ्गरेज दार्शनिक बेकनने कहा है, कि जितनी आमदनी हो, उसका आधा जमा करना चाहिये। अङ्गरेज जाति बहुतही उन्नतिशील है। उनके प्राचीन दार्शनिक लोग जो विधि बना गये हैं, उसकी अपेक्षा आजकलके अङ्गरेजोंने उसे बहुत बढ़ाया है। इस देशके मजिस्ट्रेट या कमिशनर आदि कोई कोई अङ्गरेज ऐसे सञ्चयशील हैं, कि वह अपनी मासिक तनखाह दो तीन हजार रुपयोंमें से एक सौ, डेढ़ सौ या बहुत जोर लगाया, तो केवल दो सौ खर्च करते हैं। हम अपने देशवालोंको इतना बचानेके लिये नहीं कहते। हम अपने देशवासियोंसे कहते हैं, कि तुम्हारे शास्त्रने जो कहा है,

उस राहपर चलना ही तुम्हारे लिये यथेष्ट होगा । शास्त्रने कहा है *, भविष्यत् कालके लिये आमदनीसे एक चौथाई रखना, आधेमें नित्यनैमित्तिक क्रिया कलाप करना, और एक आना ऋण दे उसका सूद बढ़ाना । भगवान् मनुने कहा है, कि तीन वर्षके खर्चके योग्य अथवा एक वर्षके योग्य, तीन दिनके योग्य, अन्ततः एक दिनके योग्य धान्य जमा करना चाहिये । † वास्तवमें सब लोगोंके लिये समानभावसे सञ्चय करना सम्भव नहीं । जिस मनुष्यकी आमदनी प्रति पलमें दस रुपये हैं उसका प्रति पलमें पाँच रुपया खर्च नहीं होता । उसका आधेसे अधिक जमा होता है । जिन कमिशनर साहबका वेतन तीस दिनमें तीन हजार और दैनिक आमदनी १००) रुपये हैं, उनका अधिकसे अधिक खर्च दैनिक छ सात रुपये हो सकता है; सुतरां आधेसे अधिक जमा होता है । किन्तु एक मुन्सिफ, डिपटी या माष्टर, जिनकी तनखाह तीन सौ रुपये हैं, उनके कच्चे-बच्चे इतने हैं, और उनपर जातिभाइयोंका इतना भार है, तथा उनके खाने और घरका खर्च इतना है, कि किसी प्रकार तीन सौमें दो सौ खर्च किये बिना किसी तरह काम चला नहीं सकते । २० २५ रुपये महीनेके अमले, मुहर्रिर या मास्टर अपने परिजनमें रोटी और मोटा कपड़ा जुटानेमें ही व्यग्र हैं, वह इतनी सामान्य आमदनीसे आधा या चौथाई भी कैसे बचायेंगे ? इसके बाद दूकानदार और कारीगर । इनकी आमदनी १०।१५ रुपये है, उससे वह घर खर्च कर कितना बचायेंगे ? और जो मजदूर हैं, उनकी तो एक दिन की आमदनी एक दिन भी पूरी नहीं पड़ती । अतएव जितनी आमदनी हो, उसका आधा या तिहाई अथवा चौथाई बचाने का जो उपदेश है, वह सब लोगोंके लिये सुविधा जनक नहीं । इसी से जान पड़ता है, कि मनुसंहितामें ऐसा कोई नियम बांधा नहीं गया । कोई तीन वर्षके लिये जमा करे, कोई एक दिनके लिये ही जमा करे । हम भी ऐसा ही कहते हैं—सब को ही कुछ न कुछ सञ्चय करना चाहिये । जो रोज

* पादेन तस्य पारक्यं कुर्यात् सञ्चयमात्मवान् ।
अर्द्धेन चात्मभरणं नित्यनैमित्तिकं तथा ॥
पादस्याद्धार्द्धमर्थस्य मूलभूतं विवर्द्धयेत् ।
एवमारभतः पुंसश्चार्थः साफल्यमृच्छति ॥

† कुशूलधान्यको वास्यात् कुम्भीधान्यक एव वा ।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा ॥

कमाते, वह रोज कुछ न कुछ सञ्चय करे; जो महीना पाते, वह महीनेमें सञ्चय करें; जो वार्षिक पाते, वह वर्षमें सञ्चय करें। किन्तु कुछ न कुछ सञ्चय सबको ही करना चाहिये। और एक यह नियम है, कि खर्च के पूर्व-भाग से सञ्चय करना चाहिये। खर्चके अन्तिम भागसे नहीं। समझ लो कि आज तुमने मजदूरीमें दो सेर चावल पाया है, उसमें तुम कुछ भी रख नहीं सकते, रसोई बनानेसे सभी चावल खर्च हो जायगा। तब भी तुम एक मुट्ठी चावल गगरीमें रख दो, बाकी चावल बना डालो। तुम महीनेमें दस रुपये पाते हो, इससे तुम्हारा खर्च पूरा नहीं पड़ता। तब भी तुम दो आने पैसे किसी महाजनके पास या सेविङ्ग बंकमें रख दो; बाकीसे अपना खर्च चलाओ। इस प्रकार जो रखना हो, उसे पहले ही रख दो। और एक नियम है। जो जमा हो गया, जहां तक हो सके उसे तोड़कर खर्च न करो। जमा रुपयेको कभी अपना रुपया न समझो। वास्तवमें उसपर किसीका निजस्व नहीं। जो तुम रोजगार करते हो, उसमें तुम्हारे परिजनका अंश है, तुम जो जमा करते हो, उसमें भी उन लोगोका अंश है। तुम जमा धनमें से यदि पारिवारिक विशेष प्रयोजनके अतिरिक्त अलग खर्च कर डालोगे, तो कुछ पर-स्वापहारी बनोगे। इस लिये धर्म्मशील मनुष्यकी आंखोंमें सम्मिलित परिवार की अवस्था अमितव्ययिताके प्रतिकूल रूपमें ही जान पड़ती है।

सञ्चयशीलता बढ़ानेके अर्थ गृहस्थ लोगोंके लिये निम्नवर्त्ती कई एक नियम यत्न पूर्व्वक पालनीय हैं।

(१) सबकोही कुछ सञ्चय करना चाहिये।

(२) खर्चसे पहले जमा करना चाहिये, खर्चके बाद नहीं।

(३) जमासे सहजही खर्च करना न चाहिये।

(४) जिसकी आवश्यकता नहीं, वैसी कोई वस्तु खरीदना न चाहिये।

(५) जो खरीदना, वह नकद दाम देकर, उधार न लेना चाहिये।

(६) आमदनी और खर्चका हिसाब अपने हाथही रखना चाहिये।

४१ प्रबन्ध ।

पहचान न सके ।

हमारे साथ पढ़नेवालोंमें कोई कोई किसी किसी विषय को अधिक याद रख सकते थे । राजाराम जिस इतिहासको एकबार पढ़ते उसकी वर्णित घटनावलीकी सभी तारीखें उन्हें याद रहतीं । मधुसूदन जो पुस्तक पढ़ते, उसके अच्छे अच्छे पदोंको कभी न भूलते । बङ्कविहारी जो पढ़ते, उसका एक चित्र अपने हृदय पर खींच रखते । वह अच्छी तरह बता सकते थे, कि पुस्तकमें कौन विषय कहां है और यह भी वह वर्णन करते थे, कि किस प्रकार कौन घटना संघटित हुई थी । ऐसा देख हम समझते, कि जिसकी जिस ओर अभिरुचि होती, उसकी स्मृति-शक्ति उस ओर विशेष कार्य्यकारिणी होती । अब भी हम ऐसा ही समझते हैं, किन्तु कुछ भिन्न रूपसे । इस समय ऐसा भी कारण दिखाई देता जान पड़ता है, कि किसलिये विभिन्न मनुष्योंकी विभिन्न विषयमें अभिरुचि होती है । इस समय हम समझ गये हैं, कि चिन्तन और मननादि क्रियाका कर्त्ता चाहे जो हो, उसका कारण मस्तिष्क है । मस्तिष्कमूलसे स्नायुरूप शाखा निर्गत हो विभिन्न इन्द्रिय रूप पत्र पुष्पमें परिणत होती है । स्नायुरूप शाखा जैसी पुष्ट और सबल होती है, उसके सीमान्त देशमें विकसित पुष्प पत्ररूपी इन्द्रियां भी वैसी ही पुष्ट और सबल होती हैं । पक्षान्तरमें प्रबल इन्द्रियोंकी परिचालनासे जैसे सुखका अनुभव होता है, दुर्बल इन्द्रियोंकी परिचालनासे वैसा सुख जान नहीं पड़ता । इसलिये जिसकी जो इन्द्रिय अथवा इन्द्रिय की अवलम्बनरूप स्नायु प्रबल है, उसके उस स्थानके काममें सुखका अधिक अनुभव है और उसमें ही अभिरुचि होती है । जिसकी श्रवण स्नायु अच्छी है, शब्द उसके मस्तिष्कमें पहुँच विशेष सुखकर व्यापार उत्पन्न करते हैं । जिस की दर्शन स्नायु अच्छी है, उसकी आंखोंमें देखी हुई वस्तु का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, मस्तिष्कमें उसका प्रतिबिम्बजात कार्य्य विशेष सुख का हेतु होता है । सब इन्द्रियोंके लिये ही ऐसा है । स्नायु शाखा की पुष्टताके तारतम्य का कारण है । यह कारण अधिक परिमाणसे पैतृक और कुछ शिक्षा का है । जिसके पिता का श्रवण स्नायु अच्छा नहीं, उसके स्वयं भी उस स्नायुके अच्छे न होने की सम्भावना है । किन्तु यदि वह स्नायुकी विशेष पर्य्या-

लोचना करें अर्थात् सङ्गीत विद्यादि सीखें, तो पैतृक दोष सुधर सकता है। या उनका पुत्र उनकी अपेक्षा सबल श्रवण स्नायु लेकर जन्म ले सकता है। फलतः इस विषयमें "प्रारब्ध" और "पुरुषार्थ" की मर्य्यादा निर्णीत हुई है और शिक्षा का फल चिरस्थायी हो सकता है, ऐसा प्रकट होनेसे उत्कर्ष लाभ का पथ भी उन्मुक्त हो जाता है।

ये बातें यहीं तक रहें। सब लोगों की सब इन्द्रियां और इन्द्रियस्नायु समान सबल नहीं होतीं। एक मनुष्य की भी सब इन्द्रियां और उनकी मूल स्नायु समान नहीं होती। इसलिये भिन्न भिन्न मनुष्यों की विभिन्न विषयोंमें अभिरुचि और एक मनुष्य की भी एक विषयमें जैसी अभिरुचि होती, वैसी दूसरे की नहीं। किन्तु ऐसा ही नहीं, कि इन सब कारणोंसे अभिरुचिका ही भेद होता है। इससे मस्तिष्क शक्ति का भी यथेष्ट तारतम्म होता है। मस्तिष्क शक्ति का नाम ही स्मृति है। इसलिये देखा जाता है, कि कोई कोई किसी किसी विषय को अधिक या कम याद रख सकते हैं।

चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियोंके सम्मिलित कार्य द्वारा द्रव्यकी आकृति जानी जाती है। फिर केवल आँखों द्वारा भी ऐसा ही होता है। चक्षुस्नायुके मूलमें जो मस्तिष्कका भाग है, उसके द्वारा ही आकृतिकी संस्मृति हुआ करती है ऐसा समझ सकते हैं। चक्षु, चक्षुस्नायु अथवा उस स्नायुके मूलमें स्थित मस्तिष्क भाग, इनमें एक या दोनोंमें या सबमें दौर्बल्यका कोई हेतु रहनेसे द्रव्यकी आकृति सहजही ग्रहण की जा नहीं सकती। यदि आकृति ग्रहण हो भी तो उसकी धारणा वैसी दृढ़ नहीं होती।

हमारे शरीरमें वैसा कोई दोष है मालुम पड़ता है। हम नहीं कह सकते, कि हमें द्रव्यकी आकृति धारणा में उतना विलम्ब होता है या नहीं; किन्तु हममें आकृतिकी स्मरणशक्ति बहुत कम है। बचपनमें यदि किसी नई राहसे कोई हमें ले जाता, तो हम उस राहको पहचान कर न लौट सकते। कितनीही बार द्रव्य देखकर भी हम उसके आकार-प्रकारको भूल जाते थे, किन्तु उसका नाम और उस सम्बन्धकी कोई बात सुननेसे वह हमें अच्छी तरह याद हो जाता था। हमें याद आता है, कि पाँच छः वर्ष की उम्रके समय हमारे पिता हमें ले एक बागमें जाया करते थे; भिन्न भिन्न वृक्ष और उसके पत्ते फूल फल दिखा वह हमें उसका नाम बताया करते। जिस नामको हम एक बार सुनते, वह हमारे मनमेंही रहता था; किन्तु यदि दो प्रकारके वृक्ष और फल एकही

प्रकारके होते, तो हम ठीक ठीक नाम बता न सकते थे; इसमें प्रायः भूल होती थी।

उम्र बढ़नेके साथ साथ बहुत कुछ वह दोष मिट गया। अब वैसी मोटी बातोंमें भूल हुआ नहीं करती। किन्तु तब भी अनेक समय भूल होती है, इससे बहुतही अप्रतिभ होना पड़ता है। * * "तुमने मकरसे एक भी बात न की। तुम्हारे न बोलनेसे वह खफा हो उठ गया।" * * "वह जो बैठा था, वह मकर था?" * * "नहीं तो और कौन था? उस दिन तुमने उससे इतनी बातें कीं, आज एक बारगीही पहचान न सके—उसे बड़ा दुःख हुआ होगा।" * * * "लड़केको चित्र खींचना क्यों सिखाते हो?" किसी आत्मीयसे ऐसी बात पूछनेपर मैंने कहा था,—"अपनेमें आकृतिके ग्रहण करनेकी व धारणाकी शक्ति कम है। लड़कोंमें यह दोष न आने देनेके लिये उसे दो तीन वर्ष चित्र खींचना सिखायेंगे।" "हम नहीं समझते कि तुम्हारी आकृति ग्रहण और धारणाशक्ति कम है। तुम कितनेही स्थानोंमें घूमते हो, कितनेही लोगोंसे मेल मुलाकात रखते हो—कभी किसीने कहा, कि तुम उन्हें पहचान न सके? आकृति ग्रहण और स्मृतिके कम होनेसे अवश्यही ऐसी बातें सुनाई देतीं।" "हम प्रायः आदमीको पहचान नहीं सकते; किन्तु उस विषमताको दूर करनेके लिये हमने एक उपाय निकाला है। जहाँ जिसके साथ मुलाकात होती, उसे हम एक कापीमें नामादि और स्थान सहित लिख लेते हैं। फिर वहां जानेसे पहले हम कापी देख नामादि याद कर लेते हैं। तुम्हारे आनेसे पहले यहां जो जो लोग आये, उन सब लोगोंका नाम हमने लिख रखा था। इसलिये भवानी बाबू व श्रीनाथ बाबूके आने पर ठीक ठीक बात चीत कर सका।" "तब दिखाई देता है, कि लोग जो यह कह अभिमान करते हैं, कि वह मुझे पहचान न सके, यह बड़े ही अन्यायका अभिमान है।" "कुछ अन्याय है ही, इसमें सन्देह नहीं, हमारे सम्बन्धमें यह बड़ा ही अन्याय है। इसमें भी सन्देह नहीं, कि हमारे जैसे आँख रहते अन्धे भी बहुत हैं। उस दिन एक साहबने हमारे पुत्रको उलहना दिया कि अमुक स्थानमें मुलाकात होनेसे तुम्हारे बाप हमें पहचान न सके।' "तुम इतने सावधान होकर भी 'पहचान न सके', इस अभिमानसे निस्तार न पा सके।' * * * "बहुत कुछ पा सके हैं।"

---

४२ प्रबन्ध ।

घरमें मृत्यु-घटना ।

संसारमें रहनेसे कभी न कभी मृत्यु घटना देखनी ही पड़ती है। सुहृद-वियोगकी यन्त्रणा सहनी ही पड़ती है। ऐसी दुर्घटना अनिवार्य्य है। इस दुःखके घटानेका एकमात्र उपाय है; समय बिताना।

हमारे अदृष्टमें इस दुर्घटनाका योग कई बार हुआ है। हमने अपघात-से स्वजनकी मृत्यु घटना देखी है। हमने चिकित्साके दोषसे भी प्रीतिभाजन-को खोया है। हमने अचिकित्स्य व्याधिकी पीड़ासे प्रियजनके वियोगदुःखको भोगा है। अपने किसी किसी सुहृदको क्रमशः हीनशक्ति हो पञ्चतत्त्वमें मिलते देख सदा मनस्तापसे दग्ध हुए हैं। हमने अपने प्रियतमको एकाएक रोगाक्रान्त हो एक बारगी ही गायब होते देखा और वज्राहतकी तरह चेतना शून्य भी हुए। अपने मना करते रहने पर भी परिवारकी लापरवाही-से हमने बच्चोंको पीड़ित और विनष्ट होते देख भीतर ही भीतर जले हैं। हम बहुत दिन बचे हैं—मृत्युको हमने अनेक रूपमें देखा।

किन्तु उन सब दुर्घटनाओंका वर्णन कर हमारी किसीको दुःख देनेकी इच्छा नहीं। संसाराश्रममें रह जब कोई स्त्री-पुरुष यमकी यन्त्रणासे निपी-डित हों, तब उस समय उनके लिये हम कुछ उपदेश प्रदान करते हैं। (१)वह अपनी दुःखकी अवस्थामें अपने परिचित अन्यान्य स्त्री-पुरुषोंमें जो उस प्रकारकी यातना पा चुके हैं, उनको याद करें। (२) जो दुर्घटना हुई है, उससे यदि अपनी अपेक्षा अधिक अथवा समान परिणामसे कोई परितप्त हुआ हो, तो उसे धैर्य्य देनेके काममें लगना चाहिये, इससे अपना दुःख कम होगा और शास्त्रके आदेशका भी पालन होगा। (३) पुत्रशोकसे गर्भधारिणी माता या पिताको जो दुःख होता है, पत्नी वियोगसे पुत्र कन्याओंको जो दुःख और निरा-श्रयता होती है, मातृवियोगसे पिताको कष्ट और बन्धु वियोगसे बन्धु और परि-वारवर्गकी कातरता—इन सब दुःखोंके प्रति लक्ष्यकर यथासाध्य उन सब दुःखोंसे सहानुभूति प्रकट करना चाहिये। ऐसा करनेसे जिसकी वियोग यन्त्र-णासे पीड़ित होते हैं; उसके ही प्रतिनिधित्वको प्राप्त करेंगे। (४) अपने दुःखके प्रति अधिक मन लगानेसे कर्त्तव्यसाधन नहीं होता। इससे दुःखका भार बढ़ता, अस्थिर और अधीर होना पड़ता, अयौक्तिक, अधर्म्म और अशास्त्रीय अकार्य हो जानेकी सम्भावना बन जाती है।

---

४३ प्रबन्ध ।

चिकित्सा कराना ।

हमारे घर जो डाक्टर आते, वह सभी अनुग्रह कर हमसे सलाह ले औषध की व्यवस्था करते थे। ऐसा होने का मूल कारण यह था, कि घरके सब लोगों की स्वास्थ्यरक्षा का यत्न करना हम अपना कर्त्तव्य समझते थे। डाक्टर को हम अपना प्रतिनिधि समझते थे। ऐसा विचार कर चलनेसे घर में किसीके बीमार होनेसे हमें अपनी आँखों उसके शरीर की अवस्था देखना पड़ती थी, अपने हाथ उसकी कुछ सेवा शुश्रूषा भी करनी पड़ती थी। सुतरां बीमारीके भाव और गति को मन लगा समझने का प्रयोजन और सुयोग होता था। डाक्टर लोग भी समझ गये थे, कि हमसे पूछ वह पीड़ाके प्रकृत लक्षण को अनायास ही समझ सकेंगे। इसलिये हमारे घरके चिकित्सक डाक्टर लोग हमारी सलाह लेना उचित समझते थे।

किसी समय हमारे घरके चिकित्सक किसी कारणसे दूसरे स्थान में चले गये थे। एक बालक को बहुत ही कठिन ज्वर बिकार रोग उपस्थित हुआ। लाचार एक अङ्गरेज डाक्टर को बुलाना पड़ा। उन्होंने आ लड़के को देखा और औषध का व्यबस्था-पत्र लिख दिया। हमें अभ्यास था कि डाक्टर से पीड़ाकी व्यवस्था और औषधके प्रयोग का फल पूछना। उसी अभ्याससे हमने उनसे भी पूछा। पूछा, कि असली रोग क्या और जिस औषधकी व्यवस्था हुई है, उसका फल क्या होगा। अङ्गरेज पहले कुछ अवज्ञासूचक हँसी हँसे; इसके बाद उन्होंने हमारे मुखपर विशिष्ट कष्टका लक्षण देख या चाहे जिस कारणसे हो, कुछ कोमल स्वरसे कहा, "फिर कहूंगा।"

डाक्टर साहब चले गये। हमने उनके दिये व्यवस्थापत्र को दवाखानेमें भेज दवा मँगवाई। पहले औषधकी एक मात्रा हमने पीली; कुछ देरके बाद औषधकी आधी मात्रा लड़केको पिलायी। सन्ध्या समय डाक्टर साहब आये। रोगी की नाड़ी देख उन्होंने घड़ी निकाली; इसके बाद उन्होंने फिर नाड़ी देखी। तब सिर उठा पूछा, कि उसे कितने दस्त आये। मैंने कहा पांच बार। "पांच बार!!! क्या हरेक बार अधिक हुआ था?" "कुल दो सेर एक छटांक हुआ"। "दो सेर एक छटांक, तुमने ठीक ठीक वजन कैसे मालूम किया?" "मैंने तौला था—वह जो तसला दिखाई देता है, उसीमें पाखाना फिरा मैंने तौल कर

देखा था।" डाक्टर साहब कुछ गम्भीर मुख हुए। रोगीके घरसे बाहर निकल उन्होंने कहा,—"दस्त होनेसे कोई खराबी नहीं हुई, बहुत कुछ विकार बाहर निकल गया। अब दूसरी दवा दी जायगी।" * * * 'क्या इससे अधिक दस्त आनेसे और अच्छा होता?" * * * "इतनेहीसे रोगी अधिक दुर्बल होगया है, और अधिक होनेका प्रयोजन नहीं।" * * * "तब जो हमने पूरी खुराक दवा न दे आधी खुराक दी, वह अच्छा किया।" * * * "क्या कहा?" * * * "इस दवाकी शीशी देखिये। हमने चार बार औषधि खिलाई है; किन्तु शीशीसे कुल तीन खुराक कम हुआ है। इस तीन खुराकमें एक खुराक मैंने खाई और दो खुराकमें आधा आधा कर चार बार लड़केको खिलाई।" * * * "तुमने स्वयं दवा क्यों पी?" * * * "औषधिकी ताकत देखनेके लिये।" * * * "कैसी ताकत देखी?" * * * "आधे घण्टेमें मुझे जुलाब हुआ, जोरसे दस्त आया और शरीरमें पसीना आगया। अपनी शरीर पर इतनी ताकत देख हमने बच्चेको आधी दवा दी।" डाक्टर साहब सिर नोचा कर कुछ देर चुप रह गये, हमने फिर कहा,—"मेरी स्त्री सारे दिन बालकके पास ही थी। उन्होंने कहा, कि बालकको छः घण्टेमें आठ बार खांसी आई। क्या उसका फेफड़ा कुछ खराब हो गया है?" डाक्टर साहबने कहा, "ऐसा ज्वर चाहे एकही बार क्यों न हो, किन्तु वह क्रम क्रमसे प्रायः सभी अङ्ग पर कुछ न कुछ आक्रमण करता है; किन्तु घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं. अबसे मैं जिस औषधिकी व्यवस्था करूंगा, उसका फल आपसे पहले ही कह जाऊंगा।" डाक्टर साहब जिस समय यह सब बातें कह रहे थे, उसी समय हमारे घरके डाक्टर आ उपस्थित हुए। उन्होंने यह बातें सुन कहा,—" मैं ऐसाही किया करता हूं। वह अपनी आंखों सब देखा करते हैं। अपने हाथ रोगीको औषधि देते हैं और सेवा करते हैं; इनसे सलाह ले इनके घर चिकित्सा करनेमें विशेष सुविधा होती है। विशेषतः अपनी राय दे बहादुरी दिखाना नहीं चाहते। उनकी यह इच्छा रहती कि चिकित्सक समझें, हमने जो जो देखा है, वह सब सुनें, इसके बाद व्यवस्था करें। फिर यह भी बता दें, कि व्यवस्थाका फल कैसा होगा! ऐसे मनुष्यसे अवश्य सलाह लेनी चाहिये।" डाक्टर साहबने कहा,—"मैंने आज तक अङ्गरेज या हिन्दुस्तानी रोगीकी सेवाका इतना यत्न नहीं देखा। तुमने जैसा कहा, यहाँ ऐसाही काम करना चाहिये।" यह कह डाक्टरसाहब जोरसे

हाथ मिला चले गये। जबतक वह जीते रहे, तबतक हमपर उनकी अनुकूल दृष्टि रही।

---

४४ प्रबन्ध।

रोगीकी सेवा।

जिस घरमें रोगीकी सेवा अच्छी नहीं होती, वह घर अच्छा नहीं। उस घर में स्नेह और ममता कम है। स्वार्थपरता अधिक है। आत्मत्यागकी शक्ति कम है। विलासिता अधिक है। उस घरके स्त्री पुरुष सहज ही धर्म्मपथसे भ्रष्ट हो पड़ते हैं। वह लोग उन्नतजीवनके अधिकारी हो नहीं सकते।

जिस घरमें रोगीकी सेवा अच्छी होती, उस घरमें कई विशेष लक्षण हैं; उनमें हम कई एक लिखते हैं।—

(१) उस घरके सामानोंमें ऐसे कितने ही द्रव्य दिखाई देते हैं, जो रोगीके लिये विशेष उपकारी और प्रयोजनीय हैं। जैसे जल गरम करनेका केटल, फलानेल और मलमलके टुकड़े, खल बत्ता, हमामदस्ता, मेझर ग्लास, गरमजलमें न फटनेवाली बोतल, अच्छी निकी, सोणी, बेडप्यान क्लिनिकल, थर्म्मामीटर और औषधिका बक्स या अलमारी।

(२) उस घरमें स्त्री या पुरुष किसीके बीमार होते ही, चाहे वह कितनी ही सामान्य बीमारी क्यों न हो, घरके मालिक उसी समय समाचार पाते हैं।

(३) उस घरमें यदि कोई कठिन बीमारी उपस्थित हो, तो घरके लड़के तक उसके लिये विशिष्ट रूपसे आज्ञा पाते हैं।

(४) अधिक पीड़ासे घरके सब लोग शान्तभाव धारण करते; कोई किसीसे कलहमें प्रवृत्त नहीं होता। कोई ऊँचे स्वरसे बातें नहीं करता। घरके विद्वान् लोग भी साहबी चालसे चर्रमर्र करते नहीं चलते। लड़के भी धीरे धीरे पैर रखते चलते हैं।

(५) रोगीके समीप रहनेके लिये पहरा बदलनेकी तरह दिन रातमें पारिवारिक स्त्रियां और पुरुषों का पहरा बदला करता है। जो सेवामें नियुक्त होते, उनके काम को घरके लोग आपसमें बांट लेते हैं। घर का सब काम ठीक तरहसे चलता रहता है। बासनकी ठनक, घरके सामानों की ठनक कुछ भी सुनाई नहीं देती।

(६) रोगीको पथ्य और औषध यथासमय दिया जाता है। शीघ्रता भी नहीं और विलम्ब भी नहीं। कुछ भी विपर्य्यय नहीं। घरके कितनेही लोग रोगीको पथ्यादि देनेमें सक्षम होते हैं।

(७) रोगका लक्षण देखना और चिकित्सकको उससे अवगत करना, परिवारके कितने ही लोगोंके लिये साध्य होजाता है।

(८) रोगीकी चिकित्सामें कम खर्चका नाम भी नहीं रहता है।

इसका हम कोई अन्दाज कर न सके, कि रोगीकी सेवा कहांतक करनी चाहिये। इस विषयमें हमारे परिवारका गुण हमारी आंखोंमें अपरिसीम जान पड़ा है। उस समय समस्त परिवारका रुपया और मन एक हो जाता है। हमने अपनी आंखों अङ्गरेजोंकी बीमारीमें उनके घरकी सेवा और चिकित्सा देखी है। पीड़ित मनुष्यकी स्त्री यदि थोड़ी रात भी जागी और ठीक समय पर हाजिरीका खाना न खा सकी, तो उनकी बड़ी प्रशंसा होती है। बीमारके भाई यदि उनके घर आये और नोकरोंसे दो तीन बार पूछ गये, कि भाई कैसे हैं, अवसरके साथ उन्होंने बीमारीके सम्बन्धमें दो एक बातें कर लीं, तो उन्होंने भाईका कर्त्तव्य पूरा कर लिया। मित्र अङ्गरेज यदि घरके दरवाजेपर आ अपने नामका कार्ड रख गये, तो वह सामाजिक नियमसे छुटकारा पा गये। इस विदेशमें अङ्गरेजोंकी बीमारीके समय वेतनभोगी खानसामा आदि द्वारा जो सेवा होती है, वही होती है। इन लोगोंके स्वदेशमें भी परिवार वर्गको बहुत कुछ करना नहीं पड़ता। वेतन ग्राहिणी धात्री अथवा दयावती उदासिनीगण इनके रोगोंकी सेवा करती हैं।

यहां हम और एक बात कह रखते हैं। अस्तबलमें यदि एक घोड़ा बीमार हो जाय, तो अस्तबल के सब घोड़े भाग जाने की चेष्टा करते हैं। गोशाले में एक गोके बीमार होने पर दूसरी गो उसे देखते ही पूंछ उठा भागना चाहती है, कुत्ते, बिल्ली, बकरी, भेड़, मयना, सुग्गा, आदि सभी पशुपक्षियों का ऐसा ही हाल है। प्रायः कोई अपने जातिके पीड़ितके पास जा उसके शरीर को झाड़ने या चाटने की चेष्टा नहीं करते। अतएव पीड़ितकी शुश्रूषा पाशव धर्मका विपरीत कार्य्य है। जिस मनुष्य जातिमें पाशवभाव कम है, वह जातीय मनुष्य पीड़ित की सेवा में उतना ही अधिक यत्नशील होता है। अतएव रोगी की सेवाके लिये अंगरेजी रीति हमलोगोंके योग्य नहीं।

यदि रोगीकी सेवाकी कोई सीमा होती, तो वह सीमा बाहरसे निर्दिष्ट

होनेकी नहीं। यह सीमा सेवा के उद्देश्यसे हो पाई जाती है। सेवाका उद्देश्य है रोगी को रोगसे छुड़ाना। रोगी के मन में भयका संचार होनेसे रोगमुक्तिकी चेष्टा विफल होती है। इसलिये इस भावसे सेवा करनी चाहिये जिससे रोगी समझ न सके, कि उसके लिये परिवार बहुत ही भीत हुआ है। तुम स्त्री, पुत्र, या भाई हो, तुम रोगीकी सेवामें नियुक्त हो, तुम्हारे भोजनका समय आया, इस अवसरमें जो रोगीके घरमें बैठेगा, वह आया। तुम्हें भोजन करनेका अवसर मिला। किन्तु तुम जाना नहीं चाहते। इससे रोगी क्या समझेगा, क्या वह नहीं समझेगा, कि तुम उसकी बीमारीसे बहुत डर गये हो? फिर यह समझ क्या वह भी भीत न होगा? अतएव तुम ऐसा न करो। धैर्य्यावलम्बनकर भोजन करने जाओ। तुम माँ हो, बच्चा बीमार हो तुम्हारी गोदमें सोया है—तुम रात दिन उसके मलिन मुखमण्डलकी ओर एक दृष्टिसे देख रही हो। खाने भी नहीं जातीं, सोना भी नहीं चाहती, एक बारगी ही अपना शरीर गला रही हो। यदि बच्चा तुम्हारा दूध पिये, तो तुम्हारा शोक-विह्वल हृदय-शोणित दूषित हो रहा है, तुम्हारा जो दूध उसके लिये सबसे अच्छा पथ्य है, वह विषवत् बन रहा है। इससे तुम अधीरा हो शिशुका कोई उपकार कर नहीं रही हो, उसे दूषित स्तनसे विष पिला साक्षात् उसकी वधभागिनी बन रही हो। फिर समझ लो, कि वह दूधका बच्चा नहीं; तुम्हारा रोना, हाहुतास, उपवास और अनिद्राके असली वजहको समझनेमें समर्थ है। तब तो वह बड़ा भीत होगा। किन्तु ऐसा काम करना न चाहिये, जिससे रोगी भीत हो। अतएव धैर्य्यावलम्बन करो, अपने शरीरको ठीक रखो, बच्चेका सबसे अच्छा पथ्य न नष्ट करो। इसीसे प्राचीन गृहिणीगण कहती हैं,—
"बीमार लड़केको गोदमें ले आँसू गिराना अशकुन है।"

तब क्या रोगीके आगे हँसी खेल विद्रूपादि कर यह दिखाना चाहिये, कि हम उसके रोगसे भीत नहीं। बल्कि ऐसा करना अच्छा, तब भी अधीर और भयविह्वल होना अच्छा नहीं। किन्तु ऐसे बनावटी व्यवहारोंमें भी बहुत दोष हैं। जो बनावटी और मिथ्या है उसका फल कभी उत्तम नहीं होता। रोगी उस बनावटसे नाराज होता है। अथवा यदि नाराज न हो, तो तुम्हें निर्मम और हृदय-शून्य समझेगा। अथवा स्वयं हँसी-खेलमें पड़ अपनी नाड़ीको चञ्चल और स्नायुमण्डलको विलोडित कर डालेगा। अतएव ऐसी बनावट भी बुरी है।

रोगीका सेवक सदा रोगीके प्रति तन्मनस्क हो रहे। उसे जो कष्ट हो रहा हो, वह विना उसके कहे और विना इशारेके समझना चाहिये तथा उस कष्टके दूर करनेका जो उपाय हो, उसे उसी समय करना चाहिये। किसी प्रकार व्यस्तताका लक्षण दिखाना न चाहिये। स्वयं धीर, शान्तमूर्त्ति हो पीड़ितरूप देवताकी पूजा करनी चाहिये।

पीड़ितके सेवक और देवताके साधकमें बहुत कुछ सादृश्य है। साधकको स्थिरासन हो बैठना पड़ता है। चुलबुले लोग, जो सदा कभी एक बगल बैठते कभी दूसरी बगल, एक तरहसे बैठ नहीं सकते, वे अच्छे सेवक नहीं कहाते। साधकको निश्चल-दृष्टि होना पड़ता है। उनके हृदयमें ध्यानगम्य इष्ट मूर्त्ति सदा जागती रहती है। सेवकको भी पीड़ितकी पहली मूर्त्ति और पहले भावोंको अच्छी तरह याद रखना चाहिये। ऐसा होनेसे व्याधिजनित लक्षण विपर्य्यय उनकी समझमें आता है। साधकके लिये तन्मनस्क होना बहुत ही आवश्यक है। सेवकको भी पीड़ितके प्रति तन्ममस्क हो रहना चाहिये। ऐसा न होनेसे वह समझ न सकेंगे, कि उसे किस समय किस वस्तुकी आवश्यकता हुई, रोगीको बातोंसे या इशारोंसे अपना प्रयोजन प्रकट करना पड़ेगा, रोगी मनुष्य वैसा कर भी नहीं सकते और करना चाहते भी नहीं; यदि करना पड़े तो असन्तुष्ट और दुःखी होते हैं। जिन सेवक या सेविकामें साधकके ये सब गुण मौजूद हैं, उसके रोगीके घरमें जाते ही रोगीको प्रसन्नता होती है। वह घरमें आते ही समझ जाते हैं, कि थोड़ा जल चाहिये, दो चार मुनक्का चाहिये, शरीरका चदरा थोड़ा पैतानेकी ओर खींच देना चाहिये, तकिया कुछ ऊँची कर देना चाहिये, फूलोंको बटोर कुछ दूर वा समीप रखना चाहिये, शीतल हाथ कपाल पर लगाना चाहिये, थोड़ा दबा हलका हाथ रखना चाहिये इत्यादि इत्यादि। वह धीरे धीरे स्वयं सब काम करने लगते हैं। इससे बीमारके चेहरे पर मृदुहासकी आभा झलकने लगती है। वह सेवासे कृतार्थ होजाता है।

परिजन गण उल्लिखित भावसे रोगीकी सेवा करें। गृहस्वामी सबको सतर्क कर दे, कि बीमारका बिछौना, तकिया, वस्त्रादि घरके किसी मनुष्यके वस्त्रादिसे मिलाया न जाय। उसका मल, मूत्र, क्लेदादि घरसे अधिक दूर फेंका जाय और वह स्थान साफ रखा जाय। उसके व्यवहारमें आनेवाले बरतन घरके और सब बरतनोंसे अलग रहें। जहां तक बने, सेवक लोग जिस कपड़ेसे रोगीके घरमें

रहें, उस कपड़ेको बिना बदले घरके अन्यान्य लोग, विशेषतः बालक बालिका-ओंके समीप न जायँ। गृहस्वामी पीड़ाका प्रकृत विचार कर यह सब आज्ञा दे दें। सब परिजन उनकी आज्ञा का पालन करें। गृहस्वामीकी आज्ञाका परिजन लोग इसलिये पालन करें, कि घरकी स्त्रियां विशेषतः बीमार लड़केकी मां इन सब विषयोंमें भ्रमान्ध हो लड़केके विष्ठा मूत्र आदिसे घृणा करनेमें अकल्याण समझ इस आदेशके पालनमें शिथिलयत्न होती हैं। वास्तवमें बीमारके मलमूत्रसे घृणा करना अकल्याण है सही, और ऐसा करना भी न चाहिये, किन्तु हम घृणा दिखा नहीं रहे हैं, केवल स्पर्श दोषके दूर करनेका उपाय बता रहे हैं। लड़कोंकी मां इस बातको कभी न भूले, कि एक माताके गर्भ से उत्पन्न लड़कोंमें बीमारी सहज ही संक्रामित होती है। बड़ोंकी पीड़ा छोटोंपर जितनी दौड़ती है, छोटों की बीमारी बड़ोंपर उतनी नहीं दौड़ती। युवा और प्रौढ़ मनुष्यकी पीड़ा भी संक्रामकधर्म्मी होती है। वृद्धकी बीमारी कम संक्रामक है।

---

४५ प्रबन्ध।

भोजनादि।

पारिवारिक सब कामोंमें भोजन एक प्रधान काम है। भोजनकी व्यवस्था बहुत विचार कर करनी पड़ती है। इस काममें भी दिव्य भाव लाना पड़ता है; वस्तुतः धर्म्मशास्त्रके अनुसार यही नित्य-यज्ञ है और गृहाश्रमी समस्त मनुष्य इस यज्ञके पूर्णाधिकारी हैं।

इस नित्य यज्ञके देवतागण शरीरी हैं, साक्षात् परिदृश्यमान्, सन्तोषासन्तोष प्रकाशमें सक्षम और बाध्य हैं। यह समझमें नहीं आता कि अशरीरी देवता निवेदित होम नैवेद्यादि पा उसे ग्रहण योग्य समझे या नहीं। किन्तु भोजन रूप नित्य यज्ञ जिनकी प्रसन्नताके लिये उत्सृष्ट होता है, वह उसके दोष और गुणको बता सकते हैं।

घरके स्वामीको चाहिये, कि वह घरमें प्रस्तुत जिस किसी खानेकी सामग्रीको भोजन करें, अवश्य अवश्य उसके दोष गुणको बता दें। वह यदि न कहेंगे, तो कभी उनके घरकी रसोई अच्छी न बनेगी। इस विषयमें हमारे एक बहुत ही मित्रसे एक दफे बातचीत हुई थी। उन्होंने कहा,—"आपके घरकी

रसोई अच्छी बनती है, किन्तु तब भी मैं देखता हूं, कि यदि कभी एक व्यञ्जन भी बिगड़ जाता है तो आप उस व्यञ्जनके दोषको प्रगठ कर देते हैं। किन्तु मैं ऐसा नहीं करता। देखिये, कि बहू, गृहिणी आदि जो सब रसोई बनानेमें लगती हैं, वह कितना परिश्रम करती हैं; उनमें जहाँ तक सामर्थ्यहै, वहाँ तक करती हैं। उनके कामकी प्रशंसा न करनेसे निष्ठुरता होती है। हमें घरमें जो मिलता, उसे ही अच्छा समझ हम खा लेते हैं"। हमने कहा,—"हमारी प्रणालीमें कुछ निष्ठुरता है तोही किन्तु शिक्षा प्रदानका काम जिस विषयमें हो, उसमें कुछ कठोरता रहनी ही चाहिये। यदि घरकी रसोई अच्छी बनवाना चाहो, तो कठोरताके प्रयोगसे इतना न डरो। जो काम करो वह अच्छा करो, इस संस्कारमें अपनेको डालो और परिवारको भी इसी में बद्धमूल करो। यह एक धर्म्मबीज है"।

हमारा यह दृढ़ संस्कार है, कि जिस घरकी रसोई अच्छी, नहीं, वह घर भी अच्छा नहीं। अर्थात् उस घरकी स्त्री और पुरुषोंको यज्ञ करनेका अभ्यास नहीं होता। वह लोग कुछ आलसी, कुछ अयत्नपर, कुछ सुख्याति विमुख और सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुखदुःखके समझनेमें कुछ अनुभूतिशून्य हो जाते हैं। जिस घरकी रसोई अच्छी अर्थात् जिस घरमें नित्य-यज्ञ का व्यापार ठीक अभ्यस्त है, उस घरका नैमित्तिक यज्ञ भी अर्थात् अतिथि-सत्कार, ब्राह्मण-सज्जनका भोजनादि, बहुत ही अच्छी तरह निर्व्वाहित होता है।

रसोई अच्छी बनानेका उपाय गृहस्वामीके शिक्षादानमें प्रवणता है। इससे हा बहुत कुछ होता है, किन्तु यदि रसोईके विषयमें शिक्षा देनेकी कुछ क्षमता हो, तो सोनेमें सुहागा मिल जाय। पुरुषसे रसोईके सम्बन्धमें शिक्षा पानेसे स्त्रियां बहुत ही लज्जिता होती हैं, वह शीघ्र सचेत हो स्वयं अच्छी रसोई बनाना सीखती हैं। जिस घरके स्वामी रसोईमें मन लगाते हैं, और बता सकते हैं, कि किस प्रकार नये नये प्रकारका व्यञ्जन बनाना चाहिये, उस घर की स्त्रियां रसोईके कामको गौरवसूचक समझती हैं और उसमें उत्कर्ष तथा पूर्णता साधन कर सकती हैं।

घरकी रसोई अच्छी बननेमें और एक बाधा है। उसे भी घरके स्वामीको यत्नके साथ दूर करना चाहिये। रसोईकी सामग्री अच्छी होनी चाहिये। यज्ञीय द्रव्यको बहुत ही यत्नके साथ संग्रह करना चाहिये। किन्तु आजकल ऐसी मिलावटका अभ्यास हो गया है, कि बिना क्लेशके कोई वस्तु अच्छी नहीं

मिलती। तेल, घी, दूधादि प्रायः ही अच्छा नहीं मिलता। अन्न और तरकारी भी यत्न पूर्व्वक न देख खरीदनेसे अच्छी नहीं मिलतीं। अतएव द्रव्य संग्रहके विषयमें घरके स्वामीको दृष्टि रखनी चाहिये।

देशाचार है, कि पवित्र होकर रसोई बनाना चाहिये। शास्त्रका आदेश है, कि यज्ञीय द्रव्यको पवित्र हो बनाना चाहिये। स्नान कर अथवा हाथ मुँह धो और कपड़े बदल रसोई घरमें जाना चाहिये। इससे रसोई बनानेमें विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है और रसोई भी अच्छी होती है। आर्य्यजातिके अतिरिक्त अन्यान्य जातियोंमें और चाहे जो गुण हों, उनकी पवित्रता रक्षाके लिये कोई यत्न नहीं होता। बहुत बड़े अङ्गरेजोंके भी बावर्ची खानेमें प्रवेश करते ही घृणा उत्पन्न होती है। रसोई दारोंके हाथ, पैर, मुँह, वस्त्रादि बहुत ही मैले, घरमें असह्य दुर्गन्ध, भोजनपात्रादिके साफ करनेकी प्रणाली बहुत ही निन्दनीय है। भोजनकी सामग्रीके रसोई घरमें तय्यार हो बाहर आनेपर, तब परोसनेवाले साफ सुथरे हो द्रव्यादिको सुन्दर रूपसे सजाते हैं। किन्तु हमलोगोंके शास्त्रमें अन्नको प्रजापति और ब्रह्म कहते हैं। हमलोगोंका कर्त्तव्य है, कि पहलेसे लेकर अन्ततक उसकी पूरी पवित्रता रक्षा करें।

अङ्गरेजोंकी भोजन प्रणालीसे हमलोगोंके सीखने योग्य अधिक कुछ नहीं। वह लोग नित्य मांस भोजी हैं। अङ्गरेज लोग जितना मांस खाते हैं, उतना और कोई युरोपीय जाति नहीं खाती। इस देशमें इतना मांस खाना सहा जा नहीं सकता। अङ्गरेज लोग तीव्र शराब पीनेमें अनुरक्त हैं। किन्तु २५ वर्ष पहले वह लोग जितनी तीव्र शराबका सेवन करते थे आजकल उतना नहीं करते। हमलोगोंके देशमें शराब पीनेसे आयु क्षय होती है। अङ्गरेज लोग सड़ा मांस और सड़ी मछली खाते हैं। विना मांस मछली सड़ाये वह लोग खाते ही नहीं। हमारे देशमें ताजा खाना है सड़ा खाना एक बारगी ही मना है। अङ्गरेज लोग चीनका बरतन और कांचके ग्लास और कटोरीका व्यवहार करते हैं। यह बहुत ही चमकीली चीज है। विचार कर देखने से यह बनावटी प्रस्तर है। हम समझते हैं, कि देशाचार क्रमशः उन पात्रों का व्यवहार प्रचलित करेगा। तब भी वह देशी कुम्हारों द्वारा तय्यार हो, तो अच्छा है। अङ्गरेज लोग टेबुल बिछा कर कुरसी रख कर खाते हैं। उनकी खाने की सामग्री अधिकांश सूखी होती है। किन्तु जब वह कभी रस्सेदार तरकारी खाते हैं, तब कपड़ा खराब होनेके भयसे एक तौलिया लटका लेते हैं। उस समय

कुरसी पर बैठनेकी शोभा उतनी चित्ताकर्षण नहीं करती। हम लोगोंके खाने की सामग्री अधिकांश ही सरस और सजल है और इस देशमें वैसा ही होना चाहिये। सुतरां हम लोगोंको टेबुल पर बैठनेमें सुविधा नहीं है। अङ्गरेज लोग चमचका व्यवहार करते हैं, हाथसे नहीं खाते। उनका यह व्यवहार भी हमें बुरा जान नहीं पड़ता। तब भी हम लोगोंके भोजनमें कांटा और छुरी निष्प्रयोजन है। अङ्गरेज लोग स्त्री पुरुष एकत्र भोजन करते हैं। हमारे विचारसे यह प्रथा अच्छी नहीं। उससे स्त्रियोंकी लज्जाशीलतामें व्याघात पहुँचता है। परन्तु यज्ञीय द्रव्यका शक्ति और प्रीतिपूर्व्वक निवेदन शास्त्रीय है। अतएव भोजनके समय घरकी स्त्रियां समीप बैठ खिलायें और घरकी स्त्रियां ही परोसें। हाथमें द्रव्य रखकर परोसना न चाहिये। यज्ञीय भोगादिके जैसे श्रुवसे दिया जाता है, वैसे ही परोसनेके समय भी चमच, कलच्छी, कटोरी आदि द्वारा करना चारिये। बच्चे समीप बैठकर खायें। नित्य भोजनमें ऐसा ही व्यवस्था होनेसे भोजनमें शीघ्रता नहीं होती। इससे खानेके समय कितनी प्रकारकी बातें, कहानियां और गप्पें लड़ती हैं। हँसी खेल भी चलता है, राक्षसभाव नहीं रहता, मुँहकी विकृति और शब्द भी नहीं होता, अङ्गुलीमें अधिक भोजनकी सामग्री नहीं लिपटती और कितने ही पथ्यापथ्यका भी विचार चलता है।

पथ्यापथ्यका विचार कुछ अङ्गरेजी ग्रन्थोंसे हो सकता है, किन्तु उससे सम्पूर्ण रूपसे शिक्षा नहीं मिलती। उनकी विचारप्रणाली रासायनिक शास्त्र-सम्मत है। असलमें शारीरिक-शास्त्र-ज्ञान-समुद्भूत नहीं। इन लोगोंमें एक पण्डितने देखा, कि गेहूंमें इतना अमुक पदार्थ है, इतना अमुक पदार्थ है, इतना तीसरा पदार्थ है; किसी दूसरे पण्डितने बताया, कि चावलमें यह यह पदार्थ इतने इतने अंश हैं; एकने दूधका, एकने मांसका, इस प्रकार सबने सब मूल निकाला। किन्तु उस प्रणालीमें वास्तविक पथ्यापथ्यका निरूपण नहीं होता। पहले तो उस प्रणालीका परीक्षा-विधान बड़ा ही कठिन है। बहुत ही विख्यात पण्डितोंका भी, एकसे दूसरेका मत नहीं मिलता। दूसरे मनुष्यके पेटमें उस सामग्रीके पड़नेसे जैसा विश्लेषण होता है, उससे शरीरके लिये पालनीय जो सब गुण उत्पन्न होते हैं, सामान्य रासायनिक विश्लेषण द्वारा उनके वह सब गुण पहचाने जा नहीं सकते। तीसरे इस देशकी उत्पन्न और प्रचलित भोजनकी सामग्री, युरोपके उत्पन्न

खाद्य सामग्रीसे बहुत कुछ भिन्न है। इसलिये युरोपीय पण्डितोंके परीक्षा-विधानसे हम लोगोंका खाद्य सामग्रियोंका गुणागुण समझना कठिन है। फल यह है, कि जैसे औषधका गुणागुण औषधके खानेसे ही प्रकट हुआ है, वैसे ही खाद्य सामग्रीका गुणागुण, जिन लोगोंने उसे खाकर जाना है, वही यथार्थ जान सके हैं। हम लोग अपने प्राचीन चिकित्सा शास्त्रसे ही पथ्या पथ्यका विचार कर जिस समय जिसकी विधि है, वैसे ही खायेंगे। जिसकी विधि नहीं, निषेध भी नहीं, वह भी खायेंगे, जिसका खाना मना है, वह न खायेंगे।*

पथ्यसेवी होना एक व्रत है। जिन्हें इस व्रतका बचपनसे अभ्यास है, वह रोगयन्त्रणासे बहुत कुछ बचे रहते हैं, दीर्घायु होते हैं। और सदा कर्म्मक्षम शरीर धारण कर सुख भोगते हैं। जो समझते हैं, कि पथ्य सेवियोंका भोजनसुख कम है वे भ्रान्त हैं। ऐसा ही नहीं, कि पथ्य सेवियोंको

* १। ग्रीष्मऋतुका पथ्यापथ्य।—पुराना चावल, पुराना गेहूँ, पुराना जव, काले मूँगकी दाल। जङ्गली पशुपक्षियोंका मांस। जवका सत्तू ठण्ढे जलमें खूब पतला घोलकर। दूध, गो, या भैंसका (चीनी मिलाकर) केला, किसमिस, कटहर, आम। लघुपाक, स्वादु स्नेह (घृत तैलादि) से तैय्यार हुआ द्रव्य। निर्म्मल हलका ठण्डा पानी, दिनमें सोना, पङ्खेकी हवा।

२। वर्षाका पथ्यापथ्य।—पुराना चावल, गेहूँ, जव, धोई मूँगकी दाल। शुष्क देशवासी पशुपक्षियोंका मांस। मांसरस। लघु आहार। दिव्याम्भः (वर्षाका पानी)। पकाया जल। ऊँची जगह शयन। ठण्ढी हवा, दिनमें निद्रा, नदी जल और अधिक जलीय द्रव्य मना हैं।

३। शरत्का पथ्यापथ्य।—चावल, गेहूँ, धोई दाल, चनेकी दाल। मरु देशीय पशुपक्षीका मांस। मांसरस। घी, शहद, दूध, ऊख, आंवला, परवल। अंशूदक, अर्थात् जिस जलमें सूर्य्य और चन्द्रकिरण विशेषरूपसे लहते हो। पित्त प्रकोपकी वस्तुओंका खाना मना है।

४। ५। हेमन्त-शिशिरका पथ्यापथ्य।—गेहूँ, उसके लड्डू, खीर और ऊखकी चीजें, चर्बीवाली चीजें, आनुप पशुपक्षियोंका मांस, विलेशय जन्तुका मांस, स्नेहपूर्ण उष्णवीर्य्य द्रव्य। गरम घरमें वास। बहुत ही शीतल जल मना। दिनमें सोना मना।

६। वसन्तका पथ्यापथ्य।—अच्छी तरह व्यायाम, अच्छी तरह उद्वर्त्तन और स्नान। पुराना गेहूँ, जव, चावल। जंगली मांस। घी, शहद व सोंठका शरबत। तीता कड़ुआ, कसैला आदि द्रव्य खाना। दिनमें सोना मना है।

खानेमें बहुत छान-बीन करनी पड़ती या स्वादहीन सामग्री खाई जाती है। असली पथ्यमें एक विशेष गुण है। वह थोड़े अभ्याससे बहुत ही सुस्वादु बन जाता है। उसे ग्रहण करनेसे भोजनका सुख और अधिक आनन्द होता है। वह पुष्ट भी करता और हृष्ट भी करता है। और एक बात है। सब लोगोंके लिये सब समय एकही प्रकारका पथ्याहार नहीं होता। धातुभेद और कार्य्य भेदसे पथ्यका भेद होता है। एक मनुष्यके लिये सब समय एकही पथ्य नहीं होता। जो बहुत दिनोंके पथ्यसेवी हैं, वह संस्कार गुणसे ही समझ सकते हैं, कि किस समय क्या खानेसे वह अच्छे होंगे।

भोजन पेट भर करना न चाहिये। किन्तु पथ्यसेवियोंमें प्रायः ही अति भोजन दोष नहीं होता। वह लोग भोजनके गूढ़तम सर्व्वाङ्गीण सुखके इतने पक्षपातवाले होते हैं, कि केवल रसनाकी तृप्तिसे उन्हें पूरे सुखका अनुभव नहीं होता।

दैहिक सभी कार्य्योंमें समय बंधा रहना चाहिये। भोजनके लिये भी वैसा ही नियम है। व्रतचारियोंकी बात अलग है। किन्तु साधारणतः गृहस्थोंके भोजनके लिये चार समय हैं। एक सबेरे, दूसरा दोपहर, तीसरा सन्ध्या, चौथा रात एक पहरके बाद। किन्तु नोकरीके और स्कूलके गरजसे आज कल इस समयमें बहुत कुछ हेर फेर हो गया है। सबेरे और दोपहरका भोजन एक कर शहरोंमें लोग नौ बजे भोजन करने लगे हैं। अधिक रात बिता भोजन करना अच्छा नहीं। कारण, भोजन करनेके बाद ढ़ाई या तीन घण्टा जागते रहना चाहिये; अधिक रात्रिमें आहार करनेसे उस नियमका पालन नहीं होता। सुतरां इससे स्वास्थ्य खराब होनेकी सम्भावना है।

अङ्गरेज लोग भोजनके बाद पान नहीं खाते, बल्के पान खानेको पशुओंके रोमन्थनके साथ तुलना करते और इसीसे नये बाबू आज कल पान खानेका साहस नहीं करते। किन्तु भात, रोटी, आदि, शस्य खाने वालोंके लिये पानका खाना ही सुव्यवस्था है। अतएव, भोजनके अन्तमें अच्छी तरह कुल्ला कर दो चार पान खाना चाहिये और इसके बाद फिर अच्छी तरह कुल्ला करना चाहिये। शास्त्रमें भी यही विधि है।

भोजनके सम्बन्धमें और एक बहुत मोटा भ्रम होने लगा है। नये बाबू चाहें जो कारण हो समझते हैं,—निद्रावस्थामें भोजनका परिपाक जाग्रत अवस्थासे अच्छा होता है और इसीसे वह लोग रातको अधिक आहार करते हैं। वास्त-

वमें निद्रावस्थामें सभी स्नायुशक्ति दुर्ब्बल रहती है, उस समय कोई शारीरिक काम तेजके साथ निर्वाहित नहीं होता। आहारका परिपाक भी शीघ्र न होता। इसलिये दिनके आहारकी अपेक्षा रातका आहार अधिक करना न चाहिये। किन्तु आजकल मांस और पोलावके खानेकी व्यवस्था रातको ही की जाती है।

सुस्थ और सबल मनुष्यको शय्यासे सबेरे ही उठना चाहिये। शय्यासे उठतेही मलत्याग, दन्तधावन, स्नान आदि शरीरके निर्मलतासाधक सब कार्यों-का अभ्यास करना चाहिये। इसके बाद ही व्यायाम करना चाहिये—जैसे डंड, मुद्गर, बैठक प्रभृति। एक बारगी अधिक व्यायाम करना अच्छा नहीं। किन्तु धीरे धीरे उसे अधिक बढ़ानेसे बहुत ही उपकार होता है। हम लोगोंके देशमें व्यायाम करनेका सच्चा समय प्रातः काल है। किन्तु, अङ्गरेजी स्कूलों और कालेजोंके लड़कोंको सन्ध्या समय व्यायाम करनेकी आज्ञा दी गई है।

स्त्रियोंके लिये भी व्यायाम की आवश्यकता है। किन्तु जिन सब व्या-यामोंके कामसे शरीरकी कोमलता नष्ट हो वह सब उनके लिये मना है। नियमितरूपसे घरका काम करनेसे भी बहुत कुछ व्यायाम हो जाता है। उखली या ढेंकीसे चावल छांटा जाता है, चकरीमें दाल दली जाती है, और घरमें झाड़ू और मसाला प्रभृति पीसनेसे बहुत शारीरिक परिश्रम हो जाता है। समय विशेष और अवस्था विशेषसे स्त्रियोंके लिये व्यायाम या और कोई अतिरिक्त शारीरिक परिश्रम, सभी मना है।

४६ प्रबन्ध।

शयन और निद्रादि।

विश्रामके लिये कुछ समय न मिलनेसे शरीर नहीं ठहरता। किन्तु विश्राममें भी बहुत कुछ इतर विशेष है। जो दौड़ता है या बहुत देर चलता है, वह स्थिर हो बैठने या सोनेसे ही विश्राम लाभ करता है। जो हाथ चला लकड़ीका काम कर रहा है, या कपड़ा बुन रहा है, ऐसे ही ऐसे कामोंसे क्षणकाल के लिये हाथ रोकनेसे उसकी श्रमजनित क्लान्ति दूर होती है। अर्थात् शरीरके विशेष विशेष अङ्ग प्रत्यङ्गके सञ्चालनसे जो परिश्रम होता है, वह उन अङ्गोंके कार्यसे अपसारित करनेसे ही दूर होता है। किन्तु सब अङ्ग प्रत्यङ्गोंके और सब प्रकारके कामोंके भीतर रहनेवाले स्नायुमंडलको विना निद्राके विश्राम नहीं मिलता।

जो मनुष्य जितना अधिक काम करता, अर्थात् चलता फिरता है, और चिन्ता करता है, उसे उतनी निद्राकी आवश्यकता होती है। बच्चे अधिक चञ्चल हैं, उनके स्नायुमण्डलमें काम अधिक होता है, इसीसे वह अधिक सोता है। वृद्धका चलना फिरना कम है, मस्तिष्कका काम भी कम अथवा पहलेके अभ्यासवश थोड़ा ही जान पड़ता है, इसीसे वृद्धकी निद्रा कम है। यह बात ठीक नहीं, कि जहांतक चलना फिरना बढ़ाया जाय वहींतक नींद बढ़ेगी। जैसे अधिक व्यायाम करनेसे अधिक भूख लगती और परिपाक करनेकी शक्ति बढ़ जाती है, किन्तु इसकी भी एक सीमा है वैसे ही अधिक चलने फिरनेसे निद्रा अधिक आती है, किन्तु इसकी भी एक निर्दिष्ट सीमा है। हमने देखा है, कि अतिरिक्त व्यायामके बाद भूख लगनेकी बात तो दूर रही, आहार करनेकी रुचि भी नहीं होती और परिपाक शक्ति बढ़नेकी जगह घटती है; वैसे ही अधिक चलने फिरनेसे या चिन्ता व मस्तिष्कके चालनसे एक बारगी ही निद्रा नहीं आती, बल्के अनिद्राका रोग लगजाता है। शरीर पोषण और पालनके लिये व्यायामादि परिमित रूपसे ही होना चाहिये और वह परिमाण मनुष्य मनुष्यके लिये अलग अलग है।

जैसे सुनिद्राके लिये परिमित रूपसे परिश्रमका प्रयोजन है, वैसे ही कितने बाहरी बन्दोबस्तकी भी आवश्यकता है। पहले सोनेका घर ठण्डा हो और उसमें वायू तथा प्रकाशका अच्छा प्रवेश द्वार हो। किन्तु लेटने या सोनेके समय अधिक प्रकाश या वायुका समागम मना है। शय्यासे कुछ दूर-पर वायु आनेकी राह खुली हो और किरॉसिन तेल या गैसकी रोशनी घरमें न हो। पत्ते और फूलादि भी घरमें न रहे। घर जितना खुलासा रहे उतना ही अच्छा; उसमें चाहे कुछ हो या न हो, भोजनकी कोई सामग्री रखना न चाहिये। खानेकी सामग्री रखनेसे ही उसके गन्धसे वायु दूषित और चींटी, मक्खी और मच्छरका उपद्रव अधिक होता है।

द्वितीयतः शय्या। शय्या साफ और कोमल हो। किन्तु बहुत ही कोमल शय्या अच्छी नहीं। एक घरमें एक शय्या रहना ही अच्छा है। यदि पति पत्नीको शय्यायें एकही घरमें रखना हों, तो दोनों शय्या कोठरीके दोनों किनारे-पर होनी चाहियें। एक शय्यापर दोका सोना ठीक नहीं। लड़कोंके बिछोने बगलके एक घरमें होने चाहिये।

तृतीयतः स्त्रीसंसर्ग। यह्रदियोंके शास्त्रमें ऋतुसे विरत होनेका समय

पांच दिन रखा गया है। इस पांच दिनके बाद और सात दिन छोड़ स्नान करना और शय्यापर जाना उनके शास्त्रकी विधि है। यह समय सब लोगोंने अवधारित किया है, कि यह नियम बहुत ठीक है। यहूदि जातिके सन्तानोंकी अकालमृत्यु अन्यान्य सब जातियोंकी अपेक्षा कम होती हैं। हमलोगोंमें तीन रात बीतानेकी व्यवस्था है *। विज्ञान द्वारा अब तक जितनी दूर जाना गया है, उससे अनुमानमात्र होता है, कि सामान्यतः रजः संयमसे पहले यदि संसर्ग हो तो स्त्री पुरुष दोनों ही में कुछ बीमारियां हो सकती हैं।

गर्भग्रहण और गर्भदानका ठीक समय रातके भोजनके बाद ३ या ३॥ घण्टे बाद है। उदरमें आहार पचनेसे पहले स्त्री-संसर्ग मना है। स्त्री या पुरुष किसीके शरीरमें कुछ ग्लानि रहनेसे भी स्त्री-संसर्ग मना है। दिनमें स्त्री-संसर्ग बिलकुल ही मना है। सदासे प्रसिद्ध है, कि दिनमें संसर्ग बहुत दूषित है। †

पर्व दिनोंमें—अर्थात् पूर्णिमा, अमावस्या, एकादशी, चतुर्दशी और अष्टमीमें भी स्त्री-संसर्ग मना है। हम समझते हैं, कि इस शास्त्रीय विधिकी प्रतिपोषक कई युक्तियाँ हैं। किन्तु उन सब युक्तियोंका उल्लेख न कर यहाँ केवल हम एक बात कहेंगे। स्त्री-पुरुष अन्योन्य अभिलाष पूरणकी इच्छाकर कितने ही समय परस्पर संसर्गी होते हैं। दोनों हीके मनमें जो इस प्रकार परार्थकी समझ उत्पन्न हो प्रवृत्तिकी उत्तेजना होती है वह अनेक समय भ्रममूलक होता है। वह भ्रम सहजही दूर नहीं होता। सुतरां विधिके प्रतिपालनके उद्देश्यसे निवृत्तिका अभ्यास करना अच्छा है। शास्त्रने उस विधिकी सृष्टिकर स्त्री-पुरुषोंको बहुतही धर्म्म्य और हितजनक राह दिखाई है। असलमें रेतःक्षयसे आयुका क्षय होता है, इसे भगवान् वेदव्याससे लेकर नये दार्शनिक डारविन साहब तकने दृढ़रूपसे माना है। सुतरां महीनेमें जितनी रातें बिना संसर्गके बीतें, अच्छा है। रुग्ण, दुर्बल, क्षीणजीवी मनुष्योंमें आसक्तलिप्सा अधिक बलवती होती है, अच्छे सबल आदमीमें कामकी आतुरता कम होती है।

* स्नानकी व्यवस्था चौथे दिन है। किन्तु व्यक्ति भेदसे व्यवस्था भेदका होना आवश्यक है। रजः संयत होने पर ही स्नान करना चाहिये, उससे पहले स्नान करना मना है।

† प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। प्रश्नोपनिषत्।

अजातरजा—कुमारीगमन बड़ाही महापाप है। गर्भिणी स्त्रीके गमनमें भी बहुत दोष है। हमने सुना है,—कोई कोई कहते हैं, कि स्त्री-संसर्गसे बिलकुलही अलग रहनेसे विशेष विशेष रोग उत्पन्न होते हैं। यह बिलकुल ही झूठी बात है। यदि मनमें कामका उद्वेग हो और उसको दमन न कर उसीकी चिन्तामें अनुरक्त हो, तथा धीरे धीरे उसे बढ़ाते हो, तो दो एक स्थलोंमें बीमारी उत्पन्न होनेकी सम्भावना है। नहीं तो केवल संसर्गविरतिसे कोई पीड़ा नहीं होती; बल्कि शरीर दृढ़ होता है, शीत और गरमी सहनेकी क्षमता उत्पन्न होती है, परिश्रमकी शक्ति बढ़ती है, रोग आक्रमण नहीं करता और आयु बढ़ती है। स्त्रीत्यागी देवव्रत (भीष्म पितामह) इच्छामृत्यु हुए थे, रुग्नदेह नहीं हुए थे।

हमने कई एक सुविज्ञ मनुष्यों द्वारा बारबार आदिष्ट और अनुरुद्ध हो यह सब बातें खोलकर लिखी हैं। जिन लोगोंने हमसे ऐसा लिखानेका अनुरोध किया, उन लोगोंका कहना है, कि माता-पिता अपने पुत्र और कन्याओंको यह सब तथ्य नही सिखाते। प्रति स्त्री-पुरुषको यह सब प्राकृतिक नियम अपनी अभिज्ञताके बलसे संग्रह करना पड़ता है। इसका संग्रह करते करते जीवनका समय बीत जाता है। परवर्त्ती स्त्री-पुरुषोंको फिरसे सीखना पड़ता है। देशके प्राचीन शास्त्रोंमें इन सब विषयोंका जो विशेष उपदेश है, सो उन सब शास्त्रोंकी आलोचनायें लुप्त हो जानेसे, उसे अब कोई नहीं जानता। घरके स्वामी और स्वामिनीके भी इन सब तथ्योंकी अवश्य प्रतिपाल्य विधिके न जाननेसे युवक युवती कुछ भी सीखने नहीं पाते। इस देशमें इतने रोगोंकी वृद्धिका बहुत कुछ कारण जैसे दैन्यदशा, आचारका विपर्य्यय, उदरान्नके लिये कठोर चिन्ता और अपने भावी विषयमें बहुतही शङ्काएं हैं, वैसे ही दाम्पत्य नियम सम्बन्धी अज्ञान भी बड़ा कारण है।

हमारी पत्नीने हमसे किसी समय कहा था,—"यह सब बातें लड़कोंको सिखाई जाती तो अच्छा होता।" हमने कहा,—"धीरे धीरे हम सब बातें उन सबसे कह देंगे, न कहनेसे कितनाही दोष होता है।" * * "दोष होताही है, न जानकर भी आगमें हाथ डालनेसे हाथ जलता ही है।" * * "ठीक बात है। मैं अवश्य सिखाऊँगा, तुम देखोगी, कि हमारे लड़कोंके लड़के होनेपर वह सब हम लोगोंके सामने उसे गोदमें उठा उसका आदर करेंगे; लज्जित न होंगे।" * * * "लड़कोंको

अपने मा बापके आगे लड़कोंका आदर करते लज्जा जान पड़ती है।" * * * "मा बाप बराबर ऐसाही भाव बताते हैं जिससे लड़के समझते हैं, कि उनका लड़का होना बड़े दोषकी बात है!"

---

४७ प्रबन्ध।

दल-संगठन।

हरेक परिवार एक छोटा राज्य है। यह छोटे छोटे राज्य एक बड़े राज्यके भीतर है। इस बड़े राज्यका नाम समाज है। अतएव समाजके शासनको मान उसके अङ्गीभूत हो परिवारको चलाना पड़ता है। जिस देशमें राजा और समाज-में भिन्नभाव नहीं, बल्कि राजा और उनके प्रतिनिधि राजपुरुषगण ही समाजके नेता और रक्षिता हैं, उन सब देशोंमें भी राजशासनके अतिरिक्त एक समाज-शासन होता है। किन्तु वहाँ पर राजशासन और समाज-शासनमें व्याप्य व्याप-कका भेद मात्र दिखाई देता है। वहां राजशासन जिन जिन विषयोंको ग्रहण करता समाज-शासन उनका ग्रहण तो करता ही है, इसके अतिरिक्त अन्यान्य कामोंमें भी समाज-शासनका हाथ फैलता है। चोरीका निषेध राजशासनसे भी होता और समाज-शासनसे भी होता है। किन्तु "ऐसा वस्त्र पहनना चाहिये" इत्यादि बातें समाज-शासनमें ही सुनाई देती हैं। राजशासन इन सब विषयोंमें कुछ नहीं कहता। वस्तुतः राजशासनकी अपेक्षा समाज-शासन अधिकतर व्यापक है। किन्तु ऐसा होनेपर भी भारतमें समाज-शासनका गौरव कम नहीं। जिस देशमें राजा और समाजका भिन्न भाव है, जिस देशमें राजा और राज-पुरुषगण समाजके रक्षिता और नेता न हों उसके प्रति उदासीन या लापरवाह अथवा घृणा या विद्वेष करते हैं, वहां समाज-शासनका बल सङ्कुचित हो जाता है। समाज-शासनके कुण्ठित होनेसे क्रमशः जातीय भाव भी विलुप्त हो जाता है, मनुष्योंमें परस्पर सहानुभूति घट जाती और धर्म्मबुद्धिका मूल अशक्त हो पड़ता है।

हमारे इस पराधीन देशमें इस समय ऐसा ही हो रहा है। हमारे राजा भिन्नजातीय और भिन्न धर्म्मावलम्बी हैं; कितने ही स्थलोंमें वह हमारे सामाजिक नियमों और शासनोंके विद्वेष्टा हैं। किसी अपराधके लिये धोबी-नाऊ या हुक्का बन्द करना या उसे एक घरिया बनाना आदि सामाजिक शासनके साथ राजपुरुषगण

सहानुभूति प्रकाश कर नहीं सकते । बल्कि जिसके प्रति वैसा समाज-शासन विहित हुआ है, वह मनुष्य यदि राजद्वारमें जा नालिश करें तो राजपुरुषों की दृष्टि इसी ओर घूमती है, कि किसी प्रकारके दण्डविधिमें डाल सामाजिक शासनके अधिकारी समाजके नेताओं को दण्डित किया जा सकता है या नहीं। "आक्रमण", "भयप्रदर्शन," "मिथ्यापवाद" प्रभृति अपराधके सम्बन्धमें अङ्गरेज़ी दण्डविधि आईनकी धारायें इतनी दूर व्यापिनी है, कि किसीके भी समाज-शासनसे दण्डित होनेसे दण्डविधि आईनकी किसी न किसी धारामें समाजशासक दण्डित न होगा ऐसा नहीं हो सकता है। तब भी यदि समग्र समाजके लोग एक हो जायें, यदि असली अपराधीके प्रति सबकी ही घृणा हो, तो अपराधीके साथ समाजके लोगोंकी बातचीत भी बन्द हो जानेसे, विघ्न और विपत्तियोंका अतिक्रम कर समाज-शासन अप्रतिहत प्रभावसे काम कर सकता है । समझलो कि किसी मनुष्यने किसी गृहस्थकी युवती विधवा कन्याको कुपथगामिनी बनाया । अङ्गरेज़ी आईन तो उसका दोष न मानेगी। किन्तु हिन्दू समाजकी आंखोंमें वह अपराध बहुत बड़ा है। अपराधीको अजाती बना दण्ड दिया गया। यदि ग्राम सहित, देश सहित हिन्दूओंके मनमें इस अपराधके ऊपर सच्चा हिन्दू सन्तानोचित विद्वेष बंध जाये, तो अपराधी अपने आप या देश में कहीं दास दासी या आत्मीय स्वजन न पायेगा। तब लाचार उसे समाजके पैरों पड़ समाज द्वारा विहित हिन्दू धर्म्मानुमोदित प्रायश्चित्तादि शारीरिक और आर्थिक दण्ड ग्रहण करनेपर बाध्य होना पड़ेगा। उस दण्डके दृष्टान्तसे और लोग भी आत्मसंयम सीखेंगे। वह लोग ऐसे अपराधके करनेका साहस न करेंगे। किन्तु बात यह है, कि इस समय वैसा होता नहीं। देशमें धर्म्मभावकी कमी होनेसे अपराधी मनुष्यको एकाकी रहना नहीं पड़ता। अर्थबल रहने अथवा समाजके नेताओंमें परस्पर ईर्षा और विद्वेषभाव रहनेसे कौशल पूर्व्वक उसे विशेष रूपसे उत्तेजितकर अपराधी मनुष्य एक नया दल बाँध ले सकता है।

(१) "वह कहते हैं, कि हमें अजाती कर देंगे । क्या वह समाजके सोलह आने हैं ?। हम भी ब्राह्मण सज्जनको दस पाँच रुपये दिया करते हैं; हमें भी लोगोंका बल है। देखें उसके दलमें कितने बिरादरी और हमारे दलमें कितने बिरादरी होते हैं।" (२) "जब तुम हमारे पास आये हो, तब तुम्हें कोई चिन्ता नहीं। देखें, किसको सामर्थ्य है, कि तुम्हें जाति बाहर करे।

अपने लिये ऐसा और दूसरेके लिये ऐसा नियम ! वाह वा ! कैसे भले आदमी हैं ! एक बार वह अपने दोषोंको तो याद कर देखें ! अपने भाञ्जेका चरित्र याद कर देखें ! " (३) "तुम्हें उसने अजाती बनानेको धमकाया है ? कल जिसका बाप एक अँगोछा ओढ़ बाजारमें ढाई रुपये महीनेका रोजगार करता था, आज ठेकेदारीके चुराये पैसेसे कुछ जमाकर क्या मनमाना काम करेगा ? शर्म्मा जीते रहते, तो ऐसा होने न पाता । अब भी यथेच्छाचार का जमाना नहीं है ।" ऐसी बातोंका प्रयोग और उसके अनुसार काम कितनेही स्थलोंमें दिखाई देता है ।

समाजमें धन लोभ और ईर्षा-विद्वेषके बढ़नेसे धर्म्मके प्रति लोगोंकी घृणा कम होनेसे समाजशासन क्रमशः दुर्ब्बल हो पड़ा है और कई दल बँध गया है । अपराधीका पक्ष लेते किसीको लज्जा या सङ्कोच नहीं होता । समाजमें जो प्रधान है, वह परकालका उतना भय नहीं करते, दूरदर्शिताके अभावसे वह लोग समाजमें नैतिक शासनके लिये भी उतने एकाग्र नहीं होते । सुतरां समाजका एक अंश दुष्टके दमनकी चेष्टा करता है तो दूसरा अंश आग्रहके साथ अपराधीको साहाय्य देनेमें प्रवृत्त होता है । प्रकृत प्रस्तावमें दल बँध जानेसे दुष्टका पालन ही मानों परम धर्म्म जान पड़ता है । दलके बाँधनेसे यहाँतक धर्म्मका लोप होजाता है, कि जातिभाइयोंमें अशौच ग्रहण और एकत्र घाट स्नान प्रभृति सनातन धर्म्मानुयायी देशव्यापी प्रथाओंमें भी व्यतिक्रम हो नैतिक अवनतिकी बहुत शोचनीय अवस्थाको सूचित करता है । फिर भी, उस दल बाँधनेमें किसी दुष्टके दमनका नाम भी नहीं रहता है । आजकल अधिकांश दल विषय सम्पत्तिके लिये या केवल धनगर्व्वित जातिभाइयोंमें ईर्षाके कारण मनान्तर होनेसे ग्राममें पुरुषानुक्रमिक रूपसे होता है । ऐसा दल बिलकुलही धर्म्महानिकर है । साधारण लोगोंको पवित्र रखनेके लिये सामाजिक शासन-का बहुतही प्रयोजन है और पहलेही कहा गया है, कि दल बँधनेसे सामाजिक शासनकी कार्य्यकारिता बहुत कुछ नष्ट होती है । मनुष्यकी दुष्प्रवृत्तिके दमनके लिये अङ्गरेजोंमें भी सामाजिकशासन घट रहा है सही, किन्तु अब भी बहुत प्रबल है । एक समय वह लोग धर्म्ममतवादके सम्बन्धमें भी समाजके शासनका प्रयोग करते थे । रोमन केथलिकगण और प्रोटेष्टन्टगण, दोनोंही समाजोंमें प्रतिपक्षीय मतावलम्बियोंको स्थान नहीं देते थे और बलपूर्व्वक [illegible] चेष्टा करते थे कि सबही क्याथलिक हो जायें या सब प्रोटेष्टन्ट हो जायें ।

केथोलिक और प्रोटेष्टन्टका विवाहादि और आहारादि तक समाज शासनमें नहीं था। केथोलिक धर्म्मावलम्बिनीके गर्भसे उत्पन्न सन्तान राजासन पाती न थी और आज भी उसी प्राचीन समयकी अवस्था प्रबल है। इस समय मतवादादिके सम्बन्धमें उनका सामाजिक शासन उतना प्रकट नहीं है सही, किन्तु आचार, व्यवहार, वेश और भूषणके सम्बन्धमें बहुतेरे शासन हैं। कितने ही नैतिक दोषोंको अङ्गरेज लोग सामाजिक दोष नहीं मानते सही, फिर कितने ही समय स्वजातीय पक्षपातिताके लिये समस्त नीतियोंपर लात मारना उचित समझते हैं सही, किन्तु जो उनके समाजमें दोष माना जाता है, उनके लिये सामाजिक शासन दृढ़ रूपसे चलाया जाता है। सर चार्लस डिलकी, पार्नेल प्रभृति विशिष्टरूप उच्चपदस्थोंके चरित्र सम्बन्धीय अपराध अङ्गरेज समाजमें मार्ज्जनीय समझा न गया। समाजके शासनसे इन दोनों हीने बहुत उपयुक्तरूपसे कष्ट पाया। न्यायान्यायके निर्विशेषसे सब अवस्थाओंमें अङ्गरेजोंका पक्ष समर्थन न करनेसे, वह लोग अपनेमें सामाजिक दण्डका प्रयोग करते और उस दण्डका प्रयोग होनेसे उनकी समाजमें किस प्रकार काम चलता है, वह लार्ड रिपनके अलवर्ट बिल, जष्टिस ह्वाइटकृत अङ्गरेज हत्यांकारीका-प्राणदण्ड और लार्ड लिटनके फुलर मिनिटके सम्बन्धमें देशीय अङ्गरेजोंका व्यवहार और दण्डके भयसे क्या होता है, वह डिफेन्स एसोसियेशन, तथा नानास्थानके युरोपीय अपराधीके सम्बन्धमें युरोपीय जूरियोंके विचार और अङ्गरेज सदस्य निर्वाचन समितिके समस्त व्यवहारोंको याद करनेसे स्पष्ट समझमें आता है। वह लोग भी जातिबाहर करते हैं, सामाजिक दण्डसे दण्डित मनुष्योंका अभिनन्दनादि नहीं करते। उन्हें क्लबमें आने नहीं देते। इस देशके अङ्गरेज राजपुरुषगण बहुत कुछ प्रकाश्य भावसे अपने सामाजिक दण्डके प्रयोगमें साहाय्य पहुंचाया करते हैं। सुतरां उनके समाजकी बिलकुल ही अप्रतिहत क्षमता है। तब भी दुष्टाचारके विरुद्ध उस क्षमताका प्रयोग कम होता है, दलसे अलग होना ही उनमें सर्व्वप्रधान अपराध गिना जाता है।

एक बात यह भी है, कि शहर अञ्चलमें परस्पर कामके सम्बन्धमें जैसा एकबारगी औदासिन्य उत्पन्न हो रहा है, वह किसी अंशमें हितकर नहीं। इसकी अपेक्षा ग्रामोंका दल अच्छा। वह समाजकी भग्नावस्थाका द्योतक है। शहरके काम समाजके एकबारगी ही लोप हो जानेकी सूचना देते हैं। तब

भी दलमें कुछ शासन रहता है; बहुत कुछ लोग आंखोंकी लज्जासे भी मानते हैं। प्रकाश्य आन्दोलनके उपेक्षा करनेकी निर्लज्जता सबमें नहीं होती और सब अपराधियोंके लिये ही अर्थ खर्च करके दल बंध नहीं जाता। इसलिये दलके सम्बन्धमें अब भी ग्रामोंमें बहुत कुछ अपराधियोंका शासन होता है।

. इस समय यही अवस्था एकान्त प्रार्थनीय है, कि सोलहआने समाजको मिला एक मात्र दल हो और दुष्टाचारके शासनमें समस्त सामाजिक बल प्रयुक्त हो। दलके प्राबल्यसे क्षमतापन्न अपराधियोंको सुविधा और निरीह भले आदमियोंको कष्ट हो यह बहुत ही बुरी बात है। समाजमें जो नेता हैं, उनको याद रखना चाहिये कि सामान्य ईर्षा दोषसे दलके पालन द्वारा वह लोग अपने अपने परिवारमें भविष्यतके लिये अशान्तिका अव्यर्थ बीज बोते हैं। दलप्रधान ग्राममें पारिवारिक शासन और भ्रातृवात्सल्यादि गुण घट जाता है। "घरमें आग लगा देंगे, बाहरी शत्रु और दूसरी जातिके हाथ घर बेचेंगे।" इन सब दुष्प्रवृत्तिका मूल दल बंधना ही है। इतिहास साक्षी देता है, कि यही भारतवर्षके सर्वनाशका एकमात्र कारण है। अभिमान छोड़ विनीत हो, यहांतक, कि साधारण लोग पहले उसे हीनता कहेंगे—उसे भी स्वीकार कर दल तोड़ देना चाहिये। जो ऐसा कर सकते वही बड़े हैं। अन्तमें लोग उन्हें बड़ा ही समझेंगे। हम जानते हैं, कि किसी ग्राममें दो दल थे। एक दलके प्रधानने हरेक आदमीके घर जा कहा, कि "बड़ोंके समयसे हम लोगोंमें दो दल चला आ रहा है। आप लोग दूसरे ग्रामके दलमें हैं। किन्तु यह नहीं मालूम कि उस समय क्यों दो दल बना। अब हम लोग एक ग्राममें दो दल बनाके क्यों रहें।" इसके बाद उस ग्राममें एक दल बन गया।

और एक मनुष्य ग्राममें किसी दलमें साथ देते न थे। उनके साथ जिनका खानापीना था, उनमें झगड़ा पड़नेपर भी वह सब लोगोंसे पहले जैसा बर्त्ताव रखते थे। वह सब दलमें जाते। सब दलके लोग उनके घर आते। वह दलके झगड़ेसे बाहरही रहे। दलके झगड़ेमें न पड़नेसे अवस्थापन्न मनुष्य दलके झगड़ेमें सहजही फँस नहीं सकते। जिनकी बात हम कहते हैं, उन्होंने कभी म्यूनिसिपलिटीके इलेक्शनमें रायदेहन्दाका काम नहीं किया। वह कहते थे,—"हम लोगोंके अपने ही दलके झगड़ेसे सर्व्वनाश हो गया है, फिर विलायती दलकी आमदनीका प्रयोजन ही क्या है ?"

अन्यवर्णके दलको अपने लोगोंमें भी कितने ही लोग समझते हैं। विलायतसे लौटे हुए मनुष्योंके विषयमें इस समय एक दल बँध गया है। देखते हैं, कि विलायतसे लौटे हुए वैद्य कायस्थ और तेली तकको लेकर सब वर्णोंमें दल बँध गया है। यह कहा नहीं जा सकता, कि यह कितनी बड़ी मूर्खता है। कोई वैद्य या कायस्थ प्रायश्चित्तकर जातिमें उठे तो इससे ब्राह्मण में झगड़ा क्यों हो? यदि वैद्य और कायस्थ समाजके कुछ लोग उन्हें जातिमें लें और उनके उपयुक्त प्रायश्चित करायें, तब फिर वह पतित हो क्यों रहें? उपयुक्त प्रायश्चित्त करनेसे और पूरी तरह दीनता स्वीकार करनेसे समाजका कर्त्तव्य है, कि अपराध क्षमा करे। "क्षमा नहीं होगी" ऐसे अहिन्दूपनका पोषण ठीक नहीं।

इस प्रकार समझके चलनेसे समाजके नेता और सम्पन्न मनुष्यगण दल बाँधना तोड़ दलकी तीव्रताको घटा सकते हैं। किन्तु समय समयपर ऐसा हो जाता है, कि एक न एक दलमें न पड़नेसे लोगोंके बचनेका उपाय नहीं रहता। किसी दलमें जानेका विचार न रहनेपर भी आत्मीय कुटुम्बके दलके झगड़ेसे अपने ऊपर बिपत् आ पड़ती है। आजकल लोगोंकी नीचता भी इतनी बढ़ गई है, कि यजमान अन्याय कार्य्योंमें पुरोहितोंसे राय लेनेकी प्रार्थनाकी हिम्मत करते और ऐसाही न्यायान्याय अनेक स्थलोंमें दिखाई भी देता है। पुरोहितोंमें धर्म्म और शास्त्रचर्चाकी त्रुटि और सामान्य धन लोभ ही इस प्रकार शोचनीय अवस्थाका मूल है। कितने ही लोग अधीन, प्रजा और प्रतिपालित मनुष्योंको बलपूर्व्वक दलमें मिला लेते हैं। यहाँ-तक कि दल बाँधे हुए पण्डा लोग एक स्थानमें पुरुषानुक्रमिक किसी देव मन्दिरके पुजारीको केवल दलके लिये हतसत्व बनानेमें भीत नहीं होते। इन सब अधर्म्म और अत्याचारोंके लिये प्रत्येक परिवारको क्या करना चाहिये? धीरभावसे उत्पीड़न सहनेके अतिरिक्त और कोई उपाय दिखाई नहीं देता। सब अवस्थाओंमेंही न्यायपर दृढ़ रहनेके अतिरिक्त दूसरा कोई उपदेश मानना न चाहिये। इससे कुछ ऐहिक कष्ट होनेसे भी परकालमें उपकार होगा और परिवारमें विशुद्ध आत्मप्रसाद लाभ द्वारा इह लोकमें भी पुत्रोंके चरित्रके उत्कर्षके सम्बन्धमें महत् उपकार होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

४८ प्रबन्ध ।

पञ्चाशोर्द्ध वनं व्रजेत् ।

पचास वर्षकी उम्र होनेपर लोगोंको गृहाश्रम छोड़ वनमें जाना उचित है। इस शास्त्रीय उपदेशका तात्पर्य्य कुछ विचार कर समझना चाहिये। पहले यह बात है, कि पचास वर्षका शब्द यहाँ गौण अर्थसे माना जायगा। उससे शरीरकी एक अवस्था विशेष प्रकट होती है। उम्रके गिनानेके लिये नहीं है। जिस अवस्थामें शरीरकी वृद्धि और वृद्धिके बाद जो साम्यावस्था होती है, उसकी भी समाप्ति होती और फिर जरा या वार्द्धक्यकी स्थिरतर प्रवृत्ति होती है, पचास वर्ष शब्दका प्रकृत तात्पर्य वही अवस्था है। बराबर पचास वर्ष बीत जानेपर इस देशमें शरीरकी वह अवस्था आ पहुँचती है। शास्त्रीय वचनका अर्थ इस प्रकार न समझनेसे कितनेही स्थलोंमें भूल होती है। सबका शरीर समान नहीं। किसीके शरीरमें ६०।६५ वर्षकी उम्रमें भी अच्छी ताकत रहती है। कोई ४०।४५ वर्षमेंही बुढ़ापेमें आ जाते हैं। परिवार, स्वजन या समाजका कोई उपकार करनेकी क्षमता नहीं रहती। असलमें वह समाज और स्वजनगणके लिये एक भार हो जाते हैं। उपकार करनेकी क्षमता दूर होनेसेही समाज छोड़ देना चाहिये। दूसरी बात यह कि वनमें जाना चाहिये। इस बातका भी मुख्य अर्थ माना जा नहीं सकता। शास्त्रका अभिप्राय ऐसा नहीं, कि सब बूढ़े मनुष्य वनमें जायें। इस समय देशमें जितने वन हैं, उनमें देशके सब बूढ़े मनुष्य रह नहीं सकते। सबके वन पहुँचनेपर, वन भी आबाद हो जायगा। फिर वह वन रहे हीगा नहीं। तब शास्त्रका अर्थ यह समझा जाता है, कि अपना शरीर परोपकार साधनमें असमर्थ होने से ही संसार त्याग स्थानान्तर चले जाना चाहिये।

ऐसा करनेसे समाजको अक्षम अकर्म्मण्य लोगोंका भार वहन करनेसे छुटकारा मिलता है। फिर भिक्षा प्रदानके कई प्रकृत पात्रोंकी सृष्टि होनेसे, जिसे तिसे भिक्षा देनेका जो दोष है, वह भी समाजमें संगठित हो नहीं सकता। परिवारके लिये यह विशेष उपकार होता है, कि गुरुलोगोंकी बात न माने काम करनेसे परिवारके लोगोंकी जो धर्म्महानि होती है, वह भी न होती। घरके स्वामी वृद्ध अक्षम व स्थविर होते ही यदि घरके बाहर चले जायँ, तो प्रौढ़गण स्वयं ही समझ बूझकर घरका काम चला सकते हैं। तुम बूढ़े

हुए हो, इस समय कैसा समय है, उसे तुम समझ नहीं सकते हो। तुम अपने पहलेके संस्कारके अनुसार किसी कामको करना या न करना चाहते हो। किन्तु तुम्हारे लड़के अच्छी तरह देखते हैं, कि तुम उस विषयमें भूल कर रहे हो! तुम जिस कामके लिये आज्ञा देते या मना करते हो, उसमें बहुत धनक्षति या मानहानि अथवा काम बिगड़नेकी सम्भावना है। वह लोग क्या करें? तुम बाप मा या और कोई बड़े बूढ़े हो। तुम्हारी बात न माननेसे तुम्हें बहुत ही बुरा जान पड़ेगा। तुम्हारी बात माननेसे उनका नुकसान होता है। तुम्हारी वञ्चना करनेके अतिरिक्त उनके लिये दूसरा उपाय नहीं। किन्तु ऐसा करनेसे क्या वह कपटाचारी न होंगे? और इससे उनका स्वभाव दुष्ट और तुम्हारे प्रति उनके चित्तकी श्रद्धा दूर न होगी? अतएव जिसकी धर्म्मोन्नतिके लिये तुमने चिरजीवन इतना यत्न किया है, इस समय उनके बीच रह उनकी माया न छोड़ सकनेके कारण उनके धर्म्ममें व्याघात न पहुँचाओ। उनके जीवनपथमें कांटा न बनो। तुम जिनकी चिरभक्तिके पात्र थे, उनकी वञ्चनाकी सामग्री न बनो। उनकी गाली न सुनो। उन्हें छोड़ चले जाओ। यदि अपनी जीविकाका कोई उपाय हो, तो कोई बात ही नहीं; तुम स्वतन्त्र हो रह सकते हो; शास्त्रालोचना, धर्म्मचर्चा, शिष्टालापादिमें बाकी जीवन बिता सकते हो। यदि अपने पास कुछ न हो, और पुत्रादिपर ही सब कुछ निर्भर करना पड़े, तो उनपर जितना कम व्यय भार दे सको, उतना ही अच्छा है। किन्तु तब भी स्वतन्त्र हो रहनेकी चेष्टा करो। अपने अवश्य करणीय काम अपने हाथ करनेसे शरीर बहुत मजबूत रहता है। अतएव अपने हाथ बनाके खाओ। अपने व्यवहारका जलादि स्वयं संग्रह करो। अपने बासन आप ही मांजो। इससे तुम अच्छे रहोगे, खर्च भी कम लगेगा, लड़कोंपर भार भी कम पड़ेगा। यदि पुत्रादिसे सहज ही साहाय्य पानेकी संभावना न हो, तो बल्के भिक्षा मांगकर खाओ, तब भी उनके गलेके ग्रह न बनो। कारण, बड़ोंके गल ग्रह बननेसे पुत्रादिकी धर्म्महानि होनेकी सम्भावना है।

हमारी इन सब बातोंसे लोग समझेंगे, कि हम वृद्धोंको निर्मम बनने अर्थात् परिजनके प्रति प्रीतिममता परिशून्य होनेको नहीं कह रहे हैं। हम प्रीति और ममता बढ़ानेके लियेही कह रहे हैं, और परिजनगणकी धर्म्मरक्षाके अनुकूल जो व्यवहार है, उसीका उपदेश दे रहे हैं। तुम वृद्ध और अक्षम हो गये हो, अपने घरसे अलग हो रहो। तुम अपने परिजनगणको अपनी

आज्ञाका लङ्घन और अपनी नाराजीके भयसे अपनी वञ्चना करनेपर वाध्य न करो। एकान्त मनसे तुम्हारी सेवा शुश्रूषा करनेसे भी उन लोगोंकी धर्म्मवृद्धि होती है सही, किन्तु वह तुम्हारे स्वतन्त्रभावसे रहनेपर जैसे अविमिश्रित भावसे होगी, उनके बीच पड़े रहनेसे वैसे अविमिश्रित भावसे न होगी। तुम्हारे उन लोगोंसे दूर रहनेपर वह लोग सुविधा पातेही तुम्हारे पास आयेंगे, तुम्हारी सेवा कर सुखी और धर्म्मके भागी बनेंगे। जब वह लोग घरके झगड़ेसे तङ्ग हैं, राजद्वारमें नालिश कर वकील मुखतारको समझानेमें उद्विग्न हैं, सन्तान-सन्ततिकी पीड़ा दूर करनेके लिये व्याकुल हैं, उस समय तुम्हारी सेवा भी उनके लिये कष्टदायक होगी। उस क्लेश और उस पापके भारसे तुम्हें परिजनगणको अवश्य विमुक्त रखना चाहिये। फ्रान्सियोंकी आईनके अनुसार तिरसठ वर्षके बूढ़े मनुष्य उपार्जनक्षम लड़के से एक आने से तीन आने पर्य्यंत और पौत्रसे उसका आधा खुराकी लेनेका दावा रख सकते हैं, किन्तु हम वह बात अथवा इस देशमें प्रचलित अङ्गरेजी आईनकी बात नहीं कहते। उस आईनके अनुसार प्रसविनी माताका भी खाने-कपड़ेके लिये योग्य लड़केपर नालिश चल नहीं सकती। हमारे समाजने इस विषयमें जैसी अभिमति धारणकी है, उसीको कुछ स्पष्ट समझाना इस प्रबन्धका उद्देश्य है। कारण इस समय अनेकानेक परिवारमें योग्य सन्तानोंके पिता अर्थोपार्ज्जनसे आसक्त दिखाई देते हैं और पुत्रोंपर वह जो भार देते हैं, उस भारके वहनसे पुत्रगण अनेक स्थलोंमें घबड़ा अपने प्रकृत धर्म्मपथको देख नहीं सकते।

क्यों?—हमने उनके लिये इतना किया, वह हमारे लिये कुछ भी न करेंगे? करेंगे क्यों नहीं। किन्तु उनका दूसरोंके लिये क्लेश पाना सुन तुम्हें क्लेश होता, है या नहीं? वह तो होता नहीं; बल्के जिसके लिये वह क्लेश पाते हैं, उसपर तुम्हारा क्रोध होता। तब अपने ही ऊपर कुछ क्रोध क्यों नहीं होता? यह बात नहीं—तुमने जब पुत्रादिके लिये इतना किया है, तो क्या उनसे प्रत्युपकार पानेकी आशासे किया है? यदि ऐसा ही किया है, तो लोग जो कहते और शास्त्र भी कहता है, कि माता पिताका ऋण परिशोध नहीं होता, वह मिथ्या बात है। असलमें ऐसा नहीं। माता पिता पुत्रादिके लिये जो करते हैं, वह ऋण है ही नहीं और ऋण न होनेके कारण उसका परिशोध भी नहीं है।